'प्राचीन भारत में सामाजिक परिवर्तन'

(लगभग 600 ई० से 1200 ई० तक)

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी की पी-एच०डी०
उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध
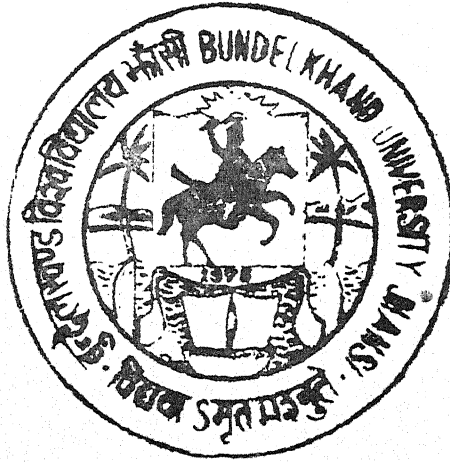
शोध – पर्यवेक्षक-
प्रो० बी०एन० रॉय
से. नि. अध्यक्ष, इतिहास विभाग

प्रस्तुतकर्त्री-
शैलजा शुक्ला
शोध छात्रा, इतिहास विभाग

पं० जवाहरलाल नेहरू महाविद्यालय, बाँदा (उ०प्र०)

प्रो0 बी0 एन0 रॉय
से0नि0 अध्यक्ष, इतिहास विभाग
पं0 जवाहरलाल नेहरू महाविद्यालय
बाँदा (उ0प्र0)

दिनांक – जून 18, 2000
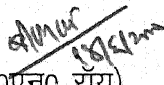
प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि –

1– शैलजा शुक्ला ने मेरे निर्देशन में **''प्राचीन भारत में सामाजिक परिवर्तन (लगभग 600 ई0 से 1200 ई0 तक)''** विषय पर शोध कार्य किया है।

2– इन्होने मेरे यहाँ निर्धारित अवधि तक उपस्थिति दी है।

3– इनका शोध कार्य मौलिक है।

यह शोध प्रबन्ध अब इस स्थिति में है कि इसे पी–एच0डी0 उपाधि हेतु मूल्याँकन के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है।

(बी0एन0 रॉय)
निर्देशक

आमुख

परिवर्तन प्रकृति का नियम है और किसी भी समाज की परिकल्पना प्रकृति से परे नहीं की जा सकती। प्रकृति की ही भांति सामाजिक क्षेत्र में परिवर्तनों का सिलसिला भी दिखायी पड़ता है। विश्व की कोई भी सभ्यता परिवर्तन की गति से अछूती नहीं रही इसलिये भारतीय सभ्यता ही उसका अपवाद कैसे हो सकती है। प्राचीन भारतीय सामाजिक संरचना के विशिष्ट संदर्भ में यहां यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि भारत का सामाजिक ढांचा अपनी उत्पत्ति के बाद से अधीतकाल तक अनेक उतार-चढ़ाव देख चुका है। इसके लिये चाहे जो भी परिस्थितियां जिम्मेदार रही हों, लेकिन उनके कारण सामाजिक ढांचा परिवर्तन के लिये विवश अवश्य हुआ। ऐसे परिवर्तनों के पीछे प्राचीन भारतीय राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का हाथ बताया जाता है।

प्रस्तुत संदर्भ में जिस काल विशेष को अध्ययन के लिये चुना गया है वह कई विशिष्टताओं से युक्त है। सामान्यतः इतिहासकारों ने 600 ई0 से लेकर 1200 ई0 के काल को 'पूर्वमध्यकाल' की संज्ञा से अभिहित किया है। इस काल में यदि एक ओर राजनीतिक क्षितिज पर विकेन्द्रीकरण की स्थिति दिखायी पड़ती है, तो दूसरी ओर परम्परागत वर्ण व्यवस्था को, जाति व्यवस्था द्वारा पदच्युत करने जैसी व्यावहारिक परिस्थितियां भी देखने को मिलती हैं। समाजार्थिक धरातल पर एक ओर जहां सामन्तवादी

शक्तियों ने अपना घेरा मजबूत बना रखा था, वहीं दूसरी ओर धार्मिक क्षेत्र में शाक्त एवं तांत्रिक परम्पराओं के समावेश ने भारतीय समाज को परिवर्तन की धारा में बहने के लिये विवश कर दिया। इन समस्त तूफानों को भारतीय सामाजिक प्राणी को ही झेलना था। इसलिये सामांजिक परिवर्तन एक अवश्यम्भावी घटना बन गयी। शायद यही कारण है कि तत्कालीन समाज में एक ओर निजी भूस्वामित्व की बढ़ती हुई प्रवृत्ति, स्थानीयता एवं विकेन्द्रीकरण की भावना तथा जातिगत बंधनों का संकुचन आदि अनेक प्रवृत्तियों का चरमोत्कर्ष दिखायी पड़ता है, तो दूसरी ओर शूद्रों एवं दासों के शोषणपरक आयाम के साथ ही उनकी पूर्वकालीन स्थिति से एक भिन्न स्थिति दिखायी पड़ती है। यही स्थिति अधीतकालीन समाज में स्त्रियों की भी थी। एक प्रकार से समाज का प्रत्येक अंग झंकृत सा हो गया था। इन सामाजिक परिवर्तनों के लिये जिम्मेदार कारक तत्वों का अध्ययन उनकी समग्रता में होना चाहिये। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अनेक उद्देश्यों में से यह एक है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से इतिहास की समस्या तथ्यों के आधार पर उसके वर्णन मात्र से ही हल नहीं हो जाती वरन सामाजिक परिवर्तनों के कारणों का विश्लेषण भी इस प्रक्रिया के ऐतिहासिक अध्ययन का एक अंग माना जाता है। कारण-मीमांसा को अत्यधिक महत्व देते हुये कभी-कभी इतिहासकार ऐसे निर्धारक कारणों की खोज करने लगता है जो सामाजिक परिवर्तन का पूरी तरह से अभिनिश्चियन करते हैं और ऐतिहासिक यथार्थ में बँधी हुई अनिवार्यता के रूप में उसे प्रस्तुत करते हैं। पूर्वमध्यकालीन राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियां इस काल के सामाजिक परिवर्तन का अनिवार्य कारण भले ही न रही हो लेकिन इतना अवश्य है कि अधीतकालीन सामाजिक परिवर्तनों की दीर्घकालीन यात्रा में इनका महत्वपूर्ण योगदान था। अतएव प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है। सामाजिक परिवर्तनों के लिये सामाजिक परिथितियाँ का उत्तरदायित्व तो निर्विवाद है लेकिन राजनैतिक, धार्मिक तथा आर्थिक परिस्थितियां किस रूप में अपनी भूमिका अदा करती है और सामाजिक परिवर्तन की दिशा को प्रभावित करती है, इस तथ्य को भी उजागर किया गया है।

वैसे तो भारतीय समाज में ऐतिहासिक अध्ययनों एवं विश्लेषणों से सम्बन्धित ग्रन्थों की भरमार है लेकिन किसी विषयवस्तु को उसके अतिसीमित दायरे में रखकर उसकी सूक्ष्मतम विवेचना करने वाले ग्रन्थों की आज भी कमी इतिहास के सुधी-जिज्ञासुओं को खटकती है। प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर एस0 ए0 डांगे, डी0 डी0 कोसम्बी, डी0 आर0 चानना, आर0 एस0 शर्मा, रोमिला थापर, डी0 एन0 झा, बी0 डी0 चट्टोपाध्याय, बी0 एन0 एस0 यादव, विवेकानन्द झा, डी0 सी0 सरकार, हरवंश मुखिया, जयशंकर मिश्र, लल्लन जी गोपाल, ओमप्रकाश, बी0 एन0 शर्मा एवं एस0 सी0 भट्टाचार्य जैसे अनेक इतिहासकारों ने कार्य किया है लेकिन इनमें से आर0 एस0 शर्मा को छोड़कर किसी भी इतिहासकार ने भारत के सामाजिक परिवर्तन पर अलग से कोई कार्य करने की आवश्यकता नहीं महसूस की। शायद ऐसा उनकी विषय के प्रति अपनी सीमाओं एवं प्रतिबद्धताओं के कारण रहा हो। आर0 एस0 शर्मा ने पहली बार देवराज चानना मेमोरियल लेक्चर सीरीज के एक व्याख्यान में 'पूर्वमध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन' नामक शीर्षक से एक व्याख्यान दिल्ली में दिया जो वर्तमान समय में लगभग 20 पृष्ठों की एक बुकलेट के रूप में प्रकाशित अवस्था में हमारे समक्ष विद्यमान भी है लेकिन इस व्याख्यान में शर्मा जी ने मात्र आर्थिक पक्ष के कुछ मूलभूत बिन्दुओं की ओर ही हमारा ध्यान केन्द्रित किया है जो पूर्वमध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन की समग्रता को अपने अन्तर्गत समेटने में पूर्णतया अक्षम प्रतीत होती है। आर0 एस0 शर्मा के इस प्रयास के बाद अनेक छिटपुट लेख प्रकाशित हुये (जिनकी विस्तृत जानकारी साथ में संलग्न संदर्भ ग्रन्थ सूची से की जा सकती है) लेकिन उनसे पूर्वमध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन की स्पष्ट तस्वीर उभरकर सामने नहीं आ पायी। प्रस्तावित शोध योजना ने इस दिशा में विद्यमान रिक्त स्थानों की पूर्ति करने का यथासम्भव प्रयास किया है। अध्ययन की सुगमता के लिये इस सम्पूर्ण अध्ययन योजना को निम्नलिखित छः अध्यायों में विभक्त किया गया है-

1. भूमिका
2. सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में वर्ण एवं जाति की भूमिका

3. शूद्रों एवं दासों का सामाजिक परिवर्तन में योगदान

4. स्त्रियाँ और सामाजिक परिवर्तन

5. सामन्तवादी प्रक्रिया का विकासात्मक स्वरूप और सामाजिक परिवर्तन

6. धर्म एवं सामाजिक परिवर्तन

प्रथम अध्याय के अन्तर्गत छठीं शताब्दी ई0 के पूर्व की भारत की सामाजिक दशा का संक्षेप में अध्ययन किया गया है और यह तथ्य ढूंढने का प्रयास किया गया है कि राजनीतिक, समाजार्थिक तथा धार्मिक परिवर्तन किस सीमा तक सामाजिक परिवर्तन की दिशा को निर्धारित करते हैं क्योंकि अधीतकाल के पूर्व का भारतीय मानचित्र राजनीतिक, अर्थव्यवस्था, समाज एवं धर्म प्रायः सभी क्षेत्रों में अनेक उतार चढ़ावों को प्रदर्शित करता है।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत यह देखने का प्रयास किया गया है कि अधीतकाल तक आते-आते वे कौन सी परिस्थितियां उत्पन्न हो गयी जिनसे कि वर्ण व्यवस्था को नेपथ्य में जाने के लिये विवश होना पड़ा और सामाजिक रंगमंच पर जाति व्यवस्था का खेल प्रारम्भ हो गया। यही नहीं, राजनीतिक विश्रृंखलन एवं धार्मिक परिवर्तनों ने जातिबंधनों की दृढ़ता में अपनी भूमिका किस सीमा तक निभाई ? प्रस्तुत अध्याय में इसे भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। दण्ड एवं कानून, पाप और पुण्य तथा प्रायश्चित विधानों ने जातियों में संकीर्णता की भावना को और बलवती कैसे किया ? सामाजिक परिवर्तन के विशिष्ट संदर्भ में इस पहलू पर भी विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय समाज के अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्ग से सम्बन्धित है जिसके अन्तर्गत शूद्रों एवं दासों की पूर्वमध्यकालीन भारतीय सामाजिक स्थिति का अध्ययन किया गया है। अधीतकाल में ये वर्ग किस सीमा तक शोषण के शिकार रहे और किस सीमा तक इन्हें वैधानिक, सामाजिक एवं धार्मिक अधिकारों से युक्त किया गया ? इसी अध्याय के अन्तर्गत इस मुद्दे पर विचार किया गया है। क्या शूद्र और दास पूर्वमध्यकालीन भारतीय सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में कोई सकारात्मक भूमिका अदा

कर रहे थे अथवा राज्य एवं समाज की संरचना के आवश्यक तत्व के रूप में विद्यमान थे ? इस प्रश्न का समुचित समाधान प्रस्तुत करना भी इस अध्याय का अभीष्ट है।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में स्त्रियों की भूमिका को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है जिसके अन्तर्गत उनके सामाजिक एवं धार्मिक अधिकारों की चर्चा करते हुये राजनीतिक क्षेत्र में उनकी सहभागिता से होने वाली परिवर्तनकारी घटनाओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकारों का तत्कालीन सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से क्या रिश्ता स्थापित किया जा सकता है ? इस सम्भावना पर भी प्रकाश डाला गया है।

पंचम अध्याय एक अत्यन्त विवादास्पद किन्तु उतने ही महत्वपूर्ण पक्ष से सम्बन्धित है। भारत में सामन्तवाद के अभ्युदय, विकास एवं पतन को लेकर इतिहासकारों में तरह-तरह के विवाद मौजूद है। इतिहासकारों का जो वर्ग भारत में, यूरोपीय सामन्तवाद की तर्ज पर, सामन्तवादी प्रवृत्तियों के विकासोन्मुखी स्वरूप की वकालत करता है, उसकी दृष्टि में पूर्वमध्यकालीन सामाजिक परिवर्तनों के पीछे सामन्तवादी प्रवृत्तियों का हाथ होना बताया जाता है जबकि इसके विपरीत इतिहास सृजनकर्ता ऐसी किसी भी परिस्थिति से पूर्णतया इन्कार करते हैं। प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत इस द्वैध का सम्यक् परीक्षण करते हुये वास्तविक भारतीय सामाजिक पृष्ठभूमि को उभारने का प्रयास किया गया है।

छठा अध्याय धार्मिक गतिविधियों से होने वाले सामाजिक परिवर्तनों को समर्पित होगा जिसके अन्तर्गत यह देखने का प्रयास किया गया है कि छठी शताब्दी ई0 से लेकर बारहवीं शताब्दी ई0 के बीच जिन अनेक धार्मिक सम्प्रदायों ने जन्म लिया उनका समाज पर क्या प्रभाव पड़ा ? कहीं सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया धर्म की इस चादर से पूर्णतया ढँक तो नहीं गयी ? इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया गया है और साथ ही यह भी ढूंढने का प्रयास किया गया है कि धर्मशास्त्रीय मान्यताएं समाज के व्यावहारिक पटल पर व्यक्ति का कितनी दूरी तक साथ देती थीं ? आदर्श एवं यथार्थ में कहीं बहुत अधिक दूरी तो नहीं थी ? सामाजिक

परिवर्तन के विशिष्ट संदर्भों में इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की पी-एच0डी0 उपाधि के लिये प्रस्तुत इस शोध प्रबन्ध के विषय चयन से लेकर वर्तमान स्वरूप में प्रस्तुतीकरण तक की लम्बी अवधि में जिस आत्मीय एवं दैवी प्रेरणा का संबल मुझे प्राप्त होता रहा, ऐसे परम श्रद्धेय गुरुवर प्रो0 बी0 एन0 रॉय के कुशल निर्देशन एवं स्नेह की छाँव में यह प्रणयन पूरा हो सका है। इस शोध प्रबन्ध की मौलिक सर्जना के उत्स से इसकी पूर्णता तक का प्रत्येक क्षण इतिहास विभागाध्यक्ष एवं मेरे शोध निदेशक आदरणीय पूज्य गुरुवर प्रो0 बी0 एन0 रॉय की ममतामयी छाँव के नीचे व्यतीत हुआ है। इसकी पूर्णता का समस्त श्रेय प्रो0 रॉय साहब को जाता है। उनका पितृवत प्यार एवं स्नेह मेरे मनोबल को सदैव बढ़ाता रहा है। अतएव उनके प्रति शाब्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना सम्भव ही नहीं है। ऐसा लगता है कि पिता का बेटी के प्रति अटूट रिश्ता ही इस शोध-प्रबन्ध में सदैव मुखरित हुआं है। यह सम्पूर्ण कृति उनकी उदारता को ही समर्पित है। वैदुष्यपूर्ण निर्देशन के लिये सुप्रसिद्ध ऐसे गुरुवर ने मुझ अकिंचन को अपनी शिक्षा के योग्य समझकर मेरे ऊपर जो अनुग्रह किया है, उसके लिये उन्हें शत्-शत् नमन है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के गुरुजनों में परमश्रद्धेय श्री ओमप्रकाश यादव, श्री जे0 एन0 पाण्डेय, श्रीमती रंजना बाजपेई के प्रति मैं हृदय से आभारी हूं। समय-समय पर अपने अमूल्य सुझावों एवं विवादास्पद विषयों को सुलझाने में मेरी मदद करके मुझे शोध की एक नई दिशा प्रदान की है।

पं0 जवाहरलाल नेहरू महाविद्यालय, बांदा के जिस परास्नातक विभाग से मैंने अपना शोध कार्य पूरा किया है। वहां के प्राचार्य माननीय आई0 जे0 सिंह और जिन गुरुजनों ने मेरा सहयोग किया है, उनमें समाजशास्त्र विभाग के श्री जसवन्त प्रसाद नाग सर जिन्होंने अनेक पुस्तकों और अपने विचारों द्वारा मेरी भरपूर मदद की है, के अतिरिक्त श्री वी0 के0 त्रिपाठी, डॉ0 ज्ञान प्रकाश तिवारी, श्रीमती दिव्या

चौधरी, डॉ0 रामगोपाल गुप्त, डॉ0 डी0 आर0 सिंह पाल, डॉ0 श्रीमती निर्मल भार्गव, डॉ0 श्रीमती मनोरमा अग्रवाल, श्री बाबूलाल शर्मा, श्री संजीव खरे के नाम उल्लेखनीय हैं; जिन्होंने शोध कार्य के प्रति जागरूकता को बनाये रखने में मेरी मदद की है।

भारतीय संस्कृति विभाग के असिस्टेन्ट डॉयरेक्टर डॉ0 लवकुश प्रसाद द्विवेदी जो मेरे महाविद्यालय के भूतपूर्व प्रवक्ता भी रहे हैं, ने विद्यार्थी जीवन से इस स्थिति तक निरन्तर स्नेह एवं मेरे भविष्य के प्रति चिन्ता का जो भाव दिखाया है, उसके लिये मैं उनके प्रति हार्दिक श्रद्धा निवेदित करती हूं। प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में अनेक स्रोतों से सहयोग एवं प्रोत्साहन प्रदान करके गम्भीर से गम्भीर विषय पर अध्ययन, मनन एवं चिन्तन के जिन गवाक्षों को खोलकर कुहासे से प्रकाश की ओर मुझे निरन्तर अग्रसर किया है, उसके लिये कृतज्ञता ज्ञापित करने का कोई भी औपचारिक तरीका इस अमूल्य धरोहर के महत्व को कम करना ही होगा।

शोधकार्य में बहुविधि सहयोग के लिये आदर्श बजरंग इण्टर कालेज के भूतपूर्व प्राचार्य श्री चन्द्रधर द्विवेदी, महिला महाविद्यालय के इतिहास विभाग प्रवक्ता श्री कमलाकान्त शुक्ल, बनारस विश्वविद्यालय के रीडर श्री जी0 पी0 तिवारी के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं।

इस महत्वपूर्ण शैक्षिक उपलब्धि की पूर्व बेला पर मैं अपने पूज्य पिता जी एवं माता जी का चरण वन्दन करती हूं जिन्होंने जिस आत्मविश्वास एवं धैर्य के साथ अध्ययन के क्षेत्र में आने वाली बाधाओं को दूर करके मुझे सुखद वातावरण उपलब्ध कराया, वैसा तो शायद ही कोई अपने बच्चों के लिये कर पाता हो आप दोनों ने निरन्तर शोध की दिशा में श्रम करने का पाठ पढ़ाकर आकाश चूम लेने का जो स्वप्न संजोया है यदि मैं उसे पूर्ण कर सकी तो समझूंगी कि मेरा श्रम सार्थक हो गया।

अन्य पारिवारिकजनों में पिता एवं माता की वास्तविक भूमिका में सदैव खड़े रहने वाले मेरे श्वसुर एवं सास ने मेरे इलाहाबाद प्रवास के दौरान मुझे पुस्तकालाध्ययन एवं शोध प्रबन्ध को अन्तिम रूप प्रदान करने के लिये जो प्रयास

किया है यह उन्हीं प्रयासों का ही प्रतिफल है कि मैं आज इस मंजिल तक पहुंच सकी।

पारिवारिक जिम्मेदारियों से मुक्त रखते हुये मेरे पति ने मेरे ऊपर जितना उपकार किया है, वह लौटाया नहीं जा सकता ऐसे अवसरों पर सहधर्मी की भूमिका का निर्वाह करने के लिये वे बधाई के पात्र हैं। अपनी वरीयताओं को मेरे समक्ष तुच्छ समझने वाले ऐसे पुरुष के प्रति शाब्दिक कृतज्ञता का कोई भी तरीका अपर्याप्त होगा। उन्होंने अपना बहुमूल्य समय निकालकर मुझे इलाहाबाद, बनारस, लखनऊ विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों आदि में ले जाकर अध्ययन एवं मनन का अवसर उपलब्ध कराकर शोध के प्रति जागरूकता को बनाये रखने में मेरी मदद की है। जिसके लिये मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं। प्रिय शिखर की किलकारियों से दूर रहकर इस श्रम-साध्य कार्य को पूर्ण करना पड़ा। इसके लिये किये गये उसके त्याग को विस्मृत कर पाना मेरे लिये असम्भव है।

अगाध स्नेह एवं आत्मीयता की प्रतिमूर्ति, बहन श्रीमती सुधा पाण्डेय, सुमन तिवारी, भाभी श्रीमती सुषमा शुक्ला, श्रद्धा, शुभ्रा ने इस शोध कार्य को पूर्ण करने में जो सुखद वातावरण उपलब्ध कराया है वह पारिवारिकता के दायरे में ही सम्भव है अन्यत्र नहीं। श्रद्धा और शुभ्रा ने मुझे अन्य जिम्मेदारियों से मुक्त रखते हुये टंकण सम्बन्धी अशुद्धियों को दूर करने में भी भरपूर मदद की हैं। इनके प्रति भी आभार व्यक्त करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझती हूं। जिन्होंने अनेक रूपों में मेरी मदद की है।

इस शोध प्रबन्ध के प्रणयन के लिये मुझे पुस्तकों की कमी कभी महसूस नहीं हुई जिसके लिये मैं अपने भाइयों ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि शुक्ल व श्री मदन पाण्डेय एवं मनु पाण्डेय की विशेष रूप से आभारी हूं।

अन्त में मैं उन सभी विद्वानों के प्रति आभार व्यक्त करना अपना पुनीत कर्तव्य समझती हूं जिन्होंने अनेक माध्यमों से इस दिशा में कार्य करने में सुगमता प्रदान की।

इस शोध प्रबन्ध के स्वच्छ एवं आकर्षक टंकण के लिये मैं श्री सम्पूर्णानन्द तिवारी, व्यावसायिक शिक्षक (आशुलिपि एवं टंकण) आदर्श बजरंग इण्टर कालेज, बांदा को कोटिशः धन्यवाद देती हूं जिन्होंने शब्द-संयोजन के इस कार्य को इण्डिया लेमिनेटर्स, स्टेशन रोड, बांदा में पूर्ण किया।

निवेदिका,
शैलजा शुक्ला
शैलजा शुक्ला

परास्नातक इतिहास विभाग

पं0 जवाहरलाल नेहरू महाविद्यालय

बांदा (उ0प्र0)

स्थान : बांदा

दिनांक : जून ~~अप्रैल~~, 2000

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

भूमिका

प्रथम अध्याय

भूमिका

पूर्वमध्यकालीन भारत में हुये सामाजिक परिवर्तनों के पीछे कतिपय राजनीतिक परिस्थितियों का योगदान दिखायी पड़ता है। गुप्त सम्राज्य के पतन के पश्चात् भारत में कोई ऐसी शक्ति नहीं रही जो भारत को पुन: एक सूत्र में बांध पाती, जिसका परिणाम यह हुआ कि देश अनेक भागों में बँट गया और उनमें स्थानीयता की भावना प्रबल होने लगी। प्रत्येक राज्य ने अपनी सर्वोच्चता स्थापित करने के लिये संघर्ष करना प्रारम्भ कर दिया जिसका प्रभाव समाज में पड़ता स्पष्ट दिखायी देता है। अत: ऐसे सामाजिक परिवर्तनों के पीछे कौन सी राजनीतिक परिस्थितियां उत्तरदायी थीं यह जानना अत्यन्त आवश्यक है। पूर्वमध्यकाल में प्राप्त होने वाली सामाजिक व्यवस्था में कई अन्तर्विरोध दिखायी पड़ते हैं। जिसका कारण शायद वे नवीनतायें थीं, जो अधीतकालीन शताब्दियों में सामाजिक व्यवस्था का अंग बन गयी और साथ ही पूर्वकालीन सामाजिक व्यवस्थाओं की कई ऐसी विशेषताएं थीं जो समाज में लुप्त भी नहीं हुई थीं। अत: यह एक ऐसी स्थिति रही होगी जिनमें दोनों संस्कृतियों के तत्व विद्यमान रहे होगें और इसी परिस्थिति को हम संक्रान्तिकाल की अवस्था कहते हैं। अभीष्ट सन्दर्भ में यह देखना भी परमावश्यक है कि संक्रान्तिकालीन अवस्था का वास्तविक चित्र कैसा था? क्योंकि इसी अवस्था ने सबसे अधिक पूर्वमध्यकाल की सामाजिक

दशा को प्रभावित किया। अतएव प्रस्तुत अध्याय में पूर्वमध्यकाल तक की इसी राजनैतिक व समाजार्थिक पृष्ठ भूमि को उभारने का प्रयास किया गया है।

450 ई0 में भारत पर हूणों के आक्रमण प्रारम्भ हो चुके थे।[1] यह हूणों का दुर्भाग्य था कि उस समय भारत पर गुप्तवंश का महान शासक स्कन्दगुप्त शासन कर रहा था जिसने अपनी शक्ति के बल पर हूणों को खदेड़ दिया[2] पर उनका पूर्णरूप से दमन करने का उसने कोई प्रयास नहीं किया जिससे आने वाली पीढ़ियों को पुनः इनके आक्रमणों का सामना करना पड़ा। 510 ई0 में हूणों ने गुप्तों पर पुनः आक्रमण किया और गुप्तों को हराकर ग्वालियर पर अपना अधिकार करके केन्द्रीय भारत के स्वामी बन गये और शायद कुछ समय के लिये ये हूण गुप्तों से कर भी वसूलने लगे[3] इस प्रकार हूणों के आक्रमणों को झेलते हुये गुप्त वंश के उत्तराधिकारी गुप्त वंश की रक्षा नहीं कर सके और कठोर केन्द्रीय शासन के अभाव के कारण प्रान्तीय शासकों ने अपनी स्वाधीनता घोषित कर दी। 554 ई0 तक आते-आते गुप्तकालीन राजकुमारों में बढ़ती आपसी वैमनस्य की भावना एवं सामन्तवादी प्रवृत्तियों के कारण केन्द्रीय शक्ति कमजोर व अयोग्य हाथों में चली गयी और हूणों द्वारा मध्य-प्रदेश से चले जाने के बावजूद गुप्तवंश पतन की गर्त में समा गया।

गुप्तवंश के पश्चात् भारत में विकेन्द्रीकरण का दौर प्रारम्भ हो गया और भारत में कोई ऐसा वंश नहीं बचा जो पुनः भारत को एक राजनीतिक एकता के सूत्र में बांध सकता। जिसके परिणामस्वरूप भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये और प्रत्येक राज्य सत्ता की दौड़ में आगे बढ़ने का प्रयास करने लगे। इस दौड़ में दो मुख्य राजवंश उभर कर सामने आये। ''मौखरि'' और ''परवर्ती गुप्त'' जिन्होंने कुछ समय के लिये उत्तर भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयास किया। इसी शताब्दी के अन्त में दो अन्य प्रभावशाली शक्तियाँ उभर कर सामने आयीं। थानेश्वर का पुष्यभूतिवंश और गौड़ देश का शशांक जिन्होंने न केवल परवर्ती गुप्त और मौखरि वंश का ही अन्त किया बल्कि उनके हाथ कन्नौज रूपी मुकुट तक पहुंच गये।[4]

गुप्त सम्राज्य के विघटन के पश्चात उत्तर भारत में जिस राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के युग का प्रारम्भ हुआ था उसका अन्त 606 ई0 में भारतीय राजनीतिक क्षितिज

में उभरी एक नई शक्ति के रूप में हर्ष ने किया[5] जिन्होंने 40 वर्षों तक गुप्त शासकों की भाँति पुनः एकता स्थापित करने का प्रयास किया यद्यपि वह हिमालय और विन्ध्यपर्वत से आगे कभी नहीं बढ़ सका पर वह कितना प्रभावशाली था, इसका पता इस बात से चलता है कि कामरूप का भास्कर वर्मा तथा बल्लभी के ध्रुवसेन जैसे शक्तिशाली शासक उसकी सभा में आते थे।[6] जालन्धर के शासक आदित्य को उसने यान-च्वांग का अंगरक्षक बनाकर सीमा पर भेजा था।[7] इसके अतिरिक्त उसने काश्मीर के शासक को बुद्ध के यादगार दांत देने के लिये विवश किया।[8] हर्ष ने अपनी योग्यता के बल पर ही उत्तर भारत के एक बड़े भाग पर अपना राज्य स्थापित किया और साथ ही गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात उत्पन्न अराजकता व अव्यवस्था का अन्त करके देश की सांस्कृतिक उन्नति का भी प्रयास किया जिसके कारण उसकी तुलना अशोक जैसे महान शासक से की जाती है।[9] परन्तु इसके साथ ये भी सत्य है कि वह हूणों की बढ़ती शक्ति और भारत में प्रवेश कर रही अन्य जंगली जातियों से अपने साम्राज्य को सम्पूर्ण रूप से सुरक्षित नहीं कर सका। इसके अतिरिक्त गुप्तवंश के समान सुदृढ़, कठोर प्रशासन भी अपने साम्राज्य को नहीं प्रदान कर सका।[10]

646 ई0 में हर्ष की मृत्यु के उपरान्त उत्तर भारत में पुनः राजनीतिक विकेन्द्रीकरण और विभाजनपरक शक्तियां सक्रिय हो गयी। 720 ई0 में हम कन्नौज में यशोवर्मन को शासन करते हुये पाते हैं जिसकी दिग्विजय का वर्णन उसके राजकवि वाकपति द्वारा बहुत बढ़ा-चढ़ाकर किया गया है।[11] कल्हण के विवरण के अनुसार[12] कश्मीर में एक ललितादित्य नामक शासक उभर कर सामने आता है जिसने यशोवर्मन के साथ मिलकर तुर्क और अरब आक्रमणकारियों का बड़ी बहादुरी के साथ सामना किया[13] परन्तु शीघ्र ही ललितादित्य के पतन के कारण कश्मीर पर कुछ अन्य राजवंशों का अधिकार हो गया।[14] उपर्युक्त राजवंशों का इतिहास जानने के साथ-साथ नेपाल, कामरूप, बंगाल, उड़ीसा, बल्लभी तथा राजस्थान पर शासन कर रहे राजवंशों की जानकारी प्राप्त करना भी अत्यन्त आवश्यक है। जिस समय भारतीय राजनीतिक क्षितिज में अन्धकार सा छा गया; यह युग था 646 से 780 ई0 तक का जब भारत में

कठोर केन्द्रीय नियंत्रण के अभाव के कारण 712 में अरब आक्रमणकारियों द्वारा सिन्ध पर आक्रमण कर विजय प्राप्त कर ली गयी थी।[15]

इन अरब आक्रमणकारियों द्वारा भारत के अनेक भीतरी स्थानों पर भी आक्रमण किये गये। जो प्रारम्भ में इतिहासकारों के ध्यान का केन्द्र नहीं बन सके। जबकि राजनीतिक दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। इन्होंने प्रतिहार जैसे महान राजवंशीय शासकों को हराया जो इस समय एक शक्तिशाली शक्ति के रूप में उभरकर सामने आ रहे थे।[16] ये आक्रमणकारी धीरे-धीरे गुजरात, मालवा, राजस्थान को अपनी बर्बादी का केन्द्र बनाते हुये मध्य-प्रदेश एवं दकन की ओर बढ़ने की चेष्टा कर ही रहे थे कि तब तक यहां के लोगों को अरबों की अधीनता से बचाने के लिये प्रतिहार वंश के महान शासक नागभट्ट प्रथम और नाग भट्ट द्वितीय विष्णु का अवतार लेकर सामने आये।[17] ग्वालियर प्रशस्ति में विवरण मिलता है म्लेच्छ शासक की विशाल सेनाओं को चूर करने वाला वह मानो नरायण स्वरूप लोगों की रक्षा के लिये उपस्थित हुआ।[18] नागभट्ट ने अरबों के आक्रमण से पश्चिमी भारत की रक्षा की तथा उनके द्वारा रौंदे अनेक प्रदेशों को पुनः अपने आधीन कर लिया। प्रतिहार वंश के योग्य शासक भोज को आदि वराह की उपाधि प्रदान की गयी।[19] जिसने भारतीयों को अरबों के आक्रमणों से मुक्त कराना अपना कर्तव्य समझा। प्रतिहारों से व्यक्ति व समाज के लिये लड़ने की यह परम्परा चौहानों तक पहुंच गयी।[20] दक्षिणी भारत में विन्ध्य देश में राष्ट्रकूटों का शासक दन्तिदुर्ग भी इन बाहरी आक्रमणकारियों से लड़ते हुये प्रसिद्धि प्राप्त कर रहा था।[21]

750 ई0 के आसपास बंगाल में एक शक्तिशाली राजवंश उभर कर सामने आया। आठवीं शताब्दी के मध्य में अशान्ति एवं अव्यवस्था से ऊब कर और मत्स्य न्याय से छुटकारा पाने के लिये बंगाल के प्रमुख नागरिकों ने गोपाल नामक सुयोग्य सेना नायक को अपना राजा बनाया।[22] जिसके बाद आने वाले दोनों शासक धर्मपाल व देवपाल प्रतिहार वंश के नागभट्ट द्वितीय और भोज प्रथम के समान ही अत्यन्त महत्वाकांक्षी थे। इस प्रकार 783 से 973 तक की भारत की राजनीतिक स्थिति आपसी संघर्ष और अपनी-अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति करने की कहानी है। जिसमें कन्नौज

प्रतिहारों, राष्ट्रकूटों एवं पालों के संघर्ष का कारण बना। राष्ट्रकूटों के हमले, जो कि दन्तिदुर्ग के शासन में प्रारम्भ हुये थे, राष्ट्रकूट वंश के आखिरी शासक कृष्ण तृतीय के समय तक बराबर चलते रहे।[23]

उपर्युक्त राजनीतिक स्थिति के आधार पर यदि हम यह कहें कि हर्ष के बाद भारत में कोई योग्य शासक नहीं हुआ तो ये उचित नहीं होगा क्योंकि हर्ष के बाद भी यशोवर्मा, ललितादित्य, महेन्द्रपाल, भोज जैसे शासक हुये। प्रतिहार वंश के भोज ने तो हर्ष के समान ही उत्तर भारत को एक अच्छा व सुदृढ़ प्रशासन प्रदान किया। महेन्द्रपाल ने हर्ष की अपेक्षा अधिक कुशलतापूर्वक हिमालय से विन्ध्यपर्वत तक व पूर्वी घाट से पश्चिम घाट तक अपना साम्राज्य स्थापित कर राजनीतिक एकता प्रदान करने का चेष्टा की।[24] इस वंश के आखिरी योग्य शासक महिपाल की मृत्यु के बाद प्रतिहार वंश का पतन हो गया। एक बार फिर देश अनेक छोटे-छोटे राजवंशों गाहड़वाल, चाहमान, परमार, चालुक्य, पाल आदि में विभाजित हो गया; जिन्होंने हमेशा राष्ट्रहित की उपेक्षा करके व्यक्तिगत हित को ही ध्यान में रखा। उन्होंने प्राचीन समय से चली आ रही सामाजिक मान्यताओं को कोई सुदृढ़ आधार प्रदान करने का कोई प्रयास नहीं किया। क्योंकि आपसी संघर्ष के कारण उनके पास वक्त ही नहीं था कि देश में एकता की स्थापना करके सांस्कृतिक उन्नति के लिये कोई प्रयास करते। शायद यही कारण है कि 712 ई0 और 1000 ई0 में विदेशी आक्रमणों के कारण भारतीय संस्कृति के सामने एक संकट उपस्थित हो गया।[25]

उपर्युक्त राजनीतिक दशा पूर्वमध्यकाल में हो रहे सामाजिक परिवर्तन की पृष्ठभूमि के रूप में कार्य कर रही थी। परन्तु पूर्वमध्यकाल में हो रहे सामाजिक परिवर्तनों का अध्ययन करने से पूर्व तत्कालीन राजनीतिक दशा के साथ-साथ यह जानना भी अत्यन्त आवश्यक है कि इस युग से पूर्व भारत का समाज कैसा था? पूर्वमध्ययुग के पहले की घटनाओं पर यदि दृष्टि डालें तो हम गुप्तवंश जैसे महान वंश को शासन करते हुये पाते हैं जिस वंश के महान सम्राटों ने सभ्यता और संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति करते हुये भारतीय संस्कृति को उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया। गुप्तयुग के महान शासकों चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त तथा

स्कन्दगुप्त ने न केवल देश को एक कुशल प्रशासन प्रदान किया बल्कि देश को एकता के सूत्र में भी बाँधने का प्रयास किया। विदेशी आक्रमणकारियों से भारत की रक्षा करते हुये इस युग के भारतीयों में देशभक्ति की भावना स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।[26]

शान्ति और सुव्यवस्था के इस वातावरण में साहित्य, विज्ञान, कला तथा दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई। गुप्त युग के सम्राटों ने ब्राह्मणों व छात्रों को अनेक लाभ प्रदान कराके शिक्षा के क्षेत्र में उन्हें आगे बढ़ने के लिये प्रेरित किया। महान कवि एवं नाटककार कालिदास इसी युग की देन है। जिन्होंने अभिज्ञानशाकुन्तलम, विक्रमोर्वशियम्, मालावकाग्निमित्र जैसे नाटक लिखे और रघुवंश एवं मेघदूत, कुमारसम्भव जैसे ग्रन्थ भी लिखे जो कि संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है। संस्कृत के प्रसिद्ध कोशकार अमर सिंह का यही काल है।[27] भारतीय षट दर्शनों में से अधिकांश का पूर्व विकास इसी युग में हुआ। आर्यभट्ट पहला ऐसा भारतीय नक्षत्र वैज्ञानिक था जिसने यह घोषणा की कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है।[28] वाराहमिहिर जैसे प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य भी इसी युग की देन है।[29] जिन्होंने विभिन्न गृहों व नक्षत्रों की स्थिति पर विचार करके महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान की। साहित्य विज्ञान के साथ कला व स्थापत्य के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई जिसका जीता जागता उदाहरण अजंता की गुफाओं की चित्रकारी, सारनाथ, मथुरा की बुद्धमूर्तियां हैं, जिसमें आध्यात्मिकता के साथ शालीनता का पुट भी स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है।[30]

धर्म के क्षेत्र में गुप्त सम्राट स्वयं तो वैष्णव धर्म के अनुयायी थे परन्तु अन्य धर्मों के प्रति भी वे उदार विचार रखते थे।[31] उन्होंने न तो अपना धर्म जबरदस्ती किसी पर लादने का प्रयास किया न अन्य धर्मावलम्बियों के साथ किसी भी प्रकार का दुर्व्यवहार किया। वास्तव में यदि देखा जाये तो ये धार्मिक सहिष्णुता का काल था जिसमें ब्राह्मण, जैन एवं बौद्ध परस्पर प्रेमपूर्वक निवास करते थे। गुप्त सम्राटों ने बिना किसी भेदभाव के उच्च प्रशासनिक पदों पर विभिन्न धर्मानुयायियों को नियुक्त किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय का परराष्ट्र मंत्री वीरसेन शैव था[32] जबकि शम्रकार्दव नामक

बौद्ध उसी सेना का उच्च पदाधिकारी था।[33] कुमारगुप्त प्रथम के समय में बौद्ध बुद्ध मित्र ने बुद्ध की एक मूर्ति की स्थापना करवायी थी।[34] स्कन्दगुप्त के समय में भद्र नामक व्यक्ति ने पाँच जैन तीर्थंकरों की विशाल प्रतिमाओं का निर्माण करवाया था।[35] इस प्रकार गुप्त युग में सभी धर्मों को समान रूप से विकास का अवसर मिला। इस बात में भी कोई संदेह नहीं है कि गुप्त युग में हिन्दू धर्म ने सभी धार्मिक मतों को भक्ति एवं श्रद्धा से परिपूर्ण वातावरण प्रदान किया। उदाहरण स्वरूप ब्राह्मणों ने जब विशाखा में 6 दिनों के लिये अपने देवताओं का जुलूस निकाला था तो बौद्धों को भी आमंत्रित किया था।[36] इस समय हिन्दू धर्म एक ऐसे समुद्र के समान हो गया था जिसमें सभी धार्मिक मतों की धारायें समाहित हो सकती थीं। एकता के प्रति जागरूक गुप्त शासकों ने देश में एकता स्थापित करने के लिये संस्कृत को राजभाषा के पद पर आसीन कर दिया और संस्कृत कवियों और दार्शनिकों की अभिव्यक्ति का साधन बन गयी।

इस युग के सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों पर दृष्टि डालने के बाद यदि नागरिकों के जीवन पर भी ध्यान दे, तो हम पाते हैं कि वे न केवल आराम व सुविधा से परिपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे; बल्कि नैतिक विचारों का भी उनके जीवन में महत्वपूर्ण स्थान था। फाहयान जो कि गुप्तकाल में भारत आया था उसने लिखा है कि बंगाल, हिमालय और विन्ध्यप्रदेश के नागरिक सम्पन्न होने के साथ उच्च चरित्र के मालिक भी थे। यहां के लोग न तो अपने मकानों का पंजीकरण कराते थे[37] न ही न्यायालयों में दण्डाधिकारियों के सम्मुख उपस्थित होते थे।[38] दण्ड विधान सरल थे।[39] बिना मृत्यु दण्ड और शारीरिक कष्ट दिये राजा शासन करता था इसके बावजूद साम्राज्य में चारो ओर शान्ति और सुव्यवस्था विद्यमान थी।

गुप्तकाल में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित थी[40] इस समय तक जाति व्यवस्था उतनी जटिल नहीं हो पायी थी जितनी कि परवर्ती काल में देखने को मिलती है। समाज में ब्राह्मणों का महत्वपूर्ण स्थान था। उन्हें अपने यजन-याजन पठन-पाठन, दान-प्रतिगृह जैसे प्रमुख कार्यों से राज्य और समाज के सभी कार्यक्रमों में उच्च पद प्राप्त था। शिक्षित ब्राह्मणों को समाज में अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता

था। यद्यपि उनका मुख्य कर्म धार्मिक एवं साहित्यिक था तथापि कुछ ब्राह्मणों को हम जातिगत पेशा छोड़कर अन्य वर्णों की वृत्ति अपनाते देखते है जैसे चारुदन्त नामक ब्राह्मण व्यापार व वाणिज्य के क्षेत्र में तीन पीढ़ियों से कार्य कर रहा था।[41] या इस युग में ब्राह्मणों के बढ़ते प्रभाव के कारण उनको अनेक ग्राम भी दान में प्राप्त हुये। जिससे ब्राह्मणों ने खूब धन संचय किया और समाज में अपने प्रभुत्व को बनाये रखा।

क्षत्रिय समाज का दूसरा महत्वपूर्ण वर्ण था, जो इस युग में भी देश की रक्षा, जनता का पालन-पोषण, राज्य व्यवस्था तथा ब्राह्मणों को दान, सम्मान प्रदान करने जैसे अपने कर्तव्यों का पूर्णतः पालन कर रहे थे। समाज का तीसरा वर्ग वैश्य था जिसने इस युग में जैन धर्म से प्रभावित होकर खेती करना छोड़ दिया और पूर्णतः व्यापारी बन गये।[42] समाज के चौथे वर्ग के रूप में शूद्रों की स्थिति में सुधार हुआ। यद्यपि वेद पढ़ने का अधिकार उन्हें अब भी नहीं दिया गया था परन्तु कुछ घरेलू अनुष्ठान करने और रामायण और महाभारत सुनने का अधिकार प्रदान कर दिया गया था।[43] शूद्रों की आर्थिक स्थिति में भी सुधार हुआ अब वे ऊपर के तीनों वर्णो के सेवक ही नहीं थे बल्कि कृषक व शिल्पी भी बन गये थे।[44] कुमार गुप्त के मंदसौर अभिलेख से पता चलता है कि इस समय शहर में सिल्क बुनने वाले कर्मचारियों की दिनचर्या एक संस्था द्वारा निर्धारित की ज़ाती थी जो श्रेणी कहलाती थी।[45] इसके सदस्य न केवल अपना कार्य करते थे बल्कि अनेक कलाओं में पारंगत भी थे।[46] शूद्रों की स्थिति में सुधार का संकेत मिलने का एक कारण गुप्तकाल में भक्ति सम्प्रदाय एवं आर्थिक समृद्धि भी रहा होगा और पूर्वमध्यकाल में भारतीय संस्कृति की आत्मसातीकरण की प्रवृत्ति ने सम्भवतः शूद्रों को वह दर्जा प्राप्त करने में छूट दी होगी जो पहले नहीं प्राप्त था।[47] यहां पर यह उल्लेखनीय है कि ब्राह्मण धर्म ने महायान धर्म से ब्राह्मण धर्म की ओर आये शूद्रों को वह स्थान नहीं दिया। ब्राह्मण शूद्र के बीच अंत्यजों के प्रति अपनाये गये दृष्टिकोण में यह साफ झलकता है।[48]

इस समय अछूतों की संख्या में भी वृद्धि हुई जिसमें चांडाल, शिकारी,

धोबी शहर के बाहर रहते थे और जब वे शहर में आते थे तो डंडा खटखटाते थे जिससे शहर के उच्च वर्ण के लोग उनके स्पर्श से अपवित्र न हो सकें।[49] इस काल तक समाज में गुण व कर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था और जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था दोनों ही विद्यमान थी। वर्ण अनगिनत जातियों एवं उपजातियों में बँट गये थे पर इसके कारण वैवाहिक सम्बन्धों और खानपान के नियमों में अभी इतनी संकीर्णता नहीं आयी जितनी कि परवर्ती काल में देखने को मिलती है।[50] विवाह के आठों रूप समाज में प्रचलित थे।[51] शादी अधिकतर एक ही जाति में की जाती थी पर एक गोत्र और प्रवर में विवाह करना वर्जित था। अनुलोम और प्रतिलोम दोनों विवाह समाज में प्रचलित थे।

इस समय में नारी की स्थिति न तो वैदिककाल के समान बहुत अच्छी थी और न ही बाद के कालों की तरह बहुत खराब ही थी। ऊँचे परिवारों की कन्यायें प्राचीन इतिहास तथा परम्परा का अध्ययन करती थीं।[52] उन्हें इतनी उच्च शिक्षा दी जाती थी कि न केवल वे श्लोक समझ सकती थीं बल्कि उनकी रचना भी कर लेती थीं।[53] विधवा विवाह का प्रचलन समाज में अपवाद स्वरूप नहीं था।[54] सती प्रथा भी समाज में लोकप्रिय नहीं थी और न ही उसे कोई शास्त्रीय मान्यता ही प्राप्त थी।[55] गोपराज की पत्नी का सती होना अपवाद स्वरूप ही था।[56] बहु विवाह जैसी कुप्रथाओं के कारण समाज में नारी की स्थिति दयनीय अवश्य हो गयी थी।[57] इस युग में जहां लड़की के लिये अच्छे वर की तलाश पिता का कर्तव्य था वहीं पति की तरफ पूरी तरह से समर्पित होना हिन्दू स्त्री का आदर्श माना जाता था। अधीतकाल तक आते-आते स्त्रियों के ऊपर तरह-तरह की बातें आरोपित की जाने लगीं। कभी उन्हें पर्दे में रहना सिखाया जाता था तो कभी पति की मृत्यु के पश्चात् सती हो जाना उच्च धार्मिक कर्तव्य बताया जाता था। वैदेशिक आक्रमणों की अधिकता से समाज में स्त्रियों पर और भी प्रतिबन्ध व्यवस्थाकारों द्वारा लगाये गये।

पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज एक संक्रमणकाल से गुजर रहा था। जिसमें एक तरफ मुस्लिम आक्रमणों की वजह से भारतीय समाज को इस्लामी सभ्यता से घसीटने का उपक्रम किया जा रहा था; दूसरी तरफ हिन्दू संस्कृति के ठेकेदार हिन्दू समाज

को और अधिक अपने शिकंजे में कसते जा रहे थे। भारतीय सभ्यता ऐसे में अत्यन्त खिंचाव का अनुभव कर रही थी जिसकी अभिव्यक्ति पराशर स्मृति में देखने को मिलती है।[58] जहां भारतीय संस्कृति का यह संक्रमणकालीन युग अपने में कई परिवर्तनों को समेटे हुये था, वहीं वह इसे जाते-जाते मुस्लिम संस्कृति को सौंप देता है।[59] इस हस्तान्तरण के पूर्व भारतीय समाज में तंत्र-मंत्र तथा यौगिक गतिविधियां भी समाहित हो चुकी थीं जो प्राचीनकाल में नहीं थीं।[60] भारतीय संस्कृति पर तांत्रिक गतिविधियों का बहुत गम्भीर असर रहा और इसने समाज, धर्म तथा कला सभी पक्षों को प्रभावित किया। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाजिक गतिविधियां धर्म से बहुत अधिक प्रभावित थी और धर्म ने भी समाजिक परिवर्तन की दिशा को निर्धारित किया। भारतीय समाज का प्राचीनकाल से मध्यकाल में संक्रमण एक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। इसको लेकर इतिहासकारों[61] में एक विवाद की स्थिति है। हम किस तिथि तक के इतिहास को प्राचीनकाल में रखे और कहां से मध्यकाल की शुरुआत करें। बहुत स्पष्ट है कि जब प्राचीनकाल से मध्यकाल का ही विभेद स्पष्ट नहीं किया जा सकता तो हम पूर्वमध्यकाल का जन्म कहां करायें। फिर भी भारतीय इतिहास में पूर्वमध्यकाल की स्थिति को स्पष्ट करने की कुछ इतिहासकारों द्वारा चेष्ठा की गयी।[62] सी0 बी0 वैद्य[63], हेमचन्द्र राय,[64] तथा आर0 सी0 मजूमदार[65] जैसे कुछ इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास की कुछ तिथियों को निश्चित करने का प्रयास किया। इस प्रयास की शुरुआत सी0 बी0 वैद्य[66] ने प्रारम्भिक मध्यकालीन भारत के सामान्य इतिहास को लेकर छोटे पैमाने पर लेकर की थी। उसे उसी दिनों हेमचन्द्र राय[67] ने उत्तर-भारत के राजनैतिक इतिहास के संदर्भ में बड़े पैमाने पर इस कार्य को पूरा किया। इस क्रम में राजवंशीय और राजनैतिक इतिहास के आधार पर हेमचन्द्र राये ने यह सुझाव दिया[68] कि 916 ई0 को उत्तर भारत के इतिहास में दो युगों के बीच की विभाजक रेखा माना जाना चाहिये। उनके अनुसार इन्हें प्राचीन व मध्ययुग की संज्ञा दी जा सकती है। किन्तु यदि हम इन्हें सीधे-साधे हिन्दू काल और तुर्क अफगान काल कहें तो यह शायद अधिक तर्कसंगत होगा।[69] इसके विपरीत विन्सेन्ट स्मिथ[70] ने यह तर्क दिया कि हर्ष की मृत्यु के बाद से इस मध्ययुग की शुरुआत माननी चाहिये समाजार्थिक आर0 एस0 शर्मा जैसे

इतिहासकारों[71] में पहली बार परिवर्तनों के आधार पर भारतीय इतिहास समाजार्थिक को प्राचीनकाल व मध्यकाल में बाँटने की कोशिश की यह उनकी अपनी सोंच है कि भारत में सामन्ती प्रक्रिया की शुरुआत के अंश के काल को हम प्राचीनकाल की सीमा माने अर्थात् गुप्तकाल का अंतिम चरण प्राचीनकाल व उसके बाद के काल को मध्यकाल में रखा जाय। उनकी दृष्टि में गुप्तोत्तर काल में सामन्ती प्रभाव के कारण और बिहारों को अनेक प्रकार के भूमि अनुदान दिये जाने के कारण बौद्ध धर्म का निक्रष्टतम रूप में पतन हो गया।[72] अपनी नीच से नीच वासना को शान्त करने के लिये सामन्तों ने अपने जघन्य आचरण धर्म के आवरण में छिपाने की कोशिश की व आरम्भिक मध्यकाल के मन्दिरों में कामुक अंकन एक सामान्य प्रथा हो गयी।[73] बौद्ध बिहारों के सोपानात्मक गठन में कमोवेश सामाजिक राजनैतिक ढांचे का अनुगमन किया गया।[74] आगे चलकर इन मन्दिरों व विहारों ने मठों का रूप ले लिया व इनका स्वरूप सामन्ती किस्म का हो गया। ये धार्मिक प्रतिष्ठान महत्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक गतिविधियों के केन्द्र थे। मध्यकाल में आकर नई उपासना पद्धतियों व पंथों के सामाजिक आर्थिक आयामों व मन्दिरों की व्यवस्था की ढेर सारी चर्चायें मिलने लगीं और ईसा की छठी शताब्दी से हिन्दू ग्रन्थों में तंत्रवाद का वर्चस्व स्थापित हुआ; जिसने शैव, वैष्णव, जैन व बौद्ध धर्म को ही नहीं बल्कि कला, साहित्य व ज्योतिष को भी प्रभावित किया।[75] इसने सामाजिक समन्वय को बढ़ावा दिया व यह वैचारिक प्रवाह का एक ऐसा माध्यम बना जिससे होकर जनजातीय लोग सामन्ती समाज में दाखिल हुये।[76]

छठीं शताब्दी ई0 से जातियों की संख्या में वृद्धि होने लगती है व ब्राह्मणों और शायद शूद्रों में बाल-विवाह की तथा क्षत्रियों में सती प्रथा की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। यही नहीं पूर्वकाल से चली आ रही नियोग जैसे प्रथायें अमान्य घोषित कर दी गयी। इससे यह प्रतीत होता है कि छठी शताब्दी ई0 में आकर भारतीय सामाजिक संरचना में महत्वपूर्ण सामाजिक बदलाव आने लगा था।

सामाजिक परिप्रेक्ष्य में गुप्तोत्तर काल एक महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन से परिचित था। जो समाज के साथ-साथ तत्कालीन अर्थव्यवस्था को भी प्रभावित कर रहा था। यह पक्ष दासों का था। प्राचीनकाल में दासों को रखने की परम्परायें जितनी

अधिक मिलती है उतनी उन्हें मुक्त करने की नहीं मिलती।[77] लेकिन गुप्तोत्तरकालीन ममाज में न केवल दासों को अनेक वैधानिक अधिकारों से मुक्त किया गया था।[78] वल्कि इनकी मुक्ति की अनेक शास्त्रीय व्यवस्थायें भी की गयी थी।[79] इसी आधार पर आर0 एस0 शर्मा,[80] बी0 एन0 एस0 यादव,[81] डी0 आर0 चनना[82] जैसे इतिहासकारों ने इसे एक ओर दासता के ह्रास की सूचना मानते हैं तो दूसरी ओर कृषकों के शोषण की बात को भी सिद्ध करने की स्पष्ट चेष्टा करते हैं।[83] प्रस्तुत संदर्भ में हमारा यह प्रयास नहीं है कि उनकी यह विचारधारा सही थी या गलत पर इतना अवश्य है कि यह प्रमाण आलोच्यकाल को प्राचीनकाल से अलग अवश्य करता है। इसलिये गुप्तकालीन भारतीय व्यवस्था तक को हम प्राचीनकाल के नाम से सम्बोधित करते हैं व गुप्तों के पतन के काल को मध्यकाल में रखना चाहते हैं।

अब यहां यह प्रश्न उठता है कि अगर छठी शताब्दी ई0 भारतीय इतिहास का मध्यकाल था तो भारतीय उपमहाद्वीप से हिन्दू सत्ता का लोप के युग को क्या हम वर्तमान काल में रखेगें क्योंकि मेरी समझ से सल्तनत राजवंश की स्थापना भारतीय इतिहास का एक निर्णायक बिन्दु है। यह कोई छोटा-मोटा परिवर्तन नहीं था जिसे हम नजरंदाज कर सके। जैसा कि सर्वविदित है कि ईस्ट इंडिया की स्थापना से हम आधुनिक काल की शुरुआत मानते हैं इसलिये कुछ इतिहासकारों ने छठीं से बारहवीं सदी तक के काल को मध्यकालीन शताब्दियों की पूर्व-पीठिका के रूप में स्वीकार किया व इसको पूर्वमध्यकाल का नाम दे डाला। क्योंकि यह एक ऐसा युग था कि जिसमें न तो पूर्णतया प्राचीन व्यवस्था का मोह दिखायी पड़ता है न मध्यकालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक धार्मिक परिवर्तनों को खुला आमंत्रण देता हुआ ही देखा जा सकता है। इसलिये शायद कई इतिहासकारों[84] ने इस काल को संक्रमणकाल भी कहा है।

पूर्वमध्यकाल की यह संक्रमणकालीन स्थिति आलोच्यकाल के सामाजिक परिवर्तनों में अत्यन्त महत्वपूर्ण हुई। यद्यपि यह सही है कि इस युग तक आते-आते वर्ण व आश्रम की सैद्धान्तिक योजनाएं मात्र कोरे आदर्श तक सीमित रह गयी थीं और

सामाजिक रंगमंच पर जाति व्यवस्था का एक तरह से खुलेआम अभिनय प्रारम्भ हो गया था और एक तरह से तो जाति व्यवस्था ने वर्ण व्यवस्था को पदच्युत करके समाज में अपना वर्चस्व कायम कर लिया था। फिर भी वर्णव्यवस्था अनेक पूर्वमध्यकालीन शास्त्रकारों द्वारा बार-बार दुहरायी जाती रही। यही कारण है कि अलबरूनी जैसे विदेशी यात्री को भी भारत में वर्णव्यवस्था के अवशेष दिखायी पड़े। इसी तरह समाज में स्त्रियों के स्थान अनेक धार्मिक विधानों में छूट एवं कट्टरता तथा आर्थिक क्षेत्र में एक वर्ण द्वारा दूसरे वर्ण के अधिकार क्षेत्र में प्रवेश की घटनायें इस युग में आमतौर पर देखी जा सकती है। सम्भवत: इसीलिये पूर्वमध्यकालीन समाज अत्यधिक जटिल हो गया क्योंकि इसका यहां स्वरूप निर्धारण कर पाना सामान्य आदमी के बस का नहीं रहा। इस शोध प्रबन्ध के अगले अध्यायों में इसी मूल भावना से प्रेरित होकर उन सामाजिक जटिलताओं को समझने व समझाने का प्रयास किया गया है; जिन्होंने पूर्वमध्यकालीन भारतीय इतिहास को तरह-तरह से प्रस्तुत करने के लिये इतिहासकारों को एक अवसर उपलब्ध कराया।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के सीमित संदर्भ में यह तथ्य उभर कर सामने आया कि पूर्वमध्यकालीन भारतीय राजनीति विकेन्द्रीयता का शिकार हो चुकी थी और धार्मिक गतिविधियां अपने बदले हुये कलेवर में समाज में कार्यान्वित की जा रही थी। एक प्रकार से राजनीति तथा धर्म दोनों ही अपने पूर्व स्वरूप से कुछ मामलों में अलग दिखायी पड़ रहे थे। ऐसे में सामाजिक गतिविधियां ऐसे परिवर्तनकारी लक्षणों से कैसे संयुक्त होने से बच सकती थी। अगले अध्यायों में सामाजिक परिवर्तनों को निर्धारित करने वाले प्रमुख तथ्यों का अलग-अलग अध्ययन करके इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट किया जायेगा।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. शर्मा, बी0 एन0, सोशल लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया, दिल्ली, 1966, पृ0
2. वही।
3. वही।
4. हर्षचरित, छठां उच्छवास, पृ0 183 और 186
5. शर्मा, बी0 एन0, पूर्वो0 पृ0 2
6. बील, एस0, आन श्वान च्वांग, पृ0 185
7. वही, पृ0 190
8. वही, पृ0 183
9. शर्मा, बी0 एन0, पूर्वो0
10. वही, पृ0 3
11. गौड़वहो, द्वारा उद्धत शर्मा, बी0 एन0, पूर्वो0 पृ0 2
12. वही।
13. वही।
14. मजूमदार, आर0 सी0 (संपा0) द क्लॉसिकल एज ऑफ इण्डिया, बम्बई, 1954, पृ0 133-36
15. शर्मा, बी0 एन0, पूर्वो0, पृ03
16. वही।
17. मिहिरभोज की ग्वालियर प्रशस्ति, श्लोक 4, ऐशियन्ट इण्डिया, जिल्द 18, पृ0 109
18. वही।
19. पाठक, विशुद्धानन्द, उत्तर भारत का राजनैतिक इतिहास, लखनऊ, 1973, पृ0 198

20. शर्मा, दशरथ, अर्ली चाहमान डायनेस्टीज, दिल्ली, 1959, पृ0 15

21. अल्टेकर, ए0 एस0, राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर इटाम्स, पूना, 1934, पृ0 30

22. पाठक, विशुद्धानन्द, पूर्वो0, पृ0 228

23. शर्मा, बी0 एन0, पूर्वो0 पृ0 4,

24. पाठक, विशुद्धानन्द, पूर्वो0 पृष्ठ 156

25. शर्मा, बी0 एन0, पूर्वो0 पृ0 41

26. विष्णुपुराण, द्वितीय, 24

    न्यायन्ति देवाः किल गीतकानि

    धन्यास्तु ते भारत भूमिभागे ।

    स्वर्गायिवर्गास्पदमार्ग भूते

    भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।।

27. शर्मा, बी0 एन0, पूर्वो0, पृ0 5

28. श्रीवास्तव, के0 सी0, प्राचीन भारत का इतिहास, इलाहाबाद, 1991, पृ0 427

29. वही।

30. वही, पृ0 420

31. वही, पृ0 427

32. शर्मा, बी0 एन0, पूर्वो0 पृ0 6

33. श्रीवास्तव, के0 सी0, पूर्वो0, पृ0 427

34. वही।

35. वही।

36. शर्मा0 बी0 एन0, पूर्वो0

37. श्रीवास्तव, के0 सी0, पूर्वो0 पृ0 380

38. वही।

39. वही।

40. शर्मा, बी0 एन0, पूर्वो0, पृ0 7

41. श्रीवास्तव, के0 सी0, पूर्वो0, पृ0 411

42. विस्तृत अध्ययन के लिये दृष्टव्य-

    यादव, बी0 एन0 एस0, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया इन दि ट्वेल्थ सेन्चुरी ए0 डी0, इलाहाबाद 1973, अध्याय।

43. वही।

44. वही।

45. राय, यू0 एन0, गुप्त सम्राट और उनका काल, इलाहाबाद, 1976, पृ0 282

46. वही।

47. शर्मा, बी0 एन0, पूर्वो0, पृ0 8

48. वही।

49. श्रीवास्तव, के0 सी0, पूर्वो0 पृ0 412

50. शर्मा, बी0 एन0, पूर्वो0, पृ0

51. राय, यू0 एन0, पूर्वो0, पृ0 384

52. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये-

    अल्टेकर, ए0 ए0, दि पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविल लाइजेशन, दिल्ली, 1968, में स्त्री शिक्षा नामक अध्याय।

53. वही।

54. राय, यू0 एन0, पूर्वो0

55. वही।

56. वही।

57. वही।

58. वही।

59. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये-

द्विवेदी, लवकुश, चाण्डालों की स्थिति पराशर स्मृति के विशिष्ट संदर्भ में, प्रोसीडिंग्स ऑफ द यू0 जी0 सी0 सेमिनार ऑन अनटचेबिलिटी इन ऐशियन्ट इण्डिया, वाराणसी, 1989.

60. वही।

61. वही।

62. विस्तृत अध्ययन के लिये-

शर्मा, आर0 एस0, प्राचीन भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, दिल्ली, 1992, अध्याय 19

62. वही।

63. वही।

64. राय, हेमचन्द्र, द डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, कलकत्ता, 1931, पृ0 3

65. वही।

66. शर्मा, आर0 एस0, पूर्वो0

67. राय, हेमचन्द्र, पूर्वो0

68. वही।

69. शर्मा, आर0 एस0, पूर्वो0

70. शर्मा, आर0 एस0, पूर्वो0

71. वही।

72. वही।

73. वही।

74. वही।

75. शर्मा, आर0 एस0, पूर्वो0

76. वही।

77. देखिये-

द्विवेदी, लवकुश, प्राचीन भारत में दास प्रथा, अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध।

78. वही।

79. द्विवेदी, लवकुश, पूर्वो0

80. वही।

81. वही।

82. वही।

83. वही।

84. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0

द्वितीय अध्याय

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में वर्ण एवं जाति की भूमिका

द्वितीय अध्याय

सामाजिक परितर्वन की प्रक्रिया में वर्ण एवं जाति की भूमिका

उत्तर वैदिक काल में हिन्दू शास्त्रकारों द्वारा वर्ण व्यवस्था का विधान समाज की विभिन्न श्रेणियों के लोगों में कार्यो का उचित बँटवारा करके सामाजिक संगठन बनाये रखने के लिये किया गया ताकि प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते हुये मतभेदों व वैमनस्य से मुक्त होकर अपना तथा समाज का पूर्ण विकास कर सके। परन्तु कालान्तर में वक्त के साथ देशकाल एवं परिस्थितियों में हुये परिवर्तनों के कारण वर्ण व्यवस्था में भी अनेक परिवर्तन हुये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्राचीनकाल से लेकर बारहवीं सदी तक विभिन्न परिवर्तनों और स्थितियों से होकर विकास की ओर जाते दिखायी देते हैं।

प्रारम्भ में वर्ण व्यवस्था का आधार कर्म समझा जाता था और धर्मशास्त्रकारों का यह विचार था कि जन्म के समय प्रत्येक व्यक्ति शूद्र, होता है और अपने उच्च कर्म के कारण ही व्यक्ति उच्च वर्ण का बन पाता है। जबकि पूर्वमध्ययुग तक आते-आते वर्ण निर्धारण का आधार जन्म हो गया। यद्यपि सूत्रकाल से ही कुछ धर्मशास्त्रकारों द्वारा इस बात पर जोर दिया जा रहा था कि वर्ण का आधार जन्म

होना चाहिये परन्तु इसको सुव्यवस्थित व दृढ़ स्वरूप मध्ययुग द्वारा ही प्रदान किया गया जब कुमारिल भट्ट ने कहा कि यह गलत विचारधारा है कि अच्छा कार्य करने से कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण हो जायेगा और जब वह बुरा कार्य करेगा तो शूद्र हो जायेगा।[1] प्रत्येक व्यक्ति की कोई निश्चित जाति होनी चाहिये।[2] इस प्रकार मध्ययुग तक आते-आते भारतीय समाज में गुण और कर्म दोनों पर आधारित वर्ण व जाति व्यवस्था विद्यमान थी। यदि हम प्राचीन से लेकर पूर्वमध्ययुग तक एक दृष्टि डालें तो हम पाते है कि उत्तर वैदिक काल में स्थापित वर्ण व्यवस्था समय के साथ अनेक परिवर्तनों के दौर से गुजरती हुई व्यावहारिक रूप धारण कर रही थी और पूर्वमध्ययुग में सैद्धान्तिक दृष्टि से तो वर्ण व्यवस्था विद्यमान थी पर व्यावहारिक धरातल पर उसमें अनेक परिवर्तन आ चुके थे।

उत्तरवैदिककाल में वर्ण व्यवस्था की स्थापना करते हुये समाज को चार भागों में बांटा गया जिसके बारे में पुराणों[3] और स्मृतियों[4] में विस्तारपूर्वक लिखा गया है। मत्स्यपुरण के अनुसार[5] भगवान वासुदेव के मुख बाहू, जंघा तथा चरण से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि हुई इससे परिलक्षित होता है कि मत्स्यपुराण की रचना के समय तक वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का सिद्धान्त सैद्धान्तिक रूप में अपने वैदिक स्वरूप में विद्यमान रहा। लेकिन इसी समय के आसपास पराशर स्मृति की भी रचना हुई जिसमें जातियों के सुप्रतिष्ठित होने के कई महत्वपूर्ण प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं। यही नहीं मत्स्यपुराण के पहले के अनेक साहित्यिक ग्रन्थों ने जाति व्यवस्था के बढ़ते प्रभाव व वर्ण व्यवस्था की विलुप्तमान अवस्था का परिचय प्रस्तुत किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक आदर्शों से संयुक्त इस वर्ण व्यवस्था को स्मृतिकारों ने सम्भवतः इसलिये प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया होगा क्योंकि यह जाति प्रथा द्वारा पीछे ढकेली जा रही थी।[6] इसी कारण से धीरे-धीरे क्षत्रिय व ब्राह्मण के मध्य मतभेद उत्पन्न हो गये क्योंकि क्षत्रियों का सोचना था कि देश की रक्षा करने के कारण समाज में उन्हें उच्च स्थान प्राप्त होना चाहिये। क्षत्रियों की इस इच्छा की पूर्ति बौद्ध युग में हुई जब बौद्ध धर्म प्रवर्तक गौतम बुद्ध ने स्वयं क्षत्रिय होने के कारण क्षत्रिय वर्ग को ब्राह्मणों के ऊपर का स्थान प्रदान किया।[7]

इसके साथ ही सामाजिक समानता को महत्व देते हुये शूद्रों की स्थिति में सुधार का भी प्रयास किया।[8] इस प्रकार बौद्ध युग में वर्ण व्यवस्था पर हुई करारी चोट से यह व्यवस्था लगभग मरणासन्न सी हो गयी जिसे पुनः जीवनदान देने का श्रेय शुगों को जाता है।[9] शुंगों के युग से वर्णाश्रम धर्म के पुनर्विकास और संगठन का जो दौर प्रारम्भ हुआ था वह बाद के काल में बराबर चलता रहा। सातवाहन वंश के गौतमी पुत्र शातकर्णी ने वर्ण व्यवस्था की पुर्नस्थापना के साथ वर्णसंकरता को रोकने का प्रयास किया।[10] मनु[11] और याज्ञवल्क्य[12] ने समाज को सुव्यवस्थित और संगठित जीवन प्रदान करने के लिये वर्ण व्यवस्था का पुनः निरीक्षण किया और उसे नया रूप प्रदान किया। इसमें संदेह नहीं है कि मनु प्रतिपादित वर्ण व्यवस्था अत्यन्त कठोर थी पर इसका कारण यह था कि वाह्य आक्रमणों के कारण समाज में फैली अव्यवस्था के कारण भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिये वर्ण व्यवस्था को ठोस आधार प्रदान किया गया।

हर्ष के युग में भी वर्णाश्रम धर्म निरन्तर रूप से चलता रहा जिसे गुप्तों ने अपने संरक्षण में अत्याधिक विकसित एवं प्रसारित किया था।[13] यद्यपि हर्ष द्वारा बौद्ध धर्म अपना लिये जाने के पश्चात् वर्णाश्रम व्यवस्था में कुछ शिथिलता अवश्य आयी थी परन्तु समाज में यह पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित थी। हर्षकालीन अभिलेखों से पता चलता है[14] कि प्रभाकरवर्द्धन ने वर्णाश्रम व्यवस्था को स्थिर बनाये रखा। श्वानच्वांग ने भी परम्परागत जाति विभेद के चार वर्णो का उल्लेख किया है।[15] बाण के हर्षचरित में हर्ष के विषय में उल्लिखित है[16] कि वह ऐसा शासक था जो मनु के समान वर्णो और आश्रमों के नियमों का पालन करता था।

मनु पर भाष्य लिखने वाले मेघातिथि तथा कुल्लूकभट्ट आदि ने वर्ण व्यवस्था में जीवन्तता बनाये रखने के लिये परिस्थिति के अनुसार अनेक परिवर्तन किये। मेघातिथि ने वेदज्ञ ब्राह्मण को सेनापति एवं राजपद प्रदान करने की अनुमति दी।[17] ग्यारहवीं सदी के लेखक अलबेरूनी का कथन है कि प्राचीनकाल में अत्यन्त कर्तव्यपरायण राजा जनता को अनेक श्रेणियों ओर कर्मो में विभक्त करने में योग देते है।[18] साथ ही साथ उन्हें एक दूसरे से मिलने और क्रम तोड़ने का यत्न करते थे। अतः इन्होंने

विभिन्न श्रेणियों के लोगों को एक दूसरे से सम्बन्ध रखने से रोक दिया और प्रत्येक श्रेणी के लोगों को विशेष प्रकार का कार्य और शिल्प सौंप दिया।[19] वे किसी भी व्यक्ति को अपने वर्ग का अतिक्रमण करने की अनुज्ञा नहीं देते थे उन्हें दण्ड दिया जाता था।[20] अलबेरूनी के कथन से यह स्पष्ट है कि राजा का प्रधान कर्तव्य वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना था। प्रत्येक वर्ण के लिये एक सुनिश्चित व्यवस्था थी जिसके अनुरूप प्रत्येक वर्ण अपना कर्म करता था। इस प्रकार ज्ञात होता है कि वर्ण व्यवस्था का प्रचलन सम्पूर्ण मध्यकाल में किसी न किसी रूप में था। लेकिन यह किस सीमा तक सैद्धान्तिक और किस सीमा तक व्यावहारिक था, प्रसंगत: यहां इसका अध्ययन अनिवार्य है। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का आदर्श समाज के प्रारम्भिक विभाजन के रूप में भारतीय समाज में स्थापित किया गया और धर्म सूत्रों की रचना के समय इन वर्गो के मध्य विद्यमान अनेक अव्यवहारिकताओं ने जातियों की उत्पत्ति का मार्ग प्रशस्त किया और जाति व्यवस्था के उद्‌भव ने वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत व्यवसायों, समुदायों की प्राथमिकता प्रदान करके वर्णो के सीधे-सादे स्वरूप को अधिक कठिन बना दिया। पूर्वमध्ययुग में चूंकि जातियों का जाल इतना अधिक फैल चुका था कि अब वर्ण व्यवस्था का आसन पूर्णतया हिलने लगा जो इसके पूर्व भी कई बार हिल चुका था। अनेक प्रयासों के बावजूद सामाजिक धरात पर जाति का प्रादुर्भाव हो गया व वर्ण व्यवस्था पर्दे के पीछे सिमट गयी। यही कारण है कि श्वानच्वांग से लेकर अलबेरूनी तक के काल के बीच प्राय: अनेक स्थानों पर वर्ण व्यवस्था की बात की है पर यह व्यवस्था केवल सह-सैद्धान्तिक आदर्शो तक ही सीमित रही। व्यावहारिक धरातल पर इन्हीं चार वर्णो से उद्‌भूत जातियों का जो खेल खेला जा रहा था, उसमें एक प्रधान जाति की कई छोटी-छोटी उपजातियां बनने लगी। इन जातियों व उपजातियों के मध्य वैवाहिक सम्बन्ध, खानपान, छुआछूत के नियम और अधिक कठिन हो गये। ऐसे में क्षेत्रीयता की भावना से ग्रसित इन जातियों को विदेशी आक्रमणकारियों का भी सामना करना पड़ा और इनके बीच में अनेक जातियों ने अपना स्थान बनाना प्रारम्भ कर दिया। कुल मिलाकर पूर्वमध्यकालीन समाज में वर्णव्यवस्था ने सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में यह योगदान दिया कि ये जातियां उनके स्थानापन्न के रूप में समाज में प्रतिष्ठित हो गयी और वह किताबी पन्नों में सिमटने

के लिये विवश हो गयी। पूर्वमध्यकालीन मामाजिक परिवर्तन के तूफान में वर्णो का आदर्श टिक नहीं सका जिसके लिये वर्णव्यवस्था की कतिपय अव्यावहारिकताएं ही जिम्मेदार थीं। अत: प्राचीनकाल से पूर्वमध्ययुग तक आते-आते वर्णाश्रम व्यवस्था में अनेक उतार चढ़ाव दिखायी देने लगे। जिसके कारण प्रत्येक वर्ण के अधिकारों में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुये।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में ब्राह्मणों की भूमिका-

वर्ण व्यवस्था के प्रधान स्तम्भ के रूप में ब्राह्मणों का नाम सर्वविदित है। वैसे तो प्राचीन भारतीय समाज समय-समय पर धर्म एवं राजनीति से प्रभावित होता रहा है। वस्तुत: ब्राह्मणों की स्थिति में परिवर्तन आना स्वाभाविक था। जैसे जैसे वैदिक धर्म में उतार चढ़ाव आता रहा, वैसे वैसे वैदिक धर्म से सम्बद्ध ब्राह्मण वर्ग की स्थिति में भी उतार चढ़ाव आता गया। ब्राह्मणों का अपने शास्त्रोक्त कर्मो से विमुख होकर अन्य वर्णो के कर्मो का अनुकरण करना भी उनके सामाजिक पतन का कारण सा लगता है। कुल मिलाकर वैदिककालीन ''ब्राह्मणों'' की स्थिति बारहवीं शताब्दी ई0 तक आते-आते काफी परिवर्तित हो गयी। इस परिवर्तन के लिये सामाजिक, धार्मिक क्रियाकलापों एवं वैदेशिक आक्रमणों तथा ब्राह्मणों की आर्थिक विपन्नता को उत्तरदायी माना जा सकता है। प्रस्तुत संदर्भ में हम ''ब्राह्मणों'' की स्थिति में हुये उपरोक्त परिवर्तनं का अध्ययन करेगें।

गुप्तकाल में सम्राटों के द्वारा ब्राह्मण धर्म को अपनाने के कारण ब्राह्मणों की स्थिति चरमोत्कर्ष पर पहुंच गयी थी एवं भूमिदानों के कारण राज्य में उनकी राजनीतिक स्थिति में भी अत्याधिक परिवर्तन आया। हर्षकाल में जिन ग्रन्थों की रचना हुई थी उनसे पता चलता है कि उनकी मर्यादा कार्य साधक तथा शक्ति सम्पन्न थी।[21] ब्राह्मणों को भूमि अनुदान देने की प्रथा जो गुप्तोत्तरकाल में काफी बढ़ गयी थी, समाज में ब्राह्मणों के प्राधान्य को रेखांकित करती है। ब्राम्हणों ने इस गौरव की रक्षा के लिये न केवल अपने आपको आर्य परम्परा का वास्तविक उत्तराधिकारी बताया, बल्कि अपनी शिक्षा प्रणाली के माध्यम से ज्ञान पर एकाधिकार ने भी उन्हें अपनी सत्ता के सुदृढ़ीकरण में सहायता दी।

समाज में ब्राह्मणों का सर्वश्रेष्ठ स्थान था केवल धार्मिक ग्रन्थों से ही नहीं वरन विदेशी यात्रियों के वृत्तान्त से भी इस बात की पुष्टि होती है। ह्वेनसांग ने लिखा है कि अनेक वर्ण और जातियों में ब्राह्मण सबसे अधिक पवित्र है।[22] और उन्हें सबसे अधिक सम्मान मिलता है ऐसे ही विचार अलमसूदी[23] और अलबरूनी[24] ने भी प्रकट किये हैं। अलबरूनी के अनुसार ब्राह्मण सबसे ऊँचे वर्ण के हैं। उनके विषय में हिन्दू धर्म कहते हैं कि ये ब्रह्मा के सिर से उत्पन्न हुये हैं जिस शक्ति को माया कहते हैं। उसका दूसरा नाम ब्रह्मा है शरीर का सबसे ऊँचा अंग सिर है। इसलिये ब्राह्मण सभी जातियों में श्रेष्ठ है। हिन्दू उन्हें सर्वोत्तम मानते हैं।[25] बाण के अनुसार असंस्कृत बुद्धि वाला ब्राह्मण जन्म से ब्राम्हण होने के कारण माननीय था।[26] अलउदरीसी ने भी ब्राह्मणों को हिन्दू जाति में सर्वोपरि माना है।[27] उनकी श्रेष्ठता लेखपद्धति से भी प्रमाणित होती है।[28]

आदर्श स्वरूप ब्राह्मणों का कार्य अध्ययन अध्यापन, यजन-याजन और दान लेना-देना था। वर्ण विरुद्ध कार्य करना उनके लिये निषिद्ध था।[29] वे शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट आचार का पालन करते थे, वेद वेदाग तथा अन्य शास्त्रों में पारंगत होते थे।[30] हिन्दू चिंतन के दार्शनिक रूप पर ब्राह्मणों का लगभग एकाधिकार था।[31] अलबरूनी के अनुसार ब्राह्मणों को ही वेद पढ़ाने का एकमात्र अधिकार था।[32] लक्ष्मीधर ने लिखा है कि ब्राम्हण ही एकमात्र अध्यापन कार्य करते थे।[33] ब्राह्मण द्वारा सामदेव, मीमांसा तथा तर्कशास्त्र के अध्यापन का विवरण प्राप्त होता है।[34] युवानच्वांग के अनुसार ब्राह्मण अपने सिद्धान्तों के पालन में संयम, शुद्धता और सदाचार का सर्वदा ध्यान रखते थे।[35] ब्राह्मणों की पवित्रता पर अधिक जोर दिया गया। फाहियान भी लिखता है कि यदि किसी ''द्विज'' की दृष्टि किसी अछूत पर कुछ दूर से भी पड़ जाती थी, तो वह अपवित्र हो जाता था तो उसे अपनी शुद्धि के लिये धार्मिक अनुष्ठान करने पड़ते थे। ऐसा करना धर्म संहिताओं मे वर्णित नियमों के अनुकूल था।[36] उस समय के बौद्धिक जीवन का एक उल्लेखनीय वैशिष्ट्य शास्त्रार्थ था, विशेषकर वह बौद्धों तथा ब्राह्मणों के बीच होता था।[37] सैद्धान्तिक दृष्टि से तो ब्राह्मणों के लिये विद्यालयों में विद्यार्थित्व की अवधि प्रथम तीस या सैंतीस वर्ष निर्धारितकी गयी।[38] इसी प्रकार मन्दिर के पवित्र गर्भगृह में पूजापाठ केवल ब्राह्मण ही कर सकते थे।[39] राजकुल का

पुरोहित, जिसका बड़ा राजनीतिक प्रभाव रहता था, निश्चित रूप से ब्राह्मण होता है।[40] राज्य के महत्वपूर्ण कार्यों में, विशेषत: धार्मिक कृत्यों में उसका परामर्श मान्य होता था। हर्षचरित में ज्योतिष शास्त्र की सारी ग्रह संहिताओं के पारंगत विद्वान एवं त्रिकालस तारक नामक राज ज्योतिषी का उल्लेख है। जिसने हर्ष का जन्म-लग्न बनाया था।[41] ब्राह्मवादी, वेदान्ती ब्राह्मण पुरोहित राज दरबार की शोभा बढ़ाते थे।[42] कंचुकी का पद, जो दरबार के कर्मचारियों में प्रमुख था- ब्राह्मण जाति के लिये ही था।[43] हर्ष के राजदरबार में अनेक ब्राह्मण थे, जो विभिन्न प्रकार के राजकीय कार्यों में सहायता प्रदान करते थे। धार्मिक कृत्यों को करवाने के बदले पुरस्कार स्वरूप हर्ष ब्राह्मणों को प्रभूत दान देता था।[44] पूर्वमध्ययुगीन लेखक लक्ष्मीधर[45] तथा कल्हण[46] की कृतियों से विदित होता है कि राजा के अभिषेकोत्सव में ब्राह्मण का सम्मिलित होना प्रमुख था। अलबरूनी भी लिखता है कि राजाओं तथा सामन्तों के घरों में सर्वदा एक ब्राह्मण रहा करता था, जो वहां धर्म और पुण्य के कार्य करता था, तथा जो पुरोहित कहलाता था।[47] ऐसे बड़े लोगों के यहां धर्म और पुण्य के कार्य कराने से पुरोहितों को दान और उपहार मिलते थे, जिससे वे अपनी आजीविका चलाते थे।[48] लक्ष्मीधर ने लिखा है कि ब्राह्मण पुरोहित के रूप में वह समस्त धार्मिक कार्यो को सम्पादित करता था।[49]

कात्यायन के अनुसार न्यायालय में राजा को न्यायाधीश, मंत्री के अतिरिक्त मुख्य पुरोहित ब्राह्मण भी उसकी सहायता करते हैं। न्यायाधिकरण में राजा के द्वारा अपने स्थान पर नियुक्त कोई साधारणतया ब्राह्मण व्यक्ति या स्वयं राजा न्याय करता था।[50] स्वयं भट्ट यशोधर चंदेल राजा धंग का धर्माधिकारी अथवा मुख्य न्यायाधीश था।[51] परमार राजाओं को न्याय करने में उनकी सहायता के लिये धर्मशास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मण रहते थे।[52] चालुक्य चंदेल, कलचुरि, पाल तथा सेन राजवंशी नरेशों ने भी अनेक ब्राह्मण मंत्रियों को अपने प्रशासन में नियुक्त कर रखा था।[53] मदन वर्मा के मऊ अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्रभास नामक ब्राह्मण उनका मुख्यमंत्री था, जिनकी नियुक्ति कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अनुशंसित विधियों द्वारा परीक्षित करने के बाद ही की गयी थी।[54] पांचवीं शती तक के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राजा

यद्यपि चोरों को दण्डित करने का अधिकार नहीं त्यागता था, परन्तु आगे चलकर चोरों को दण्डित करने या परिवार की सम्पत्ति इत्यादि के झगड़ों पर न्याय देने का अधिकार भी भूमिदान के साथ ब्राह्मणों को हस्तांतरित किया जाने लगा।[53] अलबरूनी ब्राह्मणों की आदिकालीन राजनीतिक स्थित के विषय में कहता है कि शासन और युद्ध के कार्य ब्राह्मणों के हाथ में थे। किन्तु देश की व्यवस्था बिगड़ गयी क्योंकि वे धर्मशास्त्रों के दार्शनिक तत्वों के सिद्धान्तों के अनुरूप शासन करते थे, जो जनता के अनिष्टकारी और उच्छृंखल तत्वों के सम्मुख असम्भव ठहरा। अत: उन्होंने अपने धर्म के स्वामी से प्रार्थना की। फलत: ब्रह्मा ने उन्हें वे ही कार्य दिये, जो इस समय उनके पास हैं। शासन और युद्ध के कार्य क्षत्रियों को दिये गये।[56] अलबरूनी का यह कथन वास्तविकता के सैद्धान्तिक पक्ष को ही व्यक्त करता है। इस प्रकार राज्याभिषेक से लेकर राजा को मंत्रणा देने और न्याय प्रदान करने तक ब्राह्मणों की अभूतपूर्व भूमिका होती थी।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राचीनकाल की तरह ही अपने साधनामय जीवन और ज्ञान के कारण ब्राह्मण वर्ग की सर्वोपरि प्रभुता स्थापित हुई थी। वह समाज का मस्तिष्क था और पठन-पाठन तथा यजन-याजन के द्वारा समाज की बौद्धिक और धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। अपने इन्हीं कर्मों के कारण वह सम्पूर्ण समाज की अनन्य श्रद्धा-भक्ति और दया, दान का अधिकारी था। यद्यपि तत्कालीन बदलते हुये परिवेश के कारण ब्राह्मणों की स्थिति में भी परिवर्तन आने लगा था। सामाजिक परिवेश में हुये परिवर्तन के कारण ही मध्ययुगीन धर्मशास्त्रकारों ने परम्परागत वर्णों के कर्तव्यों को नये सिरे से निर्धारित किया। उदाहरणार्थ- प्रथम बार पराशर स्मृति में कृषि को ब्राह्मण वर्ण की वृत्ति बताया गया।[57] अभी तक के शास्त्रकारों ने केवल आपत्ति के समय में ब्राह्मणों के लिये कृषि कार्य करने का विधान रखा।[58] टीकाकार माधवाचार्य ने बताया कि कलियुग में आपद्धर्म ही सामान्य धर्म बन जाता है।[59] इससे मध्ययुग में ब्राह्मणों ने कृषि करना व कराना प्रारम्भ कर दिया इसके साथ ही यह व्यवस्था जरूर कर दी गयी कि ब्राह्मणों को प्रायश्चित के रूप में उपज का 1/20 भाग देवताओं को, 1/30 ब्राह्मणों को और 1/6 भाग राजा को

देना पड़ता था।[60] इस समय में राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को अनेक भूमि दान में दी गयी जिसमें ब्राह्मग बड़े पैमाने पर शूद्र कृषक द्वारा खेती कराते थे।[61] संवर्त स्मृति में ब्राह्मण को हल और बैल दान में दिये जाने के विवरण मिलते हैं।[62] विष्णुपुराण में भूमि के साथ दास तथा कर्मकरों के दान देने का भी उल्लेख है।[63] मध्य प्रदेश, प्राच्य एवं अन्य स्थानों के ब्राह्मण इस समय तक अधिक कट्टर विचार के नहीं हो पाये थे इसलिये वे स्वयं भी खेती करते थे।[64] श्वानच्वांग ने टक्क देश में ब्राह्मणों को स्वयं खेती करते देखा था।[65] चालुक्य नरेश कुमारपाल के एक लेख में ब्राह्मण खेतिहरों के नाम दिये गये है।[66] इस प्रकार इस समय तक ब्राह्मणों को आजीविका चलाने के लिये कृषि व व्यापार करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया था।[67] इसके साथ ही कुछ परिस्थितियों में शस्त्र धारण करने का भी अधिकार दिया गया।[68] जैसे कि मेघातिथि ने लिखा है कि यदि विदेशी आक्रमण का भय हो और सामाजिक दुर्व्यवस्था का भय उत्पन्न हो जाये तो ब्राह्मण शस्त्र धारण कर सकता था।[69] मनु ने ब्राह्मणों को अपने विहित कार्यों से अलग हटकर कार्य करने की इजाजत नहीं दी और अतिक्रमण की अवस्था में दण्ड की व्यवस्था भी की है।[70] सम्भवतः इसके पीछे कौटिल्य द्वारा प्रतिस्थापित वह मान्यता भी कार्य कर रही थी जिसमें उसने ब्राह्मणों को शस्त्र धारण करने की छूट नहीं प्रदान की क्योंकि ऐसा करने पर ब्राह्मणों के पथभ्रष्ट होने का खतरा उत्पन्न हो जाता।[71] लेकिन मनु पर भाष्य लिखते हुये मेघातिथि[72] ने ब्राम्हणों को यह छूट इसलिये प्रदान की क्योंकि ऐसा लगता है कि यद्यपि पूर्वकालीन भारतीय सामाजिक व्यवस्थाओं को शास्त्रीय मान्यताओं के उल्लंघन का अधिकार था देती लेकिन पूर्व मध्यकालीन समाज चूंकि अपेक्षाकृत परिवर्तित हो रहा था इसलिये उसे ऐसे कार्यों को करने की छूट प्रदान करनी पड़ी।

इस काल में पौराणिक ग्रन्थों व स्मृतियों में ब्राह्मणों के कई विशेषाधिकार गिनाये गये हैं।[73] उदाहरणार्थ- इस युग का ब्राह्मण कर की अदायगी से मुक्त था।[74] तथा दान में प्राप्त वस्तु पर उसे पूर्ण एकाधिकार प्राप्त था। अलबरूनी ने कर मुक्त ब्राह्मणों का चित्रण किया है।[75] और सोमेश्वर ने भी इसका समर्थन किया है।[76] इस युग के अनेक अभिलेखीय साक्ष्य ब्राह्मण दान ग्रहीताओं का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।[77] लेकिन जैसा कि बी0 एन0 एस0 यादव ने लिखा है कि यह सुविधा केवल श्रोत्रिय

ब्राह्मणों को ही प्राप्त थी।[78] ये ब्राह्मण धर्मशास्त्रीय एवं अर्थशास्त्रीय परम्पराओं के अनुरूप पुरोहित, मंत्री एवं न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किये जाते थे।[79] इस युग में भट्ट लक्ष्मीधर, गोविन्दचन्द्र गहड़वाल, को महासान्धि विग्रहक एवं मंत्रीश्वर नियुक्त किया गया था।[80] इसी प्रकार स्कन्द, राठ तथा वामन, चाहमान वंशी राजाओं के वंशानुगत मंत्री थे। चालुक्य, चन्देल, कलचुरि, पाल तथा सेन राजवंशी नरेशों ने अनेक ब्राह्मण मंत्रियों को अपने प्रशासन में नियुक्त कर रखा था।[81] बी0 एन0 एस0 यादव ने कतिपय उदाहरणों को इसके विपरीत भी प्रस्तुत किया है।[82] गुजरात के भीम द्वितीय के शासनकाल में वैश्य मंत्रियों की नियुक्ति हुई थी।[83] ब्राह्मणों को न्यायाधीश के रूप में नियुक्त करने का साक्ष्य लटकमेलक से प्राप्त होता है।[84] बंगाल के शासक लक्ष्मणसेन का प्रमुख न्यायाधीश 'धर्माध्यक्ष' हलायुद्ध नामक ब्राम्हण थी।[85] कुल मिलाकर ब्राह्मणों का ''धर्म' की व्यवस्था देना ही प्रमुख कर्तव्य बताया गया है।[86]

पूर्वमध्यकालीन साक्ष्यों में ब्राह्मणों को कुछ वैधानिक अधिकार प्राप्त होते दिखायी देते हैं।[87] जिसका समर्थन अलबेरूनी के इस कथन से भी होता है कि यदि कोई ब्राह्मण किसी व्यक्ति की हत्या कर दे तो उसे केवल व्रत, उपवास तथा दान करने के बाद माफ कर दिया जाता था।[88] कुछ निश्चित अपराधों के लिये वह दण्ड के कटघरे में खड़ा किया जाता है।[89] जबकि चोरी के लिये दण्ड की व्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक कठोर थी।[90] ब्राह्मणों की हत्या एक जघन्य पाप समझी जाती थी।[91] लेकिन काश्मीर में कुछ ब्राह्मणों के सम्बन्ध में इसका अपवाद दिखायी पड़ता है।[92] बारहवीं सदी का गाजीपुर जिले से प्राप्त अभिलेख भी इसकी अवहेलना करता दिखायी पड़ता है।[93]

इन उल्लेखों से यह नहीं मानना चाहिये कि ब्राह्मणों की स्थिति अत्यधिक सुदृढ़ थी।[94] क्योंकि अनेक पूर्वमध्यकालीन साक्ष्य यह प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं जो उनकी पतनोन्मुख अवस्था अथवा विपन्नावस्था का संकेत देते हैं।[95] नवीं सदी का पेहोवा अभिलेख वामुक नामक ब्राह्मण को थोड़े के व्यापारी के रूप में चित्रित करता है।[96] दसवीं सदी के सियादोणी अभिलेख में धमाक नामक ब्राह्मण को पान विक्रेता के रूप में दिखाया गया है।[97] बंगाल के बल्लालसेन नामक राजा के दरबार में ब्राह्मणोचित कर्मो

से च्युत ब्राह्मणों का निदर्शन प्राप्त होता है।[98] कथाकोष प्रकरण गरीब कृषक की जानकारी देता है।[99] क्षेमेन्द्र ने अपने दशावतारचरित में ऐसे ब्राह्मणों का उल्लेख किया है जो नर्तक, मदविक्रेता, ग्वाला, नमक विक्रेता आदि का कार्य करते थे।[100] कुछ ऐसे ब्राह्मणों की सूची भी वह प्रदान करता है जो अपने विहित धार्मिक कृत्य नहीं करते थे।[101] सुभाषित रत्नकोष[102] तथा सदुक्ति कर्णाभूत[102] नामक ग्रन्थों से बुद्धिमान गरीब ब्राह्मणों का प्रमाण मिलता है।[103] ब्राह्मणों की इस हीनावस्था का कारण बी0 एन0 एस0 यादव ने यह बताया है कि सम्भवत: इसके पीछे वैदिक पुरोहित का संकीर्ण प्रादुर्भाव तथा राज्याश्रय का प्राप्त नहीं होना था।[104]

ब्राह्मणों की स्थिति में परिवर्तन के लिये आर्थिक कारण भी पर्याप्त रूप से उत्तरदायी माने जा सकते हैं क्योंकि राजाओं द्वारा दिये गये भूमिदान से ब्राह्मण शक्तिशाली हो गये, साथ ही राजनीति में समान रूप से प्रवेश करने लगे थे। सम्राट हर्ष के राजदरबार में अनेक ऐसे ब्राह्मण थे जो विभिन्न प्रकार से राजकार्य में सहायता प्रदान करते थे।[105] धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न करवाने के बदले पुरस्कार स्वरूप हर्ष ब्राह्मणों को प्रभूत दान देता था।[106] हर्ष ने अपनी प्रथम दण्ड यात्रा के समय सौ गांव, जिनमें प्रत्येक का क्षेत्रफल एक सहस्त्र हल में मापा गया था, ब्राह्मणों को दान में दिया गया था।[107] एक ऐसे काल में जबकि भूमि अनुदान राजा के विशेष अनुग्रह का प्रतीक था, ''अग्रहरि'' ने ब्राह्मणों को निश्चय ही और अधिक महत्व प्रदान किया होगा। तकनीकी दृष्टि से भले ही राजा अनुदान को समाप्त कर सकता था, किन्तु बहुधा वह ऐसा करता नहीं था, क्योंकि असंतुष्ट ब्राह्मण अधिकारी उनका राजनीतिक विरोध करने में सक्षम थे।[108] हर्ष के बांसखेड़ा का ताम्रपत्राभिलेख[109] जो 1874 ई0 में उत्तर प्रदेश के शाहजहांपुर जिले में मिला था, ज्ञात होता है कि हर्ष ने अहिछत्र मुक्ति के अंगदायी विषय का, मर्कट सागर नामक गांव सब भारों से मुक्त भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण बालचन्द्र और भट्ट स्वामी को दान दिया था। एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि शक संक्रान्ति के दिन प्रतिहार नरेश त्रिलोचनपाल ने गंगा स्नान और शिवपूजा करने के पश्चात् छ: हजार ब्राह्मणों को एक ग्राम दान में दिया था।[110] गहड़वाल राजाओं ने जायुशर्मन और देववर्त को दान दिया था।[111] जयचन्द्र ने अपने पुत्र हरिश्चन्द्र का नामकरण संस्कार सम्पन्न किये जाने पर अपने

पुरोहित ऋषिकेश शर्मन को दो ग्राम दान में दिये थे।[112]

राज्य और समाज के देव मन्दिरों में ब्राह्मण ही प्रधान कर्ता-धर्ता होता था, जो मन्दिर के प्रधान पुजारी के रूप में देवताओं का पूजन अर्चन करता था। मन्दिर में अनेकानेक सामग्री दानादि में प्रदान की जाती थी। बहुधा राजे और सामन्त बड़े-बड़े ग्राम मन्दिर को दान में प्रदान करते थे, जो मन्दिर की सम्पत्ति समझे जाते थे किन्तु उसका उपभोग वस्तुतः ब्राह्मण पुरोहित ही करते थे। सोमनाथ जैसे वृहत मन्दिरों के कार्य को देखने के लिये हजारों की संख्या में ब्राह्मण नियुक्त किये जाते थे जो मन्दिर के प्रधान पुजारी के अन्तर्गत होते थे। जकरीय अल कजवीनी के अनुसार हजारों ब्राह्मण सोमनाथ के मन्दिर में पूजन और दर्शनार्थियों की सेवा के लिये रखे गये थे।[113]

इस प्रकार गुप्तकाल से चली आ रही ब्राह्मणों को भूमिदान की यह प्रक्रिया पूर्वमध्यकाल में भी विद्यमान रही। ब्राह्मणों की पद मर्यादा उनको दिये गये भूमि दानों में परिलक्षित होती थी। आठवीं शताब्दी से बारहवीं सदी ई0 के बीच ब्राह्मणों तथा वणिक समुदायों में प्रमुखता के लिये जो संघर्ष हुआ, उसमें भूस्वामी बनकर राजनीतिक सत्ता प्राप्त कर लेने के कारण ब्राह्मण विजयी हुये। सारे राज्य में दान दी गयी भूमियों के ऐसे अनेक खण्ड-प्रखण्ड बन गये, जहां केन्द्रीय प्रशासन समाप्त हो गया तथा उनके स्थान पर ब्राम्हणों का प्रशासन प्रारम्भ हो गया। ब्राह्मणों को भूमिदान देने का यह परिणाम हुआ कि वे अपने षटकर्मो से विमुख होकर राजनीति में प्रवेश करने लगे। साथ ही इतने शक्तिशाली हो गये कि राजाओं को चुनौती तक देने से नहीं चूके। उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्ययुगीन समाज में आर्थिक दृष्टि से भी ब्राह्मणों की स्थिति काफी हद तक परिवर्तित हो चुकी थी।

ब्राह्मणों की स्थिति में परिवर्तन के लिये सामाजिक कारण भी प्रमुख रूप से उत्तरदायी है; जिनके अन्तर्गत जाति प्रथा का उत्पन्न होना, वर्ण, जाति के नियमों की कठोरता, कायस्थ एवं राजपूत जैसी नई जातियों का उदय होना माना जा सकता है। वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भिक आधार कर्म था किन्तु कालान्तर में वर्ण व्यवस्था

के कठोर ढांचे ने जातिगत विभाजनों को आगे आने का अवसर प्रदान किया। आगे चलकर ब्राह्मण जाति कई क्षेत्रीय उपजातियों में बँट गयी थी। लक्ष्मीधर ने ब्राह्मणों की आठ शाखाओं की चर्चा की है।[113] जबकि मिताक्षरा ने इनके दस उपविभागों की जानकारी प्रदान की है। जिनमें देव, मुनि, द्विज, राज, वैश्य, शूद्र, मार्जार, म्लेच्छ, चांडाल और अशौच का उल्लेख किया गया है।[114] अत्रि स्मृति में क्षत्र ब्राह्मणों का उल्लेख किया गया है जो योद्धा का काम करते थे।[115] साथ ही निषाद ब्राह्मण, राज्य ब्राह्मण तथा मार्जार ब्राह्मण का भी उल्लेख मिलता है।[116]

ब्राह्मणों का क्षेत्रीय विभाजन-

पूर्वमध्ययुग में क्षेत्रीयता के आधार पर ब्राह्मण वर्ग का कई जातियों तथा उपजातियों में विभाजित होना एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था।[117] बारहवीं सदी के लेखक हेमचन्द्र के अनुसार[118] विभिन्न गोत्र तथा चरण के कारण ही ब्राह्मणों की अनेक जातियां उपजातियां संगठित हो गयी थीं।

ब्राह्मणों में स्थान भेद में पंचगौड़ तथा पंच द्रविड़ थे, पंचगौड़ से अभिप्राय सारस्वत, कान्यकुब्ज, मैथिल, गौड़ और उत्कल तथा द्रविड़ से नागर, महाराष्ट्र कवटि, तैलंग तथा द्रविड़।[119] पंच द्रविड़ तथा पंचगौड़ ब्राह्मण तो थे ही, उनके लगभग तीस के आसपास स्थानीय उपभेद हो गये तथा सैकड़ों उपाधियां हो गयीं।[120] हेमचन्द्र ने भी कलिंग ब्राह्मण, सुराष्ट्र ब्राह्मण, अवन्ति ब्राह्मण, तथा काशि ब्राह्मण आदि स्थान नाम पर ख्यात ब्राह्मणों का उल्लेख किया है।[121] कुछ अभिलेखीय साक्ष्यों से भी यह ज्ञात होता है कि गुजरात तथा राजस्थान के ब्राह्मण मोठ, उदीच्य, नागर, प्रागवट्ट दाहिमा, घरकट्ट्, ओसवाल, गुंगली तथा रायकाल उपशाखाओं में बंटे हुये थे तथा ये सभी विभाजन क्षेत्रीयता के आधार पर किये गये।[122] ग्यारहवीं शताब्दी में गुजरात के राजा मूलराज ने एक हजार ब्राह्मणों को उत्तर भारत में बुलवाया था, जो गुजरात में जाकर बस गये, जिन्हें उदीच्य कहा गया।[123] इसी प्रकार सरयू पार गोरखपुर व उसके आसपास बसने वाले ब्राह्मण सरयूपारीण ब्राह्मण कहे गये।[124] कान्यकुब्ज पांचाल के अन्तर्गत था। ऐसा सलीमपुर ताम्रपत्र से ज्ञात होता है।[125] ऐतिहासिक काल में पांचाल जनपद ही कान्यकुब्ज नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका अवशेष अब कन्नौज नगर

है। इस क्षेत्र में कान्यकुब्ज ब्राह्मण तथा कुछ अन्य उपजातियाँ हम पाते हैं।[126] बंगाल के राढ़ीय ब्राह्मणों के बारे में हमें उनके 56 ग्रामों में चटग्राम का उल्लेख मिलता है जहां के ब्राह्मणों को बंगाल में सम्मानित किया जाता था।[127] परवर्तीकाल तक आते-आते राढ़ीय ब्राह्मणों की 56 ग्रामों के आधार पर 56 उपजातियां बन गयी जैसे चवाटि या चटग्राम के ब्राह्मणों को चटर्जी या चट्टोपाध्याय उपनाम से पुकारा गया।[128] ठीक चटर्जी या चट्टोपाध्याय की तरह राढ़ीय ब्राह्मणों को वन्द्योपाध्याय या बनर्जी कहा गया है।[129] वंद्यग्राम के वंद्यघटीया ब्राह्मणों के बारे में राढ़ के सावर्ण, गोत्रीय ब्राह्मणों से वैवाहिक सम्बन्ध से ऐसा आभास मिलता है कि बहुत पहले से ही वंद्यघटीया ब्राह्मणों का समाज में उच्च स्तर था। ग्यारहवीं शताब्दी की एक प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि बंगाल में वंद्यघटीया ब्राह्मणों का अस्तित्व पहले से ही था।[130] मथुरा मूल स्थान से सम्बन्धित ब्राह्मण माथुर कहे जाते थे।[131]

कोंगू राजाओं के एक दानपत्र (454ई0) में हिरण्येकशि शाखा के ब्राह्मणों की चर्चा की गयी है।[132] चरणव्यूह के भाष्य में उद्धृत महार्णव के अनुसार हिरण्यकेशि लोग सध्यपर्वत तथा परशुराम क्षेत्र अर्थात् कोंकण के निकट समुद्र तट से दक्षिण पश्चिमी दिशा में पाये जाते थे। आज के रत्नगिरि जिले के बहुत से ब्राह्मण अपने को हिरण्यकेशि कहते हैं।[133] जो ब्राह्मण चित्तौड़ में रहते थे, उन्हें चित्तौड़ा ब्राह्मण कहा गया।

पूर्वमध्ययुगीन ब्राह्मणों की स्थिति में एक परिवर्तन ब्राह्मणों का देशान्तरण है। दानपत्रों से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों का बर्हिगमन किसी एक समय में न होकर भिन्न-भिन्न समय में मध्यदेश, सरयूपार, अवन्ति गुर्जर देश, कुरुक्षेत्र, शाकद्वीप, मगध कामरूप, बंगदेश एवं उडूदेश से हुआ।[134] राजपूत एवं मुस्लिम युद्धों की स्थिति में तत्कालीन ब्राह्मण पूर्ण संरक्षण एवं सुविधा प्राप्त करने के लिये अन्य प्रदेशों में जाने लगे। देश के उत्तर पश्चिम में ब्राह्मणों के न जाने का मुख्य कारण मुसलमानों का आधिपत्य था।

क्षेत्रीयता के आधार पर भी ब्राह्मणों की सामाजिक प्रतिष्ठा में अन्तर दिखायी पड़ता है। कुछ विशिष्ट क्षेत्र के ब्राह्मणों को अन्य क्षेत्र के ब्राह्मणों से अपेक्षाकृत

निम्न मानने की पूर्ववर्ती प्रवृत्ति आलोच्यकाल में भी विद्यमान थी।[135] मत्स्यपुराण[136] के अनुसार श्राद्ध भोज के अवसर पर त्रिशंकु, बर्बर, उड़ीसा, आंध्र, टक्कर (पंजाब), द्रविड़ (तमिलदेश) तथा कोंकण प्रदेश के ब्राह्मणों को नहीं निमंत्रित करना चाहिये।[137] स्पष्ट है कि अन्य क्षेत्रों के ब्राह्मण से उपर्युक्त क्षेत्रों के ब्राह्मणों को कम प्रतिष्ठित माना जाता था और उन्हें अपेक्षाकृत निम्न स्थान प्राप्त था।[138] यहां पर यह उल्लेखनीय है कि श्राद्ध भोज में सम्मिलित होने वाले ब्राह्मण पूर्वकालीन समाज में पवित्रतम कहे जाते थे। ब्राह्मणों के लिये अनेक आपद्धर्मो की व्यवस्था की गयी थी लेकिन सामान्य प्रचलन में मनु ने ब्राह्मणों की एक सूची प्रदान की है जो श्राद्ध के हकदार नहीं हो सकते थे।[139] उनकी दृष्टि में पितरों के हकदार केवल पंक्तिपावन ब्राह्मण ही हो सकते थे जिसकी पहचान इस प्रकार की जा सकती है वेद के अर्थ का ज्ञाता, वेद का व्याख्यान करने वाला ब्रह्मचारी, हजारों गायों या बहुत अधिक दान करने वाला, और सौ वर्ष की आयु वाला, इन ब्राह्मणों को पंक्ति पावन ब्राह्मण मानना चाहिये।[140] निश्चित रूप से पंक्ति पावनता की ये अर्हतायें अत्यन्त कठोर थी। लेकिन फिर भी मनु ने ऐसे ब्राह्मणों को ही श्राद्ध व श्राद्ध भोज का अधिकारी बताया। जबकि पूर्वमध्यकाल में आकर महाद्विज जैसे ब्राह्मण गया में जाकर श्राद्ध क्रिया में भागीदारी अदा करते हुये देखे गये।[141] और मनु की पंक्तिपावनता का पैमाना भी वहां छलकता हुआ दिखायी पड़ता है। ऐसा लगता है कि अंधविश्वास की गागर इस युग में इतनी भर गयी थी कि छलकना ही उसका एकमात्र विकल्प बचा था। ये सारे सामाजिक परिवर्तन ब्राह्मणों की स्थिति में यदि एक ओर गिरावट का संकेत देते हैं तो दूसरी तरफ पूर्वकाल से पूर्वमध्यकाल में होने वाले कतिपय सामाजिक परिवर्तनों के बाहर भी प्रतीत होता है। पूर्वमध्ययुग में संकीर्णता की भावना के कारण कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिसमें कुछ विशेष प्रदेश के लोग अपने को श्रेष्ठ समझते थे। ऐसे रूढ़िवादी लोग सौराष्ट्र, सिन्ध, दक्षिणापथ, कलिंग के ब्राह्मणों को अपवित्र मानते थे और उनके साथ खान-पान एवं विवाह के सम्बन्ध स्थापित करना उचित नहीं समझते थे। इन प्रदेशों में अन्य प्रदेशों के ब्राह्मणों को रहने की इजाजत तो थी नहीं बल्कि यदि कोई वहां जाता था तो उसे अच्छे संस्कारों द्वारा पवित्र किया जाता था। इसके अतिरिक्त अंग, बंग, सिन्ध के उत्तर व नर्मदा के दक्षिण

में स्थित प्रदेश मगध, मालवा के साथ भी वैवाहिक एवं अन्य धार्मिक सम्बन्ध रखने की इजाजत नहीं थी।

पूर्वमध्यकालीन सामाजिक परिवर्तन का एक परिणाम ब्राह्मणों की विभिन्न उपाधियों के रूप में देखने को मिलता है। इस युग में ब्राह्मणों की जिस प्रकार से अनेक उपजातियां बनी, उसी प्रकार से उन्हें अनेक उपाधियों से भी विभूषित किया गया। पूर्वमध्ययुग के अनेक अभिलेखों में ब्राह्मणों की विभिन्न उपाधियों की चर्चा की गयी है।[142] ये उपाधियां उनके विभिन्न कार्यों में विशेष योग्यता के आधार पर प्रदान की गयी थी, जैसे पंडित, महाराज, चर्तुवेद, शुक्ल, अग्निहोत्र, द्विवेद, दीक्षित, त्रिवेद, उपाध्याय, याज्ञिक, पाठक, अवस्थी आदि। पूर्वमध्यकाल के पहले किसी साहित्य या अन्य साक्ष्य से ब्राह्मणों की उपाधियों के सम्बन्ध में सूचना नहीं मिलती है। मात्र गुप्त शासक स्कन्दगुप्त के इन्दौर दान पत्र में उपाधि की सूचना मिलती है।[143] पूर्वमध्यकालीन उत्तर भारत के विभिन्न प्रादेशिक ब्राह्मण परिवारों में नाम के पूर्व समान उपाधियों को दो-दो तथा चार-चार पीढ़ियों तक धारण करने की परम्परा थीं। कालान्तर में ये उपाधियां ब्राह्मणों की एक अलग जाति बन गयी। उदाहणार्थ चतुर्वेदी उपाधि उस व्यक्ति या ब्राह्मण के लिये होती थीं जो चारो वेदों- ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में निष्णात् हो।[144] यह उपाधि गुप्तकालीन उपाधि में अंकित है?[145] चतुर्वेदी उपाधि का उल्लेखं कतिपय पुराणों में आया है।[146] साथ ही गुर्जरदेश के ददुतीय के नवसारी ताम्रपत्र,[147] चंदेलों,[148] गहडवालों[149] तथा परमारों[150] के अभिलेखों में हुआ है। ऐसा ज्ञात होता है कि एकादश शताब्दी तक चतुर्वेदी केवल एक-अलग ब्राह्मणों की उपाधि थी जो सम्भवतः स्वाध्याय द्वारा उपार्जित की जाती थी, परन्तु बारहवीं शताब्दी के पश्चात् इस उपाधि का प्रयोग वंशानुगत रूप में किया जाने लगा। इसी प्रकार तीन या दो वेद का अध्ययन करने अथवा ज्ञान रखने के कारण त्रिवेदी, त्रिपाठी या द्विवेदी उपाधिधारी ब्राह्मण पुकारे जाने लगे।[151]

दीक्षा कार्य में व्यस्त पुरोहित को दीक्षित कहा जाता था।[152] दीक्षित उस पुरुष को भी कहा जाता था जिसने या जिसके पूर्व पुरुषों ने ज्योतिष्टोम जैसे वृहद यज्ञों का अनुष्ठान किया हो।[152] अरब इतिहास अलबेरुनी का मत है कि अगर ब्राह्मण हवन

करता था या अग्नि में एक विशिष्ट प्रकार की आहुति देता था तब वह दीक्षित कहलाता था।[153] गोनरी दानपत्र से ज्ञात होता है कि मध्य-प्रदेश के अयक भट्ट ग्राम के ब्राह्मण परिवार में दीक्षित उपाधि प्रयुक्त होती थी।[154] अवस्थी उस ब्राह्मण को कहा जाता था जो नियमित रूप से आवसाथिक होम या हवन करता हो।[155] अलबेरुनी का कथन है कि वे ब्राह्मण जो एक अग्नि रखते थे 'इष्टिन' कहलाते थे और जो दो अग्नि रखते थे वे 'अग्निहोत्री' कहलाते थे।[156] वैजयन्ती ग्रन्थ के विवरण से पता चलता है कि धर्मशास्त्र का अध्ययन करने वाला ब्राह्मण 'पाठक' कहलाता है।[157] देवपाल के मान्धाता दानपत्र के अनुसार मध्यप्रदेशीय भारद्वाज गोत्र के ब्राह्मण परिवार में पाठक उपाधि नाम के साथ प्रयुक्त होती थी।[158] लटकमेलक में ब्राह्मणों की अनेक उपाधियां जैसे मिश्र, शुक्ल, महामहोपाध्याय तथा चतुर्वेद का उल्लेख मिलता है।[159] मनु के अनुसार जो जीविका के लिये वेद का एक देश (मंत्र या ब्राह्मण) अथवा वेदांग पढ़ाता है, वह उपाध्याय कहलाता है।[160] दामोदर के उक्ति व्यक्त प्रकरण में उपाध्याय के लिये ओझा तथा पंडित के लिये पंडा शब्द मिलता है।[161] कालान्तर में ओझा तथा उपाध्याय दोनों अलग-अलग जाति के रूप में परिणत हो गये।

ठक्कुर या ठाकुर उपाधि को धारण करने की परम्परा अनेक ब्राह्मणों के परिवारों में प्रचलित थी। बिहार के मैथिली ब्राह्मण भी ठाकुर उपाधि ग्रहण करते थे। बंगाल में ठक्कुर या ठाकुर उपाधिधारी ब्राह्मण अभी भी मिलते हैं। ऐसे संकेत मिलते हैं कि गहडवालकालीन अधिकांश भूमिदान ग्रहीता ब्राह्मण भूमि को जोतने लगे तथा इस प्रकार वे भूमि के स्वामी या जमींदार या ठक्कुर हो गये।[162] धीरे-धीरे स्थानीयता की भावना के प्रबल हो जाने से ये सभी उपाधियों से सम्बन्धित ब्राह्मणों की एक अलग जाति बन गयी। कालान्तर में चतुर्वेदी, द्विवेदी, उपाध्याय, पंडित, ठक्कुर जो उपाधियां थीं, वे बादमें ब्राह्मणों की उपजातियां बन गयीं। जैसे चतुर्वेद से चतुर्वेदी, द्विवेद से द्विवेदी नामक उपजातियां अस्तित्व में आयीं। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि ग्यारहवीं व बारहवीं शताब्दी तक ब्राह्मण जाति अनेक उपजातियों में बंट गयी थी। जो इस काल की एक महत्वपूर्ण घटना मानी जा सकती है।

राजपूतों के उदय से भी ब्राह्मणों की स्थिति में विशेष परिवर्तन आया। बंगाल में पाल वंश, राजपूतना में गुर्जर प्रतिहार वंश व दक्षिण में राष्ट्रकूट वंश उदित

हुये। गुप्तवंश के बाद जनता ने शूद्र को ही अपना राजा चुना उसने ब्राह्मण सामंतों का नाश कर दिया।[163] उसके बाद पाल वंश के संस्थापक गोपाल का उदय हुआ, उसको भी जनता ने चुना था। पाल वंश के शासनकाल में बौद्ध धर्म पुनः लोकप्रिय तथा शक्तिशाली हो गया। के0 पी0 जायसवाल लिखते हैं कि गोपाल का चुनाव इस बात का द्योतक है कि बंगालियों ने बहुत पहले आठवीं शती में जातिगत श्रेष्ठता के वैदिक सिद्धान्त से अपने को मुक्त कर लिया था। उस महान राजनीतिक कार्य से उन लोगों ने मनु द्वारा निर्मित संस्थाओं को समाप्त कर दिया। यह उन दिनों में बहुत बड़ी बात थी। एक शूद्र को राजा बना देने का अर्थ था कि युग-युग से पोषित मानसिक गुलामी की कड़ियां तोड़ दी गयीं।[164] पालों ने ब्राह्मवाद को कभी स्वीकार नहीं किया।

ब्राह्मणों को फिर से विजय प्राप्त करने का मौका ग्यारहवीं सदी के मध्य में मिला। पश्चिमी भारत के गुर्जर-प्रतिहारों का दावा था कि वे क्षत्रिय हैं। किन्तु यह संदेहग्रस्त है। दक्षिण में उन दिनों राष्ट्रकूटों का बोलबाला था। बंगाल के पालवंश में राष्ट्रकूट घराने की कन्याओं से विवाह हुये। राष्ट्रकूटों से ब्राह्मण चालुक्यों के गठबंधन के बाद पालवंश का राज्य खत्म हो गया। इस प्रकार ब्राह्मण पुनः शक्तिशाली हो गये और मुसलमानों के आक्रमण के समय से ही वे हिन्दुओं की शक्ति के सर्वप्रधान प्रतीक थे। किन्तु ये राजपूत मूल रूप से क्षत्रिय नहीं थे। उनका उदय या तो जनता के बीच से हुआ था, या वे विदेशी थे। इसलिये उन्होंने ब्राह्मणों का प्रभुत्व स्वीकार करना ही श्रेयस्कर समझा, अन्यथा उनके लिये सत्ता का उपयोग असम्भव था। राजपूत राज्य विशुद्ध फौजी साम्राज्यवाद था, जिसमें राजपूत शासकों तथा लोभी ब्राह्मण पुरोहितों ने गठबन्धन करके जनता को खूब चूसा और अपने महलों और मन्दिरों को अपार धन से भर लिया पुरोहिताई के भ्रष्टाचार की कोई सीमा नहीं थी। मुसलमानों के हमले के समय भी, जबकि हमलावरों ने बड़े-बड़े शहरों और मन्दिरों का धन लूटना शुरू किया। ब्राह्मण भी अलग अपने मन्दिरों के मोहक वातावरण में तल्लीन थे।[165]

इस प्रकार राजपूतों एवं ब्राह्मणों की शासन सम्बन्धी कार्यों में एक साथ दखलंदाजी करने का परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी अपने कर्तव्यों से विमुख होकर

राजनीतिक कार्यों में लुप्त होने लगे साथ ही साथ उन दोनों के मध्य संघर्ष, होना भी स्वाभाविक हो गया, क्योंकि ब्राह्मणों का कार्य क्षेत्र धर्म था, जबकि क्षत्रियों का कार्यक्षेत्र राजनीति था। एक ओर तो ब्राह्मण स्वयं धर्म सम्बन्धी मामलों में अपने को जकड़े हुये थे, और दूसरी ओर अन्य वर्ग के कार्यों में भी हस्तक्षेप करने लगे थे।

प्रशासनिक कार्यों में ब्राह्मण के संलग्न होने के प्रमाण साहित्य में भी मिलते हैं। मेघातिथि[166] ने आपत्काल में ब्राह्मण को क्षत्रिय कर्म करने का भी अधिकार दिया है। सोमदेव[167] भी ब्राह्मण को मंत्री पद देने की बात करता है। परन्तु वह वित्त विभाग के संदर्भ में ब्राह्मण, क्षत्रिय और किसी सम्बन्धी को अनुपयुक्त बताता है। क्योंकि ब्राह्मण जातिगत स्वभाव के कारण प्राप्त धन को कठिनाईपूर्वक देता है अथवा नहीं भी देता। इस ग्रन्थ से ब्राह्मणों का दूत होना भी ध्वनित होता है।

कतिपय अभिलेखों से ब्राह्मणों द्वारा गांव के शासन संचालन पर प्रकाश पड़ता है, नाडोल लेख[168] (1141 ई0) में घालोप गांव को आठ ब्राह्मणों के बाड़े में बाँटे जाने और प्रत्येक बाड़े से दो ब्राह्मण प्रतिनिधि के होने की सूचना मिलती है। अन्य अभिलेखों[169] में भी ब्राह्मणों के उच्च प्रशासनिक पदों पर आसीन होने का उल्लेख मिलता है। कतिपय अभिलेख[170] में भाकमित्र को प्रधानमंत्री कहा गया है, और उसे मन्दिरों, तालाबों, कुओं और उपवन के निर्माण का श्रेय दिया गया है। कोनी शिलालेख[171] में सोढ़देव को मंत्री कहा गया है। इसके पुत्र पुरुषोत्तम को मंत्रीत्व के गुणों से पूर्ण कहा गया है जिसे कोमल के राजा बल्देव द्वितीय द्वारा सर्वाधिकारिन का पद दिये जाने का उल्लेख है। इसी लेख में पुरुषोत्तम के युद्ध क्षेत्र में सैनिक कार्यों का भी उल्लेख है। इसी प्रकार खारोड़ अभिलेख[172] में ब्राह्मण राजदेव को शस्त्र और शास्त्र में प्रवीण बताया गया है। इसके पुत्र गंगाधर को इस बात का श्रेय दिया गया है कि उसने अपनी नीति से राज्य का उद्धार किया। उसकी नीति से प्रभावित होकर राजा बल्देव तृतीय ने उसे प्रधानमंत्री का पद प्रदान किया और उसकी सहायता से राज्य कण्टकों से राज्य को स्वतंत्र कराने में सफल हुआ। इस प्रकार ब्राह्मणों द्वारा प्रशासनिक और सैन्य कर्मों के पर्याप्त उदाहरण अभिलेखों से प्राप्त होते हैं।

कायस्थों के उदय से ब्राह्मणों के अधिकारों पर आघात पहुंचा। साथ ही ब्राह्मणों का जो एकाधिकार वैदिककाल से चला आ रहा था, इनके उदय से समाप्त हो गया। पूर्वमध्यकाल में बढ़ते हुये भूमि अनुदानों से सम्बन्धित कागज-पत्रों को सुरक्षित रखने के लिये लिपिकों के एक विशिष्ट वर्ग का आविर्भाव हुआ जिसे "कायस्थ" नाम दिया गया। कायस्थ केवल लेखक और गणक ही नहीं रहे, वे अनेक ऊँचे पदों पर भी नियुक्त हुये अपनी योग्यता के बल पर उन्होंने प्रशासन में ऊँचे-ऊँचे पद प्राप्त कर लिये तथा शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने प्रमुखता प्राप्त की। कुछ कायस्थ इतने समृद्ध हो गये थे कि उन्होंने ब्राह्मणों के लिये मन्दिरों तथा बौद्धों के लिये मठों का निर्माण करवाया। इस प्रकार प्राचीन ब्राह्मण वर्ग के लिये उनकी स्थिति चिन्ता का कारण बनी।

कायस्थों द्वारा उच्च प्रशासनिक पद प्राप्त करने के कारण ब्राह्मणों का एकाधिकार समाप्त होने लगा तथा उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा को भी ठेस पहुंची। चूंकि भूमिदान सम्बन्धी अभिलेख कायस्थ पदाधिकारी ही सुरक्षित रखते थे और ये अधिकार ब्राह्मणों से ही सम्बन्धित थे। अत: सम्भव है कि उन्होंने ब्राह्मणों को परेशान किया हो। क्षेमेन्द्र के अनुसार कायस्थों के उदय से ब्राह्मणों के अधिकारों पर आघात पहुंचा है।[173] रामशरण शर्मा के अनुसार कायस्थों की उच्च पदों की नियुक्ति से ब्राह्मणों का एकाधिकार समाप्त हो गया।[174] ब्राह्मणों का कायस्थों से अप्रसन्न होने का एक दूसरा कारण था भूमि सम्बन्धी दस्तावेजों में इनके द्वारा हेराफेरी[175] इस प्रकार ब्राह्मण कायस्थों के प्रतिद्वन्दी बन गये तथा उन्होंने कायस्थों को 'शूद्र' घोषित कर दिया।

पूर्वमध्यकाल में धर्म का स्वरूप भी परिवर्तित हो रहा था। स्मार्तकर्मो के प्रति समाज की उदासीनता को प्रकट करते हुये अपरार्क में लिखा है कि "विवाहाग्नि" में नियत जो वैश्यदेव कर्म है उन्हें जब अनेक द्विजाति के लोग नहीं करते तो शूद्र के लिये क्या कहा जाये ? इस काल के अभिलेखों में ब्राह्मणों को इन्हीं कर्मो यथा, वजि, चरु, वैश्य देव, अग्निहोत्र आदि के सम्पादनार्थ प्रोत्साहन देने के लिये भूमिदान देने का उल्लेख है। आठवीं शताब्दी से श्रौत यज्ञों का प्रचलन तीव्रता से घटता गया, पूर्वमध्यकाल के उत्तरार्द्ध में तत्सम्बन्धित अनेक कर्मकाण्ड कलिवर्ज्य

घोषित कर दिये गये। श्रौत यज्ञों के अप्रचलन के कारण ही पराशर माधवीय में माधवाचार्य ने कहा है कि कलियुग में याजन से जीवन दुर्लभ है। इन्हीं परिस्थितियों में ब्राह्मण के विहित कार्मो में व्यापक परिवर्तन हुये। पराशर ने उन्हें धर्मशास्त्रानुदेशित 6 कर्मो के साथ कृषि कर्म करने का अधिकार भी प्रदान किया है, जो उनकी परिवर्तित स्थिति को व्यक्त करता है।

तद्‌युगीन परिवर्तित धार्मिक, सामाजिक पृष्ठभूमि में ब्राह्मण का आर्थिक आधार क्षीण हो रहा था। श्रौत कर्मो के बढ़ते अप्रचलन से कलियुग में याजन से जीविका दुर्लभ थी। दशकुमार चरित में यज्ञादि ही ब्राह्मणों की आजीविका कही गयी है। देवकोशेपजीवी, बहुयाजक, भृतक, मृतक, अध्यापक अथवा वेदविक्रमी ब्राह्मणों की श्राद्ध में वर्ज्यनीयता से प्रकट है कि ये कृत्य अपेक्षाकृत कम आदरणीय थे। वाममार्गी विचारधारा ने वैश्य, शूद्र को भी आचार्य पद का अधिकार प्रदान कर ब्राह्मणों के आचार्यत्व और दान ग्रहण करने के एकाधिकार पर आघात पहुंचाया। भक्ति मार्ग के विकास के कारण भी मनुष्य अपने आध्यात्मिक उत्थान के लिये ब्राह्मणों पर आश्रित नहीं था। धर्मशास्त्रों में वर्णित कलियुग में धर्म के निरन्तर ह्रास के कारण ब्राह्मणों की आर्थिक और सामाजिक प्रतिष्ठा समाज में घटती गयी, क्योंकि धर्म के कर्मकाण्डीय पक्ष के वे ही सम्पादनकर्ता थे। पराशर के आधार पर इस काल के धर्मशास्त्रकारों ने इस तथ्य को स्थापित किया कि कलियुग में दान ही मुख्य धर्म है। धर्म के स्वरूप में उपरोक्त परिवर्तन के पीछे ब्राह्मणों की आर्थिक समस्या भी निहित थी। पौराणिक धर्म के विकास में ब्राह्मणों का व्यक्तिगत सामाजिक और धार्मिक हित ब्राह्मण संस्कृति की सुरक्षा के प्रश्न से कम न था।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज में ब्राह्मणों के संदर्भ में कुछ विशिष्ट बातें देखने को मिलती है चूंकि यह काल व्यवहारत: जाति व्यवस्था के अभिनय का काल था और ब्राह्मणों का वर्ण आधारित ढांचा पीछे पड़ गया था। ऐसे समय में ब्राह्मणों की स्थिति शोचनीय होने लगी थी। राजपूतों के अभ्युदय ने भी इस कार्य में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज में क्षेत्रीय आधार पर विभाजन

प्रारम्भ हो गया व इनकी शक्ति में बिखराव हो गया। यही नहीं इस काल तक आते-आते ब्राह्मण अपने ब्राह्मणोचित कर्मों से विमुख होते दिखायी पड़ते हैं, जो इनके सामाजिक पतन का एक कारण सा लगता है। कुल मिलाकर वैदिककालीन ब्राह्मण का स्वरूप बारहवीं शताब्दी तक आते-आते बहुत कुछ परिवर्तित हो गया। भले ही इस परिवर्तन के पीछे सामाजिक गतिविधियां, धार्मिक क्रियाकलापों, राजनीतिक उथल-पुथल एवं वैदेशिक आक्रमणों जैसे कुछ कारणों का हाथ रहा हो जिनके कारण ब्राह्मणों को अपनी पूर्व की स्थिति में कतिपय महत्वपूर्ण परिवर्तन करने के लिये विवश होना पड़ा हो।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में क्षत्रियों की भूमिका-

क्षत्रिय समाज का दूसरा महत्वपूर्ण वर्ण था जिसे लक्ष्मीधर ने 'क्षत्रात' 'बांणम' कहा है।[176] जिसका अर्थ है कि तीनों वर्णों की हानि व भय से रक्षा करने वाला वर्ग, जिसका मुख्य कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना, विषयों में आसक्त न होना, यज्ञ करना और दान देना था। पूर्वमध्ययुग के विदेशी लेखकों[177] ने क्षत्रियों के शौर्य और युद्ध कला, में पारंगत होने की प्रशंसा की है। नवीं सदी के इब्नखुर्ददबा ने लिखा है कि क्षत्रिय के सम्मुख सब लोग सिर झुकाते थे लेकिंन ये किसी को सिर नहीं झुकाते थे।[178] पर यह बात उपर्युक्त नहीं प्रतीत होती। यह तो सम्भव है कि राज्य प्रशासन को नियंत्रण में रखने के कारण सभी लोग उनको आदर की दृष्टि से देखंते रहे हों, पर किसी के सामने सिर न झुकाने की बात अतिशयोक्तिपूर्ण लगती हैं। अलबेरुनी ने मध्ययुग में क्षत्रियों की स्थिति पर प्रकाश डालते हुये स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि दूसरा वर्ण क्षत्रिय है।[179] और जैसा लोगों का कहना है कि ब्रह्मा की भुजाओं से उत्पन्न हुये उनका पद ब्राह्मणों से कम नहीं था।

अधीतकाल तक आते-आते क्षत्रियों को भी परिस्थिति के अनुसार अन्य वर्णों के कर्म अपनाने का अधिकार दिया गया। इस युग के कुछ धर्मशास्त्रकारों ने क्षत्रियों को वैश्य कर्म अपनाने की छूट प्रदान कर दी।[180] बस यह प्रतिबन्ध उन पर जरूर लगा दिया गया कि वे ऐसी कृषि नहीं करें जिसमें हिंसा होती हो।[181] इसके पीछे भी यह कारण दिखायी देता है कि क्षत्रियों पर भी वैश्यों की भांति बौद्ध व जैन

धर्म की अहिंसा की नीति का प्रभाव पड़ा था। इस युग में जो क्षत्रिय शस्त्रोपजीवी नहीं बन सके वे कृषि एवं व्यापार करने लगे जिसका स्पष्ट विवरण 933 ई0 और 893 ई0 के कुछ अभिलेखों[182] से प्राप्त होता है। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि कतिपय धर्मशास्त्रकारों ने भी आपातकाल में क्षत्रियों को अपने से निम्न वर्ण के कर्म अपनाने की छूट प्रदान की थी।[183] परन्तु इस युग में इस परिस्थिति को ध्यान में रखकर यह परिवर्तन किया गया कि यदि क्षत्रिय शस्त्र विद्या में पारंगत नहीं है या देश की रक्षा जैसे अपने कर्तव्यों का पालन करने में असमर्थ है तो कृषि व व्यापार कर सकता है।[184] परन्तु ब्राह्मणों के कार्यों में दखलंदाजी का अधिकार उन्हें फिर भी नहीं प्रदान किया गया था। उनका प्रमुख कर्तव्य ब्राह्मणों का दान इत्यादि देना एवं वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना ही था। लेकिन मेघातिथि ने मनु पर टीका लिखते हुये इसमें संशोधन का प्रयास किया और कहा कि क्षत्रिय ब्राह्मण की सम्पत्ति छीन भी सकता है व उनको देश से निकाल भी सकता है।[185] जिसकी अभिपुष्टि अलबेरुनी के इस कथन से भी होती है कि क्षत्रिय इस युग में वेद पढ़ते थे, सीखते थे, यद्यपि पढ़ाने का अधिकार उनको प्राप्त नहीं था।[186] इस प्रकार यदि हम अधीतकालीन व्यावहारिक धरातल पर उतर कर देखें तो पाते हैं कि क्षत्रियों द्वारा ब्राह्मणों के कार्यक्षेत्र में दखलंदाजी पर्याप्त रूप में विद्यमान थी।[187] प्राचीनकाल से ही ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के मध्य स्वयं को ऊँचा दिखाने का जो दौर प्रारम्भ हुआ था वह पूर्वमध्ययुग में भी निर्बाध गति से चल रहा था। जहां एक ओर क्षत्रिय ब्राह्मणों के कार्यक्षेत्र में घुसने का प्रयास कर रहे थे वहीं दूसरी तरफ अनेक ब्राह्मण भी क्षत्रियों के कार्य करते दिखायी पड़ते हैं। इस युग में हम अनेक विद्वान क्षत्रियों के उदाहरण पाते हैं जैसे परमार राजा भोज, मिहिर भोज, प्रतिहार और गाहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र प्रसिद्ध विद्वान थे।[188]

प्राचीनकाल में सम्पूर्ण भारत में यह उक्ति प्रचलित थी कि 'क्षत्रियों राजा उच्चयते'' अर्थात् क्षत्रिय राजा कहलाता है।[189] पर परवर्तीकाल में ऐसा कोई नियम नहीं पाते कि क्षत्रिय ही राजा के पद को संभाले। कतिपय धर्मशास्त्रकारों द्वारा इस नियम को निर्धारित करने के पीछे सम्भवतः यह धारणा रही होगी कि वर्णाश्रम व्यवस्था समाज में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित रहे और प्रत्येक वर्ण अपने-अपने कर्तव्यों का पालन

करें। क्षत्रियों में चूंकि शौर्य तथा पराक्रम की अधिकता थी इसलिये उनको देश संभालने का कार्य सौंपा गया। परन्तु पूर्वमध्यकाल तक आते-आते हम अन्य वर्णों के लोगों को भी राज्यपद पर आसीन पाते हैं। जैसा कि श्वानच्वांग के इस विवरण से स्पष्ट है कि मतिपुर और सिन्ध देश के राजा शूद्र थे और कामरूप का शासक ब्राह्मण था।[190] इसके अतिरिक्त बंगाल के सातवीं सदी के एक लेख में शूद्र राजा का उल्लेख मिलता है।[191] दक्षिण में अनेक ऐसे लेख प्राप्त हुये हैं जिनमें नायक तथा रेड्डी वंश के शासक अपने को शूद्र कहते हैं। इन वास्तविकताओं को ध्यान में रखते हुये मनु के टीकाकार मेघातिथि ने यह लिखा है कि राजा शब्द अक्षत्रिय के लिये भी प्रयुक्त हो सकता है बशर्ते कि वह राज्य का स्वामी हो।[192] दूसरे शब्दों में यह अनिवार्य है कि राजा क्षत्रिय ही हो। ऐसे उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि आलोच्य युग में सम्भवतः क्षत्रियों के अधिकारों का हनन किया जा रहा था। इसका कारण शायद यह था कि पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज सामन्तवादी ढांचे में इस कदर ढल चुका था कि वर्ण व्यवस्था का पूर्व आधारित ढांचा न चाहते हुये भी परिवर्तन के लिये विवश हुआ होगा। वैसे तो पूर्वमध्यकालीन सामन्तवादी प्रवृत्तियों के कारण समाज में होने वाले सामाजिक परिवर्तन पर इस शोध-प्रबन्ध में एक अलग अध्याय रखा गया है लेकिन प्रसंगतः यह कहना समीचीन होगा कि सामन्तवादी ढांचे में सबसे अधिक नुकसान क्षत्रियों को ही पहुंचा था।[193] इस सामन्ती समाज में भूमिदानों की प्रक्रिया से ब्राह्मणों ने स्वयं को धीरे-धीरे इतना समृद्ध बना लिया कि इनकी आज्ञाओं की अवहेलना सामान्यतया कठिन हो गयी। इन परिस्थितियों में क्षत्रिय समाज का पूर्व निश्चित दायरा संकुचित होने लगा। दूसरी तरफराज पूतों का अभ्युदय, राजवंशों की छिटपुट स्थापनायें[194] तथा क्षत्रियों का अपने विहित कर्मो से नीचे गिर जाने के कारण[195] आये हुये बदलाव जैसी अनेक परिस्थितियों के विद्यमान होने के कारण अल्तेकर[196] ने क्षत्रियों को दो भागों में विभाजित करके अध्ययन करने का प्रयास किया। 1. सत् क्षत्रिय तथा 2. असत् क्षत्रिय जिसका स्पष्टीकरण इब्नखुर्ददबा के विवरण से भी ज्ञात होता है जिसमें सबूकवुरिया तथा कतारिया दो वर्गो का उल्लेख किया गयाहै।[197] अल्तेकर ने इन दो वर्गो की स्थिति को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि सत् क्षत्रिय के अन्तर्गत राजवंश, सामंत वर्ग और योद्धा क्षत्रिय वर्ग को सम्मिलित किया गया

है। कतरिया साधारण क्षत्रिय थे जो कृषि व्यापार इत्यादि व्यवसायों से अपनी आजीविका चलाते थे।[198] आहार अभिलेख में क्षत्रिय व्यापारी साहाक का उल्लेख मिलता है।[199] अलबेरुनी के विवरण से भी यह पता चलता है कि राजपूत क्षत्रिय ब्राह्मणों के समान समझे जाते थे। किन्तु खेतिहर वैश्य के बराबर थे और शूद्रों से बहुत ऊँचे नहीं थे क्योंकि उन्हें वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था और उनके धार्मिक कृत्य वैदिक मंत्रों के बजाय पुराणों में वर्णित मंत्रों द्वारा होते थे।[200] दसवीं शताब्दी के एक अभिलेख से भंटिडा के स्थायी परिवार के राजा विभूषन के सत् क्षत्रिय होने का पता चलता है।[201] उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि 12वीं सदी तक आते आते क्षत्रिय वर्ण के ये दोनों वर्ग समाज में विद्यमान हो गये थे। पर यहां प्रश्न यह उठता है कि इन दोनें वर्गों का निर्धारण कैसे हुआ? इस सम्बन्ध में अरबी यात्रियों का यह कहना है कि खेती करने वाला वर्ग अन्य वर्गों की अपेक्षाकृत ऊँचा था।[202] इसलिये उससे राजा चुने जाने लगे। सी0 वी0 वैद्य ने इस कथन का खण्डन करते हुये लिखा है कि यह सम्भव है कि राजा शुरू में खेती करवाते रहे हों और बाद में उनकी आर्थिक स्थिति में गिरावट के कारण वे खेती करने लगे हों परन्तु कृषकों में से राजा चुनने की बात उचित नहीं प्रतीत होती है।[203] इसमें संदेह नहीं कि क्षत्रिय वर्ण के अन्तर्गत हुये इस विभाजन के पीछे आर्थिक स्थितियां काफी हद तक जिम्मेदार थी। परन्तु इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी विद्यमान थे। पृथ्वीराज़ विजय में क्षत्रिय वर्ण का विभाजन अलग स्वरूप में दिखायी पड़ता है।[204] वर्ण रत्नाकर में क्षत्रियों की दो शाखाओं का उल्लेख किया गया है- प्रथम शाखा के अन्तर्गत 36 कुलीन वर्गों को रखा है और द्वितीय शाखा के अन्तर्गत उन आगणित जातियों को रखा है जो कृषि कार्य करने लगे थे।[205] इस प्रकार इस विभाजन के पीछे दो कारण दिखायी देते हैं एक तो सामन्तवादी प्रवृत्तियों का हावी होना, दूसरा क्षत्रिय वर्ग में उत्पन्न उच्चता की भावना का उदय जिसका पता इस बात से भी चलता है कि गहड़वाल और सेन राजा 11वीं शताब्दी में राजीनीतिक क्षितिज पर उभर कर आये तो उनको क्षत्रिय शाखा में स्थान नहीं दिया गया।[206] इस प्रकार पूर्वमध्ययुग में क्षत्रियों की दशा में हुआ यह एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था।

पूर्वमध्ययुगीन सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में क्षत्रिय वर्ग के बीच एक नया वर्ग अस्तित्व में आया जो 'राजपूत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिस प्रकार इस युग में आकर ब्राह्मणों के बीच स्थानीयता की भावना एवं कतिपय अव्यावहारिकताओं के कारण उनमें कई विभाजन हो गये थे उसी प्रकार क्षत्रिय वर्ग भी पूर्वमध्यकाल में कई उपजातियों में विभक्त हो गया। ''राजपुत्र'' शब्द का प्रयोग जो प्राचीन भारत में राजकुमार के अर्थ में किया जाता था, पूर्वमध्यकाल में सैनिक वर्गों तथा छोटे-छोटे जमींदारों के लिये किया जाने लगा और आठवीं सदी के उपरान्त 'राजपूत' शब्द शासक वर्ग का पर्याय बन गया। नाडौल के चाहमानों के अभिलेख से प्रकट होता है कि यद्यपि 'राजपुत्र शब्द का अर्थ 'राजा का पुत्र' ही बना रहा फिर भी उसके अर्थ में निश्चय ही क्रमिक परिवर्तन हुआ था क्योंकि अब उसका अर्थ विशिष्ट रूप से ऊँची राजनीतिक स्थिति की ओर नहीं अपितु एक वंश समूह की ओर संकेत करता है।[207] इस प्रकार राजपुत्र का व्यापक अर्थ था 'राजा के वास्तविक पुत्र से लेकर निम्नतम श्रणी का भूस्वामी।

कुमारपाल चरित[208] एवं वर्ग रत्नाकर[209] में परम्परागत 36 राजकुलों की सूची मिलती है जिसका स्पष्टीकरण राजतरंगिणी से भी होता है।[210] यद्यपि दोनों की सूचियों में भिन्नता थीं पर इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन्हें इस ढंग से बनाया गया होगा कि आवश्यकता पड़ने पर इनमें परिवर्तन किया जा सके। राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। कुछ इतिहासकार[211] इन्हें विदेशी मानते हैं कुछ शुद्ध भारतीय।[212] कर्नल टाड[213] एवं विलियम कुक[214] राजपूत जाति को प्राचीन आर्य नहीं मानते उनका मानना है कि सीथियन जाति के वंशज हैं।[215] उनकी दृष्टि में तत्कालीन समाज में कई विदेशी जातियां निवास करती थीं। ब्राह्मणों का बौद्ध एवं अन्य नास्तिक धर्मों से द्वेष था। अतः उन्होंने इन विदेशी जातियों को संस्कार द्वारा शुद्ध करके भारतीय वर्ण व्यवस्था में स्थान प्रदान कर दिया जो बाद में राजपूत कहे जाने लगे। वी0 ए0 स्मिथ के अनुसार[216] उत्तर पश्चित की राजपूत जातियों प्रतिहार, चौहान, परमार, चालुक्य आदि की उत्पत्ति शकों व हूणों से हुई थी। इसी प्रकार चंदेल राष्ट्रकूट आदि मध्य तथा दक्षिणी क्षेत्र की जातियाँ, गोड़ जैसी देशी आदिम जातियों की संतान थी। उनका कहना है कि शक, कुषाण आदि विदेशी

जातियों ने हिन्दू धर्म ग्रहण कर लिया।[217] विदेशी शासकों को भारतीय समाज में 'क्षत्रियत्व' का पद प्रदान कर दिया गया।[218] रामशरण शर्मा का यही मानना है कि यूनानी, शक, पार्थियन आदि का अपना कोई बल प्रबल धर्म या संस्कृति नहीं होने के कारण उन्हें द्वितीय श्रेणी के क्षत्रियों के रूप में हिन्दू समाज व्यवस्था में खपा दिया गया।[219] भण्डारकर ने भी विदेशी मत का समर्थन करते हुये लिखा है कि अग्निकुल के चार राजपूत वंश प्रतिहार, परमार, चौहान, सोलंकी, गुर्जर नामक विदेशी जातियों से उत्पन्न हुये थे।[220] उनके अनुसार चौहान तथा गुहिलोत जैसे कुछ वंश गुर्जर जातियों के पुरोहित थे।[221] कुछ विद्वानों ने भण्डारकर के इस कथन का खण्डन करते हुये यह तर्क दिया कि गुर्जर जाति को विदेशी इसलिये नहीं माना जा सकता क्योंकि हमें अनेक गुर्जर ब्राह्मणों का वर्णन इतिहास में मिलता है। जबकि विदेशियों को या तो शूद्र वर्ण में रखा गया था या फिर शक्तिशाली क्षत्रिय वर्ग के अन्तर्गत।[222] इस संदर्भ में भण्डारकर का कहना है कि कालक्रम के विभाजन में गुर्जरों का विभाजन ब्राह्मण, बनिया, कुम्हार, सोनार यहां तक कि चरवाहा और किसान के रूप में भी हो गया, जिन्हें लोग शूद्र कहते थे।[223] रामशरण शर्मा ने भी इस तर्क से सहमति व्यक्त करते हुये लिखा है कि यह सोचना गलत है कि सभी विदेशियों को क्षत्रिय या राजपूत के रूप में स्वीकारा गया।[224] उन्होंने जाटों का उदाहरण देते हुये लिखा है कि चालुक्य, परमार, चाहमान, तोमर, गहड़वाल आदि का मूल मध्य एशियाई ही था। जबकि जाट मध्य एशियाई जनों से सम्बन्धित होते हुये भी राजपूत नहीं कहलाये।[225] खप नामक विद्यमान जाति संघ की बनावट से यह संकेत मिलता है कि वह इन कृषकों और उन सैनिकों की एक मिश्रित जाति थी जो गुर्जर, तोमर और अन्य राजपूत कुलों से लिये जाते थे।[226] तेरहवीं शताब्दी के एक अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि तोमर और गुर्जर जातियों के प्रतिनिधि जाट सभा में बैठते थे।[227] हमें कतिपय साक्ष्यों से यह भी पता चलता है कि जाट, अहीर और गुर्जरों का साथ-साथ हुक्का पानी होता था।[228] इससे यह स्पष्ट है कि सभी विदेशियों को राजपूत के रूप में नहीं स्वीकार किया गया होगा जिससे वह अन्य वर्णो में शामिल हो गये।[229] परन्तु गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा तथा सी0 वी0 वैद्य[230] जैसे इतिहासकार राजपूतों को विशुद्ध क्षत्रिय मानते हैं उनका कहना है कि यदि ये विदेशी होते तो भारतीय

संस्कृति के प्रति इतनी भक्ति वे कभी नहीं रखते।[231] इस संदर्भ में उन्होंने मनु स्मृति का उदाहरण दिया है कि पौण्ड्रक, चोल, द्रविड़, यवन, शक, चीन मूलतः क्षत्रिय थे किन्तु वैदिक क्रिया के त्याग एवं ब्राह्मणों से विमुख हो जाने के कारण, उनका क्षत्रियत्व समाप्त हो गया।[232] बी0 एन0 एस0 यादव ने भी राजपूतों को भारतीय मानते हुये यह तर्क दिया है कि यह आश्चर्यजनक बात है कि यवन और उनकी अन्य शाखायें शक व पार्थियन को आन्ध्र-प्रदेश*के राजा गौतमी पुत्र द्वारा 150 ई0 में हराये जाने के उपरान्त पहाड़ी इलाकों और राजस्थान से पीछे हटा दिया गया था और यही समय विदेशी जातियों का हिन्दू धर्म में मिलने का बताया जाता है जो बाद में राजपूत कहलाये तो दो परस्पर विरोधी बातें एक साथ सम्भव कैसे हो सकती हैं।[233] अतः ठोस प्रमाण के अभाव के कारण बी0 एन0 एस0 यादव ने राजपूतों का विदेशी होना कल्पना मात्र ही बताया है।[234]

राजपूतों की उत्पत्ति के सम्पूर्ण प्रश्न को सिर्फ देशी-विदेशी श्रेणी में ही रखकर देखना उचित नहीं होगा क्योंकि राजपूत वंश के उदय के पीछे उस समय की कतिपय समाजार्थिक प्रक्रियायें भी उत्तरदायी रही होगी जैसे अनेक नवीन जातियों की संरचना, क्षत्रिय स्तर प्राप्त करने के लिये अन्य वर्गों द्वारा किया जाने वाला प्रयास तथा सामाजिक सम्बन्धों में स्थानीयता पर जोर आदि।[235] शायद इसीलिये बी0 डी0 चट्टोपाध्याय का कहना है कि राजपूतों की उत्पत्ति के प्रश्न का विश्लेषण एक सम्पूर्ण प्रक्रिया के रूप में होना चाहिये।[236] अपने कथन के समर्थन में उन्होंने निम्न प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं।

पूर्वमध्ययुगीन दस्तावेजों में राजपूतों के उदय की प्रक्रियाओं के दो महत्वपूर्ण संकेत हैं-

1) एक स्तर पर तो सम्भवतः प्रक्रिया को नये क्षेत्रों के उपनिवेशीकरण की बहुलता के साथ जोड़ना होगा।[237] विस्तृत ऐतिहासिक भौगोलिक अध्ययन की अनुपस्थिति में बस्तियों की संख्या में वृद्धि का दावा करना केवल आभास मात्र होगा किन्तु पुरातात्विक अवशेषों के विस्तृत विवरण तथा इस काल के अभिलेखों और अनेक नये स्थानों के नामों के परिप्रेक्ष्य में उपरोक्त अनुमान की वैधता के बारे में कोई संदेह नहीं

रह जाता।[238] चाहमानों के राज्य को इंगित करने वाला सपादलक्ष का उल्लेख सम्भवत: ग्रामीण बस्तियों के विस्तार की ओर इंगित करता है।[239]

2) इस उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ एक ऐसी अर्थव्यवस्था भी जुड़ी थी जिसे अपेक्षाकृत अधिक विकसित कहा जा सकता है। उपनिवेशीकरण के प्रमाण बस्तियों की संख्या में होने वाली महत्वपूर्ण वृद्धि में ही नहीं, अपितु कुछ अभिलेखीय उल्लेखों में भी दृष्टिगोचर होते हैं।[240] जिनसे कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था के विस्तार का संकेत मिलता है। कक्क के 861 ई0 के घटियाला अभिलेख में उसे अगम्य वटनानक क्षेत्र में मवेशियों के अतिक्रमण तथा अग्नि द्वारा गांवों के विध्वंस का श्रेय दिया गया है।[241] कक्कू ने इस क्षेत्र को "नीलकमल" के पत्रों से सुगंधित और आम्रकुंजों तथा मधुक वृक्षों से मनोहारी बना दिया और अत्युतम गन्ने के पौधों से आच्छादित किया।[242] घटियाला के 861 ई0 के ही एक अन्य अभिलेख में एक स्थान के पुनर्वास का उल्लेख करते हुये उसे "आमीर जन दारुन" अर्थात् अमीरों के निवास के कारण भयानक कहा है।[243] घटियाला अभिलेखों में बार-बार कहा गया है कि कक्क ने इस क्षेत्र में "हट्ट" एवं महाजन स्थापित किये जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि साधुजनों के निवास के अयोग्य होने के कारण अब उन्हें ब्राह्मणों, सैनिकों एवं व्यापारियों द्वारा खचाखच भर दिया गया।[244] पश्चिमी एवं मध्य भारत के अनेक अभिलेखों में इसी प्रकार शबरों, भिल्लों एवं पुलिंदों के दमन का वर्णन मिलता है।[245] उपरोक्त विवेचन का अर्थ यह हुआ कि जब राजपूत राजनय व्यवस्था का उदय हो रहा था, तब राजस्थान और पश्चिमी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में कबायली क्षेत्रों के रूपांतरण की प्रक्रिया चल रही थी। बाद में राजपूत शक्ति कहलायी जाने वाली शक्ति का क्षेत्रीय विस्तार कम से कम कुछ क्षेत्रों में भूतपर्वू कबायली बस्तियों का अन्त करके किया गया। इस संदर्भ में राजपूत कुलों की सूचियों में सम्मिलित दो वर्गो के उदाहरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है एक तो वे लोग जो कबायली पृष्ठभूमि से राजपूत स्तर को प्राप्त करने में सफल बताये जाते हैं।[247] तथा दूसरा उदाहरण हूणों[248] का है। इन दो वर्गो का राजपूत कुल के ढांचे में सम्मिलित होना इस धारणा को असत्य सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि यह ढांचा केवल ऐसे वर्गो द्वारा बना, जो आरम्भ

से ही 'विदेशी' तथा 'स्वदेशी' वंशक्रम में निबद्ध थे। राजनीतिक उत्कर्ष के अपने प्रयास में राजपूतों ने आर्थिक एवं सामाजिक आधार बनाने की प्रक्रिया भी जारी रखी।

अर्थव्यवस्था के स्तर पर आरम्भिक राजपूतों के उदय के पीछे भूमिदान की प्रक्रिया भी उत्तरदायी थी।[249] दान की गयी भूमि को प्राप्त करने वालों के अधिकारों में अन्तर था। जहां यदि एक बड़ा जागीरदार अपने राजा की अनुमति के बिना भूमिदान देने का अधिकार रखता था तो वहीं दूसरा छोटा जागीरदार भूमिदान राजा की अनुमति के बिना नहीं कर सकता था। इस प्रकार आर्थिक दशा से उच्च सामंत समय आने पर अपनी राजनीतिक सत्ता भी स्थापित करने लगे। गुजरात व राजस्थान में प्रारम्भिक राजपूत वंश के उदय के पीछे यही कारण विद्यमान था।[250] बारहवीं सदी की रचना अपराजित पृच्छा से पता चलता है कि राजपुत्र वर्ग में अधिकांशतः छोटे भूमिधर सरदार ही शामिल थे जो एक या इससे अधिक गांवों के निवासी होते थे।[251] उत्तर गुप्त युग में जाति प्रथा की बढ़ती हुई कठोरता के कारण समाज में इनका विशिष्ट वर्ग बन गया। इसी कारण विशुद्धानन्द पाठक जैसे इतिहासकारों का यह मत है कि राजपूत जाति में कई क्षत्रियेत्तर वर्ग भी शामिल थे।[252]

सामाजिक क्रिया के एक महत्वपूर्ण चरण "ब्रह्मक्षत्र परम्परा[253] को पूर्वमध्यकालीन समाज में व्यापक आधार प्राप्त हो गया। इससे तात्पर्य उन वंशों से है जो पहले ब्राह्मण थे किन्तु बाद में क्षत्रिय हो गये थे। सम्भवतः यह क्रमिक परिवर्तन, जोधपुर क्षेत्र से ही नवीं शताब्दी के दो प्रतिहार अभिलेखों की तुलना द्वारा स्पष्टतः व्यक्त किया जा सकता है।[254] 837 ई0 का एक अभिलेख प्रतीहार ब्राह्मणों एवं प्रतीहार क्षत्रियों की उत्पत्ति की व्याख्या हरिश्चन्द्र ब्राह्मण की दो पत्नियों एक ब्राह्मण दूसरी क्षत्रिय के संदर्भ में करता है।[255] परन्तु 861 ई0 के दूसरे अभिलेख की वंशावली में ब्राह्मण पत्नी का उल्लेख नहीं है।[256] बिजौलिया लेख में चाहमान शासक सामन्त राज को 'विप्रश्रीवत्स' गोत्र में उत्पन्न कहा गया है।[257] पंगल सूत्रवृत्ति में परमार नरेश मुंज[258] को तथा बल्लाल चरित में सेनवंशी राजाओं को 'ब्रह्म क्षत्र कुल' का

बताया गया है।[259] इसी प्रकार चाट्सु लेख[260] गुहिल वंश को 'ब्रह्मक्षत्र' कहता है। इससे यह स्पष्ट है कि कई ब्राह्मण कुलों ने भी राजपद प्राप्त कर लेने के बाद अपने को राजपूत घोषित कर दिया तथा कालान्तर में समाज में उन्हें इसी रूप में मान्यता प्राप्त हो गयी।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजपूतों की उत्पत्ति के प्रश्न को मात्र विदेशी अथवा स्वदेशी की श्रेणी में न रखकर सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक प्रक्रिया के रूप में देखना अधिक उचित होगा। प्रारम्भ में राजपूतों का उदय एक राजनैतिक प्रक्रिया थी जिसमें राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के लिये अनेक वर्ग उन आदर्शों का पालन करते थे, जो तत्कालीन राजनीतिक क्षितिज पर छाये हुये थे। साथ ही साथ अनेक वर्ग, पौराणिककाल के क्षत्रिय वंशों के साथ अपना सम्बन्ध होने का दावा करते हुये वैधता प्राप्त करना चाह रहे थे। परन्तु 11वीं तथा 12वीं सदी तक आते-आते राजपूतों का उदय भारतीय समाज की एक व्यापक सामाजिक घटना बन गयी जिससे आलोच्यकाल की सामाजिक संरचना का तो दृश्य प्रस्तुत होता ही है साथ ही अधीतकाल के सामाजिक परिवर्तनों की झलक भी स्पष्ट दिखायी देती है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में वैश्यों की भूमिका-

वैश्य शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' में ही हुआ है।[261] लेकिन ऋग्वेद के अन्य अंशों में 'विश' शब्द का प्रयोग है।[262] और कतिपय इतिहास इसी विश से वैश्य की उत्पत्ति बताते हैं।[263] ऋग्वैदिककाल में वैश्य मुख्यत: पशुचारी थे तथा कृषि का उनके जीवन में गौण स्थान था। परन्तु उत्तरवैदिककाल में आकर उसमें यह परिवर्तन हो गया कि अब तत्कालीन समाज 'कृषक समाज में परिवर्तित हो गया था और चूंकि वैश्य तत्कालीन समाज में खाद्य उत्पादक थे, इसलिये उन्हें उत्पादन सम्बन्धी काम सौंपा गया जैसे कृषि, पशुपालन आदि और उत्तरवैदिक काल का अन्त होते-होत वे व्यापार को भी अपनाने लगे थे।

वैश्यों को अपने उद्भव काल से समाज में तीसरा स्थान प्राप्त था और यदि बौद्धकाल में कतिपय समाजार्थिक परिवर्तनों के कारण इनकी उच्च स्थिति आयी तो

राजनीतिक संस्थाओं के नये स्वरूप ने इनकी स्थिति में कुछ अधोगामी परिवर्तन किया, लेकिन विदेशी आक्रमण की संक्रमणकालीन परिस्थितियों ने पुनः वैश्यों को व्यापारिक गतिविधियों से सम्बद्ध करके उन्हें एक ऐसी स्थिति में ला खड़ा किया जहां कालान्तर में वे अर्थव्यवस्था के लिये अपरिहार्य जैसे लगने लगे।

पूर्वमध्यकालीन समाज में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि वर्ण व्यवस्था के तीसरे वर्ण वैश्य की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी और पांचवीं सदी तक जो वर्ग अत्यन्त सुखी व सम्पन्न दिखायी पड़ता था वहीं वैश्य वर्ग उत्तर गुप्तकालीन व्यापारिक ह्रास एवं सामन्तवादी प्रवृत्तियों के उदय के कारण शूद्रों की स्थिति तक पहुंचने के लिये विवश हो गया। पूर्वमध्यकालीन ग्रन्थों से वैश्यों की दीन-हीन दशा का पता चलता है जैसा कि विष्णु पुराण में कहा गया है कि कलियुग में वैश्य कृषि तथा व्यापार छोड़ देगें तथा अपनी जीविका दासकर्म एवं कलाओं द्वारा कमायेगें।[264] स्कन्दपुराण में उल्लिखित है कि कलियुग में व्यापारियों का पतन हो जायेगा इनमें से कुछ तेली तथा अनाज फटकने वाले होगें तथा अन्य राजपुत्रों पर आश्रित होकर रहेगें।[265] विष्णु[266] तथा वायुपुराण[267] तो यहां तक बताते है कि कलियुग में वैश्य वर्ण पूर्णतः विलीन हो जायेगा। इसके अतिरिक्त नवीं सदी के अन्त में आये अरबी लेखक इब्नखुर्ददबा भी वैश्यों को केवल कारीगर और घर-गृहस्थी के काम करने वाला वर्ग बताता है।[268] इसी प्रकार अल-इदरीसी ने भी वैश्यों को कला कौशल में निपुण कारीगर और मिस्त्री बताया है।[269] अलबेरुनी ने तो यहां तक लिखा है कि वैश्य व शूद्र वर्ग में कोई अन्तर नहीं रह गया था।[270] यद्यपि वह वर्ण एक दूसरे से विपरीत है तथापि एक ही घर, मुहल्ले में एक साथ रहते हुये उसी गांव और नगर में निवास करते हैं।[271] यद्यपि अलबेरुनी के इस कथन पर पूर्ण रूप से विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि जब आज भी वैश्य और शूद्र एक ही घर में नहीं रहते तो यह कैसे सम्भव है कि पूर्वमध्यकाल में वैश्य व शूद्र इतने करीब आ गये होगें। ऐसा लगता है कि वैश्य और शूद्र दोनों वर्णो के खेती करने के कारण अलबेरुनी दोनों वर्णो के अन्तर को नहीं समझ सका होगा पर अलबेरुनी के इस कथन से यह तो स्पष्ट है कि वैश्यों की स्थिति पूर्वमध्ययुग में इस हद तक गिर गयी थी कि उनको शूद्रों के साथ समेटा जाने लगा था।

प्राचीन समय से ग्यारहवीं सदी तक वैश्यों की स्थिति में अनेक उतार-चढ़ाव देखने को मिलते हैं। अनेक धर्मशास्त्रकारों ने कृषि, पशुपालन और व्यापार वैश्य वर्ण के प्रधान कर्म बताये थे।[272] परन्तु पूर्वमध्यकाल में हम वैश्यों को कृषि करते हुये कम पाते हैं। उसका कारण सम्भवतः यह था कि हर्ष के समय से ही वैश्य जैन और बौद्ध धर्म के अहिंसावादी सिद्धान्त से अधिक प्रभावित होने लगा था जिसका प्रधान कारण यह था कि व्यक्ति को उतनी जाति हिंसा नहीं करनी चाहिये जितनी हल चलाने में होती है।[273] बौद्ध तथा जैन धर्म में प्रतिपादित अहिंसा सिद्धान्त के प्रभाव से ही वैश्यों ने सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये कृषि एवं पशुपालन करना छोड़ दिया होगा और स्वयं को व्यापार के क्षेत्र तक ही सीमित कर लिया होगा। भविष्यत कथा से हमें यह भी ज्ञात होता है कि एक वैश्य ने नाव खरीदने के लिये अपने पशु भी बेंच दिये थे।[274] भास के शिशुपाल वध नाटक में व्यापारियों को राजा की सेना के साथ यात्रा करते तथा फौजी खेमें में सामान बेचते हुये चिचित्र किया गया है।[275] पराशर स्मृति में 'कुसीदवृत्ति' (सूद पर रुपये उधार देना) वैश्य का प्रमुख व्यवसाय बताया गया है।[276] पूर्वमध्यकाल के अनेक अभिलेखों से यह भी पता चलता है कि बंगाल, बिहार, गुजरात, मालवा के वैश्य अपनी समृद्धि के कारण समाज में प्रभावशाली हो गये थे और राजनीतिक पदों के लिये स्पर्द्धा करते थे।[277] विहार प्रदेश से प्राप्त दूधपाणि अभिलेख से ज्ञात होता है कि उदयभान नामक एक समृद्ध व्यापारी ने तीन गांव के लोगों की ओर से राजकीय कर दिया। जिससे इस गांव के लोगों ने उदयभान को अपना प्रभु स्वीकार कर लिया।[278] बंगाल के सेन राजा लक्ष्मण सेन के समय सुवर्ण के व्यापारी इतने समृद्ध थे कि वे अपने धन एवं वैभव के कारण राजा का विरोध तक करने लगे थे।[279] चालुक्य नरेशों से भी गुजरात के कई समृद्ध व्यापारियों का संघर्ष हुआ।[280] उदयभान, तेजपाल इत्यादि धनी व्यापारी मंत्रिपद पर नियुक्त किये गये थे।[281] विजय सिंह सिद्ध राजा के राज्यकाल में कई व्यापारियों को सामंत की पदवी दी गयी थी।[282] इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि हर्षोत्तरकाल में वैश्यों द्वारा व्यापारिक कर्म करने से समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उनका प्रभाव स्थापित होने लगा था।

परम्परागत रूप से वैश्यों का प्रमुख कार्य कृषि, वाणिज्य और पशुपालन रहा है। परन्तु इस काल की एक प्रमुख स्मृति ने शूद्रों के लिये उक्त कर्मों का विधान प्रस्तुत कर उन्हें वैश्यों के समकक्ष आर्थिक धरातल प्रदान किया है।[283] अत्रि ने वैश्य एवं शूद्र दोनों को वार्ता का अधिकारी बताते हुये शूद्र के लिये शिल्प कार्य का भी उल्लेख किया है।[284]

इस काल में शनैः शनैः कृषि के वर्ण सामान्य कर्म हो जाने के कारण, अर्थ के एक प्रमुख स्रोत कृषि, पर से वैश्यों का एकाधिकार समाप्त होने लगा। अधीतकाल में कृषि शूद्रों का प्रमुख कार्य बन चुकी थी। ह्वेनसांग शूद्रों को कृषक और भूमि कर्षण में व्यस्त बताता है। जबकि वैश्यों को केवल वाणिज्य में रत्, और देश विदेश में व्यापार कर लाभार्जन करने वाला कहता है।[285] इब्नखुर्ददबा और अलइदरीसी ने भी 'सरदूक्या' की गणना कृषक और श्रमकार के रूप में की है।[286] मेघातिथि ने भी खेती को निम्न लोगों का कार्य बताया है।[287] देवीभागवत्पुराण में एक स्थल पर वैश्यों को केवल वणिकवृत्ति में संलग्न कहा गया है, जबकि शूद्र के लिये कृषि, व्यापार, गोरक्षा और कुसीद कर्म निर्दिष्ट था।[288] जिनसेनकृत हरिवंश पुराण में वाणिज्य से वैश्य और शिल्प विद्या से शूद्रों को सम्बद्ध बताया गया है।[289] मेघातिथि ने वैश्यों के लिये मनु द्वारा निर्धारित पशुपालन, वाणिज्य और कृषि से सम्बद्ध श्लोक की टीका में केवल वाणिज्य और कुसीद कर्म का उल्लेख किया है।[290] वैश्य प्रमुखतः वाणिज्य कार्य में ही संलग्न थे।[291] इत्सिंग ने कृषि में हिंसा की सम्भावना के कारण उसकी अपेक्षा व्यापार को वैश्यों के लिये उचित और व्यवहृत बताया है।[292] कृषि से वैश्यों के विलग होने के कारण प्रतिपाल भाटिया ने उनका जैन धर्म से संलग्न होना बताया है।[293] कुछ प्रमाण ऐसे भी है जिनसे वैश्यों द्वारा स्वतंत्र कृषक के रूप में नहीं बल्कि बटाई पर दूसरे की भूमि पर कृषि कार्य करने का संकेत प्राप्त होते हैं।[294] हरदत्त ने दूसरे के क्षेत्र में कृषि कर्म करने वालों के संदर्भ में वैश्य या वैश्य वृत्ति वालों का उल्लेख किया है।[295] पराशर ने ब्राह्मण और वैश्य स्त्री से उत्पन्न अर्द्धसारी जाति का उल्लेख किया है।[296] जिसका आशय बटाई पर खेती करने वालों से है।

इन उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे पूर्वकालीन समाजार्थिक व्यवस्था में वैश्यों के लिये विहित कृषि कर्म अधीतकाल तक आते-आते शूद्रों द्वारा अपनाया जाने लगा जिससे स्वभावत: वैश्य वर्ण कृषि से विलग होता गया जो एक तरफ शूद्रों की अपेक्षाकृत सुधरी स्थिति का द्योतक है तो दूसरी तरफ वैश्यों के सामाजिक अध:पतन की ओर संकेत करता है।

इस काल की राजनीतिक अस्थिरता, विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति और स्थानीयता की भावना, कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था के आविर्भाव व कतिपय अन्य कारणों से व्यापार में ह्रास हुआ। व्यापार वाणिज्य में ह्रास के साथ वैश्यों की सामाजिक दशा में गिरावट स्वाभाविक ही थी। अधीतकालीन अनेक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि व्यापारिक अवनति के दौर में वैश्य शिल्प कार्य की ओर प्रवृत्त हुये।[297] विष्णुपुराण में उल्लेख है कि वैश्य व्यापार और कृषि का त्याग कर शिल्प कार्य (कारुकर्म) से जीविकोपार्जन करने लगा।[298] पुराणों में कलियुग में शुद्ध क्षत्रिय वैश्यों के विलोपन की बात कही गयी है।[299]

माधवाचार्य ने वैश्यों के लिये रत्नमणिमुक्तादि का परीक्षण और व्यापार, गो-पालन, कृषि कर्म, भूमिकर्षण, बीज वपन, धान्यादि का वाणिज्य और कुसीद कर्म कहा है।[300] आगे इन्होंने मनु को उद्धृत कर उनके लिये मणिमुक्ता, प्रवाल के साथ लोहे, तान्तुवस्य (वस्त्र), रस, गन्धाधि का उद्योग बताया है।[301] एक अन्य स्थल पर उनके लिये तिल और चमड़े का व्यापार भी बताया गया है।[302] इब्नखुर्ददबा और अल-इदरीसी ने बसुरिया (वैश्य) का उल्लेख सरद्या के बाद करते हुये उन्हें क्रमश: चौथी, पांचवीं जाति बताया, तथा बसुरिया को घरेलू काम करने वाला तथा कारीगर बताया।[303] अलबरूनी इन दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं बताया तथा उन्हें एक साथ नगर या ग्राम में निवास करने वाला बताया है।[204] देवी भागवतपुराण में एक स्थल पर आया है कि 'ब्राह्मण को ब्राह्मण की, क्षत्रियों को ब्राह्मण व क्षत्रिय की, वैश्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य की तथा शूद्र को चारों वर्णो की कन्या पूजनी चाहिये तथा शिल्पियों को अपने वंश की कन्या पूजनीय है।[305] पराशर ने वैश्य, शूद्र दोनों के लिये ही शिल्प कार्य का अनुमोदन किया है।[306]

आन्तरिक व्यापार में वैश्यों का एकाधिकार भी लगभग समाप्तप्राय था। विशद् पारिवारिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह करने के लिये मेघातिथि ने ब्राह्मणों को भी वाणिज्य की आज्ञा दी।[307] पराशर माधवीय में कृषि के साथ ही वाणिज्य शिल्प को भी कलियुग में वर्ण चतुष्य का साधारण धर्म कहा गया।[308] 861 ई0 के घटियाला अभिलेख से प्रकट होता है कि कक्कुक ने आमीरों को परास्त कर रोहिसकप (घटियाला) को आबाद कर तीनों वर्णो के लिये उद्योग-धन्धों की व्यवस्था उत्पन्न की।[309] ब्रह्मपुराण में कहा गया है कि- 'दक्षकृत स्रोत पाठ सुनने से वैश्य, स्त्री तथा शूद्र, शूद्रलोक को प्राप्त करेगें। इसी प्रकार देवी भागवतपुराण में वर्णित है कि 'सब कार्यो में ब्राह्मणी, जय कार्यो में क्षत्रिय, लाभ के निमित्त वैश्य वंशोत्पना अथवा शूद्र वंश की कन्या का पूजन करे।[310] वर्णानुकूल विवाह के संदर्भ में वैश्य शूद्रों के लिये बौधायन के इस कथन पर कि वे कृषि कर्म और दूसरों की सेवा करते हैं,[311] गोविन्द स्वामी ने कृषि कर्म में वाणिज्य को भी अन्तर्निहित बताते हुये वैश्य, शूद्र को निकृष्ट कर्मी कहा है।[312] चतुर्विंशमत् में क्रमशः ब्राह्मण, नृप (क्षत्रिय) और तदुपरान्त वैश्य, शूद्र से दान ग्रहण करने को प्राथमिकता दी गयी है।[313] कुल्लूक भट्ट ने शास्त्रानुसार आचरण करने वाले, द्विजाति की सेवा करने वाले शूद्र को वैश्य के समान मृत सूतक आदि कर्मो में शौच कर्मादि का अधिकार प्रदान किया है।[314] इस काल में कई व्यवस्थाकारों ने वैश्य के ही साथ शूद्रों को भी आपत्तिकाल में क्षत्रिय वृत्ति का अधिकार बताया है। हेमाद्रि ने शूद्र के समान वैश्य का भोजन भी ब्राह्मण के लिये निषिद्ध किया है।[315] अलबेरुनी ने वेदाध्ययन करने वाले वैश्य की भी जीभ काटे जाने का उल्लेख किया है।[316] उसने गीता के उस अंश को भी उद्धत किया है जहां परमात्मा की शरण में जाकर स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि चण्डालादि के लिये भी परमगति सम्भव कही गयी है।[317] व्याससमृति में वणिक, किरात, कायस्थ, मालाकार, कुटुम्बी आदि को अन्त्यजों में स्थान दिया गया है, जिन्हें देखकर मनुष्य दूषित हो जाता है और स्नानोपरान्त अथवा सूर्य को देखकर शुद्ध होता है।[318] विष्णुरहस्य में वैश्य को जघन्य कर्म करने वाला कहा गया है।[319] हेमान्द्रि ने स्वर्णकार, ध्वजी (शराब विक्रेता व निर्माता) की अन्त्यजों में गणना की है।[320]

वैश्यों की स्थिति में ह्रास का एक अन्य कारण उनकी हीन आर्थिक दशाके साथ-साथ शिक्षा से असम्बद्धता और उपनयन आदि का अभाव तथा जैन बौद्ध धर्म की ओर उन्मुखता आदि कहा जा सकता है। पालों के काल में बौद्ध, जैन धर्मानुयायी वैश्य सेनों के काल में शूद्रों के स्तर तक पहुंच गये।[321] अल्तेकर की मान्यता है कि जैन, बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण तथा अध्ययन के अन्य विषयों के विकास के कारण वैदिक शिक्षा का प्रचार समाज में घटने लगा।[322] तब क्षत्रियों और वैश्यों में उपनयन संस्कार बन्द होने लगे, क्योंकि इनके पेशे का वैदिक साहित्य से निकट का सम्बन्ध नहीं था।[323] अल्तेकर ने पुराणों में उल्लिखित वैश्य क्षत्रियों का 'कलियुगीन विलोपन' इसी आलोक में लिखा है कि उनका उपनयन नहीं होता था और वे यज्ञोपवीत नहीं पहनते थे। भास और दण्डी को उद्धृत कर उन्होंने यह प्रकट किया है कि यज्ञापवीत ब्राह्मणत्व का चिन्ह हो गया था न कि द्विजत्व का।[324] कहीं-कहीं पर वैश्यों का वाममार्गी विचारधारा से भी सम्बद्ध होना प्रमाणित होता है। राजतरंगिणी में वैश्य तांत्रिक विडाल वणिक का उल्लेख है जो पहले निम्न वर्ग जैसे चर्मकार, धोबियों का गुरु था, और आगे चलकर कई विद्वान, प्रतिष्ठित लोगों को भी उसने अपने प्रभाव में कर लिया।[325] वामनपुराण में शैवाचार्यो के शूद्र और वैश्य शिष्य कर्णोदर और काथेश्वर का उल्लेख है।[326] यद्यपि कहीं-कहीं पर वैश्य उच्च पदों पर भी थे।[327] 1158 ई0 के एक अभिलेख में वैश्य सामन्त बल्लभराज को कई मन्दिरों, तालाब के निर्माण और आम के बागों के रोपण का श्रेय दिया गया है।[328] एक अन्य अभिलेख में श्रेष्ठि यश को रत्नपुर का संचालनकर्ता (नगरपति) कहा गया है।[329] वैश्य नगरपति द्वारा ब्राह्मण को भूमिदान का भी उल्लेख है।[330] राजस्थान से प्राप्त एक मध्ययुगीन लेख (1469) ई0 से ओसवाल जाति के वैश्य के अमात्य होने की सूचना प्राप्त होती है।[331] प्रबन्ध चिन्तामणि में जम्ब नामक व्यापारी के प्रधानमंत्री होने का उल्लेख है।[332] प्रशासनिक पद पर आसीन इसी की जाति के सज्जन नामक व्यक्ति का प्रबन्ध चिन्तामणि में उल्लेख है।[333] सोमदेव ने ब्राह्मण क्षत्रिय के बाद अर्हता सम्पन्न वैश्य को मंत्री बनाने की आज्ञा दी है।[334]

ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के समान ही वैश्य भी पूर्वमध्यकाल में अपने स्थान एवं पेशे के आधार पर कई उपजातियों में विभाजित हो गया। जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह

से हमें गुजरात एवं राजस्थान की अनेक वैश्यों की उप शाखाओं का वर्णन प्राप्त होता है- जैसे श्रीमाल, प्राग्वाट, उपकेश, धर्कट, पल्लिवाल, मोढ़, गुर्जर, नागर, दिशावाल, दुम्बद आदि।[335] बाद के युगों में इन शाखाओं की भी अनेक जातियां समाज में विद्यमान हो गयी। कुछ वैश्यों की शाखायें उनके द्वारा अपनाये गये पेशों के आधार पर भी गठित हो गयीं जैसे स्वर्ण का काम करने वाला सुवर्ण वणिक तथा औषधियों का काम करने वाले ''औषधिक'' कहे जाने लगे।[336]

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि पूर्वमध्ययुग में व्यापार के क्षेत्र में आयी गिरावट से वैश्यों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी। वस्तुतः पूर्वमध्यकालीन भारतीय सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में मार्क्सवादी इतिहासकारों ने बड़ी चतुराई से नगरों के पतन एवं व्यापारिक गतिविधियों के ह्रास को दिखाकर[337] यह दिखाने का प्रयास किया कि यह सब सामन्तवादी प्रवृत्तियों के अस्तित्व में आने के कारण हुआ। इनकी नजर में पूर्वमध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था शूद्रों के हाथ में केन्द्रित हो रही थी और कुछ शूद्र पूर्वकाल की दासता से मुक्त होकर बेगार की स्थिति में पहुंच गये थे।[338] जिन्हें अर्द्धदास कहा जा सकता है। ये अर्द्धदास अपने बेगार श्रम के माध्यम से आर्थिक गतिविधियों पर खर्च होने वाले धन को बचाकर सामन्तों की झोली भरते थे।[339] जिसका दुष्परिणाम यह होता था कि अर्थव्यवस्था अवरुद्ध होती थी और सामन्तशाही जटिल स्वरूप ग्रहण करती जा रही थी। ऐसे में अर्थव्यवस्था के पूर्ववाहकों की स्थिति का दयनीय होना स्वाभाविक ही है। एक ओर तो वे अपना प्रमुख कार्य खेती व पशुपालन छोड़ ही चुके थे जो शूद्रों द्वारा अपना लिया गया था दूसरी तरफ व्यापार व वाणिज्य के क्षेत्र में भी गिरावट आयी, जो कि उनकी आजीविका का एक मात्र साधन था। इस सम्बन्ध में नीहाररंजन राय ने एक महत्वपूर्ण परिच्छेद की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि किस प्रकार आठवीं शताब्दी में बंगाल में व्यापार वाणिज्य का ह्रास होने के कारण व्यापारी वर्ग ने अपना महत्व खोया।[340] लक्ष्मण सेन के राजत्वकाल में शुक्रध्वज (व्यापारी की ध्वजा) फहराने के समारोह के प्रसंग में एक लेखक कहता है- 'वे व्यापारी कहां हैं जिन्होंने कभी तुम्हें ऊँचा उठा रखा था। अभी तुम्हारा उपभोग हल या खूटें के रूप में हो रहा है।[341] इस कथन से स्पष्ट है कि वाणिज्य के ह्रास से उन लोगों का स्थान अवश्य

ही नीचा हो गया होगा जो इसे अपना पेशा बनाये हुये थे। ऐसी स्थिति में वैश्य पुनः कृषि करने लगे। पर अब स्थिति बदल चुकी थी क्योंकि वैश्य के खेती छोड़ने से यह कार्य शूद्रों द्वारा अपना लिया गया था।[342] ऐसे में यह स्वाभाविक ही था कि कृषि, वाणिज्य और शिल्प दोनों का सामान्य धर्म हो गया हो और विष्णु[343] और वायुपुराण[344] में वर्णित यह कथन कि 'कलियुग में वैश्य वर्ण विलुप्त हो जायेगा।'' एक तरह से सत्य का ही प्रतिपादन कर रहा था क्योंकि अब समाज में दोनों की स्थिति लगभग एक समान सी हो गयी थी और वैश्य वर्ण अपनी वह गरिमा खो चुका था जो कि उसे प्राचीनकाल में प्राप्त थी। शायद यही कारण है कि अलबेरुनी को वैश्यों और शूद्रों के सामाजिक स्तर में कोई भेद नहीं दिखायी दिया।[345]

आठवीं सदी तक वैश्यों की आर्थिक स्थिति में गिरावट के कारण वे शूद्रों की श्रेणी में आने लगे थे। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी तक आते-आते वैश्य धर्म विधि कानून दोनों से शूद्र माने जाने लगे। अलबेरुनी ने लिखा है कि वैश्यों और शूद्रों को वेदों के श्रवण की अनुमति नहीं थी।[346] जिससे यह पता चलता है कि पूर्वमध्यकाल में वेदों का अध्ययन भी उनके अधिकार क्षेत्र से निकल गया और बौद्धिक और आध्यात्मिक पक्ष का तो अब जैसे उनके जीवन में कोई स्थान ही नहीं रहा। तथापि यहां यह उल्लेखनीय है कि पूर्वमध्ययुग से पहले भी अनेक धर्मशास्त्रकारों का यह मत था कि अध्ययन और व्यापार का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है।[347] अतः प्रत्येक वर्ण को एक ही कर्म अपनाना चाहिये। बौधायन जैसे विचारक ने भी यह स्वीकार किया था कि कृषि और वेदाध्ययन परस्पर विरोधी है मनुष्य इन दोनों का एक साथ पालन नहीं कर सकता।[348] इन विचारों का प्रभाव वैश्य वर्ण पर अवश्य पड़ा और कुछ वैश्यों ने वेदों का अध्ययन छोड़कर अपना पूरा ध्यान व्यापार में लगा दिया था। परन्तु यदि वैश्य वेदों का अध्ययन करना चाहे तो उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था जबकि शूद्रों के लिये यह व्यवस्था अवश्य थी कि अगर वे वेद का उच्चारण करे तो उनकी जीभ काट ली जाये।[349] परन्तु पूर्वमध्ययुग में वैश्यों के लिये बौद्धिक संस्कार सिद्धान्त रूप से अनुमत रह गये। व्यवहार में तो स्थिति बहुत बदल गयी जैसा कि अलबेरुनी के इस कथन से स्पष्ट है कि यदि यह सिद्ध हो जाये कि वैश्य और शूद्रों ने वेद पाठ सुना है तो ब्राह्मण उन्हें न्यायाधीश के पास

ले जाते हैं और उनकी जीभ काट ली जाती है।[350] इस प्रकार ग्यारहवीं सदी में वेद पाठ, अध्ययन, मनन आदि कार्य वैश्यों के हाथ से निकल गये।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूर्वमध्ययुग में वर्णव्यवस्था के तीसरे स्तम्भ वैश्यों की स्थिति में जो गिरावट आयी उसके लिये मुख्य रूप से उस समय की समाजार्थिक, धार्मिक परिस्थितियां जिम्मेदार थीं। बौद्ध और जैन धर्म के प्रभाव के कारण भी वैश्यों ने धर्मशास्त्र में निर्धारित मुख्य कार्य जैसे कृषि और पशुपालन करना अपनी इच्छा से छोड़ दिया और स्वयं को व्यापार तक सीमित कर लिया परन्तु पूर्वमध्ययुग के प्रथम चरण में व्यापार और वाणिज्य का इतना अधिक पतन हुआ कि व्यापार भी उनके हाथ से निकल गया जिसके फलस्वरूप यह वर्ग सीमित होकर कृषि कार्य करने एवं स्थानीय ग्राहकों के उपयोग की वस्तुओं का निर्माण करने लगा और समाज में उनकी स्थिति दयनीय हो चली। यहां पर यह भी उल्लेखनीय है कि ग्यारहवीं बारहवीं सदी में जब व्यापार और वाणिज्य की स्थिति में पुनः सुधार हुआ तब वैश्यों की भी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ। एक बार फिर ग्यारहवीं सदी में वैश्य वर्ण समाज का प्रतिष्ठित वर्ग बन गया। इनमें से कुछ तो भूसम्पदा के स्वामी बन गये।[351] तथा गुजरात में तो ये इतने समृद्ध हुये कि इनकी गणना सामन्त वर्ग के अन्तर्गत की जाने लगी।[352] बंगाल में अनेक धनी व्यापारियों का उदय हुआ जिन्होंने बारहवीं सदी में सेन तथा गौड़ वंशी राजाओं से लोहा लिया।[353] इससे यह पता चलता है कि व्यापार की स्थिति में सुधार होते ही वह वैश्य वर्ण जो पूर्वमध्ययुग के प्रथम चरण में शूद्रों के स्तर तक पहुंच गया था, द्वितीय चरण में आकर पुनः समाज में अपना स्थान बनाने में सफल हो गया।

पूर्वमध्ययुग में एक जाति के रूप में कायस्थों का आविर्भाव एक महत्वपूर्ण सामाजिक घटना है। यदि हम पूर्वमध्ययुग के पहले देखे तो कायस्थ नामक किसी भी जाति का अस्तित्व समाज मेंनहीं दिखायी देता बल्कि गुप्तकाल में कायस्थ उस लिपिक वर्ग को कहा जाता था,[354] जो भूमि अनुदानों से सम्बन्धित कागजों को सुरक्षित रखते थे और आय-व्यय का लेखा-जोखा करते थे।[355] सम्भवतः कायस्थ वर्ग ने ही

अन्य मूल वर्णों से सम्बन्ध तोड़कर एक नया वर्ग बना लिया होगा और धीरे-धीरे एक जाति में परिवर्तित हो गये होगें। पद्मपुराण के सृष्टिकांड में इनकी उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुये लिखा गया है कि जिस प्रकार चारो वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई उसी प्रकार कायस्थ की उत्पत्ति भी ब्रह्मा की काया से हुई।[356] कायस्थों का सर्वप्रथम उल्लेख याज्ञवल्क्य स्मृति[357] और गुप्तकालीन अभिलेखों[358] में मिलता है जिसमें कहा गया है कि राजा का यह कर्तव्य है कि वह प्रजा की रक्षा करे, विशेषकर कायस्थों से क्योंकि भूमि और राजस्व से सम्बन्धित होने के कारण यह वर्ग अपने पद का अनुचित लाभ उठाकर प्रजा पर अत्याचार करता था।[359] गुप्तकाल से ही भूमिदान की प्रवृत्ति का जोर हुआ। जिससे मन्दिरों व ब्राह्मणों को भूमि दान में दी जाने लगी। यही कारण था कि कायस्थ वर्ग का समाज में महत्व बढ़ना प्रारम्भ हुआ क्योंकि भूमि सीमा निर्धारण सम्बन्धी दस्तावेज, किस भूमि पर कर लगा है, किस पर नहीं, या किस भूमि से कौन से कर लिये जाने हैं ? इन सबका लेखा-जोखा रखने का दायित्व कायस्थ पर ही था जिससे कायस्थों की संख्या में वृद्धि होने लगी और नवीं सदी तक आते-आते यह एक प्रतिष्ठित जाति के रूप में परिवर्तित हो गया।

पूर्वमध्ययुग की व्यास और उशनस स्मृतियों में सर्वप्रथम कायस्थ को जाति के रूप में उल्लिखित किया गया है।[360] जिससे यह स्पष्ट है कि किस प्रकार एक पेशेवर वर्ग जाति में परिवर्तित हो गया जिसके पीछे पैतृक व्यवसाय अपनाये जाने की प्रवृत्ति ही उत्तरदायी थी क्योंकि जब एक ही व्यवसाय पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलने लगा तो यह सम्भव ही था कि इस वर्ग का अपना एक अलग संघ बन जाय। यदि हम गुप्तकाल में देखें तो अन्य वर्ण के लोग इस पेशे से जुड़े हुये दिखायी देते हैं। परन्तु धीरे-धीरे पैतृक व्यवसाय अपनाने की भावना के दृढ़ होने के कारण इन्होंने अन्य मूल वर्ण से सम्बन्ध तोड़कर अपनी एक अलग जाति बना ली। आठवीं शताब्दी के कतिपय साहित्यिक ग्रन्थों में भी कायस्थ शब्द का प्रयोग राजस्व[361] तथा प्रशासनिक अधिकारी[362] के रूप में ही किया गया है। परन्तु नवीं सदी में हमें अनेक कायस्थ परिवारों का उल्लेख मिलता है। जैसे बल्लभ, गौड़, माथुर, श्रीवास्तव, निगम आदि को छोड़कर दूसरी जगह रहने लगे थे।[363] जब इन परिवारों की संख्या अधिक बढ़

गयी तो वह जाति के रूप में समाज में प्रतिष्ठित हो गये। 10वीं तथा 12वीं शताब्दी के बीच विभिन्न स्थानों के आधार पर कायस्थों की उपजातियां भी बनी जैसे सक्सेना, निगम आदि। ग्यारहवीं सदी के कुछ अभिलेखों में सर्वप्रथम कायस्थों के मूल को दूसरे ढंग से स्पष्ट किया है। जिसके लिये उन्होंने कायस्थ, शब्द को 'कुल' से जोड़ा और आगे चलकर इसी का प्रयोग जाति के रूप में किया गया और पूर्वमध्ययुग तक आते-आते यह स्पष्ट रूप से कायस्थ जाति कहलाने लगी।[364] यद्यपि कश्मीर में कायस्थ शब्द का प्रयोग प्रशासनिक अधिकारी के लिये किया गया। परन्तु कल्हण के विवरण से स्पष्ट है कि इस समय कायस्थ एक जाति के रूप में ही समाज में विद्यमान थे।[365]

पूर्वमध्यकाल के कुछ अभिलेखों में कायस्थों का सम्बन्ध 'करण' एवं 'कर्णिक' शब्द से जोड़ा गया है। यहां पर यह उल्लेखनीय है कि ऐसा कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिससे यह ज्ञात हो सके कि किस प्रकार बारहवीं सदी में 'करण' व 'कर्णिक' कायस्थ में परिवर्तित हो गये। यद्यपि गहड़वालो के दो अभिलेखों से यह पता चलता है कि 1115 के अभिलेख में जलहन में लिखने का कार्य करने वाले स्वयं को कायस्थ कहने लगे और 'वास्तव्य' परिवार से सम्बन्धित हो गये।[366] सच तो यह है कि 'करण' लोगों ने केवल कुछ ही भागों में लेखन का कार्य किया। किन्तु कायस्थ लोग सर्वत्र लेखन का कार्य करते थे। करण सिर्फ लेखन कार्य करने वाला वर्ग था कोई जाति नहीं थी। कालान्तर में यही वर्णिक पुस्तपाल लेखक, अक्षपाटलिक कायस्थ वर्ग में समाविष्ट हो गया। बंगाल में करण व कर्णिक कायस्थ ही की उपजातियां थीं।[367]

कुछ इतिहासकारों[368] ने कायस्थों की उत्पत्ति का स्रोत ब्राह्मण एवं क्षत्रिय को बताया है। जैसा कि 11वीं सदी के अभिलेख में जो कि हुंड से प्राप्त हुआ है। कायस्थों को 'सूर्य द्विज' कहां है।[369] जो कि मग ब्राह्मण थे। काश्मीर में प्राप्त होने वाली अधिकांश कायस्थ जाति ब्राह्मण वंश से ही सम्बन्धित दिखायी पड़ती है। वैसे भी कश्मीर ब्राह्मण वंशीय शासकों के लिये प्रसिद्ध है। स्टेनकोनो तथा एन0 के0 दत्त जैसे कुछ विद्वानों ने कायस्थों को, ब्राह्मण वर्ग की एक शाखा बताया है जो

शासन सम्बन्धी कार्य करते थे किन्तु सोहढल ने 'उदय सुन्दरी कथा' में कायस्थों की उत्पत्ति क्षत्रियों से बतायी है।[370] जिसकी विवेचना करते हुये एन0 के0 दत्त ने लिखा है कि बंगाल में क्षत्रिय जाति नहीं होने के कारण 'कायस्थ' जाति ही उस रूप में स्वीकार की गयी।[371] जबकि भण्डारकर[372] ने बंगाल के कायस्थों को गुजरात के नागर ब्राह्मणों से जोड़ा है जो जाति सम्भवतः तिब्बत क्षेत्र से आयी हुई थी। जबकि संकलिया[373] एवं जी0 एस0 धुर्ये[374] ने कायस्थों को वैश्य की एक उपजाति माना है क्योंकि उनका मुख्य पेशा लिखना था। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि प्रारम्भ में सभी वर्णों के लोग इस पेशे को अपनाते थे परन्तु पूर्वमध्ययुग में उनकी संख्या इतनी अधिक बढ़ गयी कि उन्होंने अपनी एक अलग जाति बना ली। पूर्वमध्यकाल में कायस्थों की अलग जाति बन जाने के कारण इनके बीच एक सामाजिक बदलाव आया। कायस्थों का एक वर्ग ऐसा था जो निचले तबके के कर्मचारियों की तरह राजकीय सेवा में संलग्न था जबकि कायस्थों का एक विशिष्ट वर्ग कई उच्च पदों पर बैठा हुआ था। कायस्थों ने राजदरबारों में अपनी ऐसी घुसपैठ बनायी कि ये राजा के अत्यन्त निकटस्थ साबित होने लगे और राजा इनसे सलाह मशविरा भी लेने के लिये कभी-कभी विवश होता था। अपरार्क ने यज्ञ में कायस्थों को कर नियंत्रक के रूप में दिखाया गया है।[375] विज्ञानेश्वर ने कायस्थों को मुनीम (गणक) और लेखक के रूप में चित्रित किया है।[376] हेमचन्द्र ने भी लेखनः कार्य करने के कारण 'अक्षरोपजीवी' कहा है।[377] कुछ अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि गौड़ देशीय कायस्थ बहुत सुन्दर लिखते थे, इसलिये वे मध्य प्रदेश और राजस्थान जैसे प्रदेशों में अभिलेख लेखन के लिये आमंत्रित किये जाते थे। कलचुरि शासक, प्रतापभल्ल के रतनपुर[378] अभिलेख का प्रतिराज नामक कायस्थ ने अभिलेखन किया था।[379] इस प्रकार पूर्वमध्ययुग के अधिकांश अभिलेखों में कायस्थों को लेखक के रूप में दिखाया है।[380] परन्तु कुछ ऐसे विवरण भी प्राप्त होते हैं जिससे यह पता चलता है कि कायस्थ कुछ ऊँचे पदों पर भी नियुक्त किये जाते थे। भोजवर्मन के समय के अजयगढ़ के अभिलेख से पता चलता है कि वास्तव्य परिवार के कई सदस्य कई महत्वपूर्ण पदों पर कार्य कर रहे थे जैसे सर्वाधिकरण सलाहदाता, दुर्ग का राज्यपाल अर्थात दुर्गाधिपति आदि।[381]

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि पूर्वमध्यकालीन सामाजिक परिवर्तन की दिशा में कायस्थों ने कई नवीन पक्ष उद्घाटित किये यदि कहीं वह वैश्यों के निकट दिखायी पड़ते हैं तो अनेक स्थलों पर वे ब्राह्मणों की स्थिति में खड़े दिखायी पड़ते हैं। समाज एवं राजनीति के थपेड़ों ने इन कायस्थों को कभी-कभी ब्राम्हणों से भी उच्च पद पर बैठा दिया। ऐसा लगता है कि पूर्वमध्यकालीन भारतीय इतिहास में अभिलेखों की भरभार का एक कारण यह भी था कि ये कायस्थ लेखन कला से एवं राज दरबारों की सामन्ती प्रवृत्ति से इस सीमा तक जुड़ गये थे कि राजा का यशोगान करना इनका प्रधान कार्य हो गया था। राजकीय दस्तावेजों का रख-रखाव तो इनके साथ गहराई से बंधा हुआ ही था।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में शूद्रों की भूमिका-

वर्ण व्यवस्था के क्रम में शूद्र निम्नतम स्थान पर थे। विराट पुरुष के पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति बतायी गयी है, और जिस प्रकार मानव शरीर का समस्त भार पैरों पर होता है। उसी प्रकार समाज की सेवा का समस्त भार शूद्र वर्ण पर डाला गया। बौधायन धर्मसूत्र में प्रतिष्ठा और अधिकार से वंचित शूद्रों की तुलना पशुओं से की गयी है।[382] वस्तुतः उसका प्रमुख कर्तव्य द्विजातियों की परिचर्या और सेवा करना था। मनु ने उसकी सेवावृत्ति का उल्लेख किया है, उनके अनुसार ईश्वर की ओर से शूद्र का एकमात्र कर्म ब्राह्मण, क्षत्रिण और वैश्य तीनों वर्णो की सेवा करना ही धर्मशास्त्रों में निर्दिष्ट किया गया है।[383] सेवा के बदले उसे जूठा अन्न पुराने वस्त्र, धान का पुआल तथा पुरानी खाट एवं पुराने बर्तन प्रदान किया जाता था।[384]

स्मृतियों में, विशेष रूप से मेघातिथि द्वारा की गयी मनुस्मृति की टीका में, शूद्रों को कुछ अच्छी स्थिति प्रदान की गयी है जो उन्हें मनु ने दी थी। उदाहरणार्थ इस टीकाकार ने शूद्रों के वैयक्तिक स्वतंत्रता के अधिकार को स्वीकार किया है। वस्तुतः शूद्र शिष्य 'शूद्र गुरु का शिष्य' शब्द से अनुमान होता है कि शूद्र गुरु वेदों को छोड़कर जिनका अध्ययन वे नहीं कर सकते थे, व्याकरण तथा अन्य विधाओं को पढ़ाते होगें।[385] मेघातिथि ने यह भी कहा है कि ब्राह्मणों की सेवा करके और एक गृहस्थ के रूप में रहते हुये शूद्र सब आश्रमों का फल प्राप्त कर

लेता है।[386] उसने यह भी कहा कि स्मृतियों में सब लोगों के लिये जिन अनुष्ठानों का विधान किया गया है, उन्हें शूद्र भी कर सकते हैं। मेघातिथि का शूद्र वर्ण के प्रति उदार दृष्टिकोण दृष्टिगत होता है। इसने शूद्रों के सीमित कर्तव्य और तद्नुरूप अधिकार भी बताये हैं।[387]

यद्यपि ऐसे बहुत से प्रमाण मिलते हैं जिनसे शूद्रों की हीन स्थिति का आभास होता है। शतपथ ब्राह्मण में शूद्र को असत्य वक्ता एवं परिश्रमी कहा गया है।[388] धार्मिक दृष्टिकोण से भी शूद्रों की स्थिति हेय एवं अपमानजनक थी। शूद्रों की धार्मिक स्थिति की विवेचना करते हुये अलबरुनी लिखता है कि ईश्वर की प्रार्थना करना, वेद पढ़ना और यज्ञ करना शूद्र के लिये वर्जित है अगर वह ऐसा करता है तो ब्राह्मण राजा के सम्मुख उस पर आरोप लगाता है और राजा उसकी जीभ काट डालने की आज्ञा देता है। इस प्रकार ईश्वर- पूजा, धार्मिक कार्य और दान करना उसके लिये प्रतिबन्धित था।[389]

अधिकार और कर्तव्य की दृष्टि से शूद्र उपेक्षित और निम्न था। उसे वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था और न ही यज्ञ करने का। वह न तो सैनिक बन सकता था और न ही व्यापार कर सकता था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में शूद्र का प्रधान कर्म द्विजाति की सेवा बताया है।[390]

वैश्य वर्ण जब कृषि से विमुख होकर व्यापार और वाणिज्य की ओर उन्मुख होने लगा तब शूद्र-वर्ण ने कृषि कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि पुराणों के अनुसार शूद्रों का मुख्य कार्य सेवावृत्ति ही था उसके लिये यज्ञ वर्जित था, यदि कोई ब्राह्मण उसके यज्ञ में सहायक होता था तो वह नरकगामी होता था।[391] इतना ही नहीं, मनु ने यह व्यवस्था भी दी है कि ब्राह्मण भोजन के बाद उच्छिट को जो मूर्ख व्यक्ति शूद्र को देता है, वह अधोमुख होकर कालसूत्र नरक को जाता है।[392]

महान हिन्दू शास्त्रकार मनु ने नई जातियों और उनकी वृत्तियों का उल्लेख किया है। इस प्रकार जाति की प्रतिष्ठा और व्यवसाय साथ ही साथ रहते थे, उच्च जाति के व्यक्ति के लिये सामाजिक समूह में अपनी से नीची जाति के व्यवसाय

को ग्रहण कर पाना तो सम्भव था, किन्तु इसका विलोम स्वीकार्य नहीं था, यद्यपि इसके कुछ अपवाद भी थे। उदाहरणार्थ- बंगाल के पाल वंश का शासक संस्थापक गोपाल, शूद्र था।[393] यद्यपि शूद्रों को बहुत से कार्यो के लिये अयोग्य ठहरा दिया गया था, फिर भी इस काल तक समाज में उनकी स्थिति कुछ ऊँची हो गयी थी। उनकी भी अनेक उपजातियां थीं, यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि पूर्वमध्यकाल में जातियों की सबसे अधिक संख्या शूद्रों की थी। मनु के विधि ग्रन्थ में इकसठ जातियां गिनायी गयी हैं।[394] आठवीं शताब्दी के विष्णु धर्मोत्तर पुराण में कहा गया है कि वैश्य स्त्रियों और निम्न श्रेणियों के पुरुषों के सम्पर्क से हजारों मिश्रित जातियां उत्पन्न होती हैं।[395] शूद्र द्विजों की भांति वेदों का अध्ययन नहीं कर सकते थे। किन्तु वैदिक विधियों के बिना अपेक्षाकृत छोटे यज्ञों को अवश्य कर सकते थे। चार मूल वर्णो के बीच या उनके आपस में अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के फलस्वरूप संकर जातियां बन गयी थीं और उनकी संख्या बढ़ गयी थी, उनकी सामाजिक स्थिति के विषय में मनु ने कहा है कि अनुलोम विवाह से, जिसमें पिता, माता की अपेक्षा उच्चतर जाति का हो, उत्पन्न संतान अपने पिता की अपेक्षा नीचे होते हैं, फिर भी उन्हें अधिकार प्राप्त होते थे। इस प्रकार किसी ब्राह्मण के ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय पत्नी से उत्पन्न पुत्र की स्थिति अपने पिता के समान ही होती है। परन्तु जो पुत्र वैश्य या शूद्र माता से उत्पन्न हुआ हो, उसकी स्थिति माता की जाति के अनुसार अपेक्षाकृत नीची होगी। प्रतिलोम विवाह- जिसमें माता की जाति पिता की जाति की अपेक्षा ऊँची हो से उत्पन्न लोगों की स्थिति शूद्रों की सी होती है। शूद्र वर्ण सामान्यतः पेशेवर समूहों का सोपानतंत्र था। इस सोपानतंत्र में सबसे निम्न थे चाण्डाल अर्थात् शूद्र पिता और ब्राह्मण माता की संतान। बढ़ई, धोबी, लुहार और जुलाहे उनसे उच्च थे। वे किसी आर्य की थाली में भोजन कर लें, तो वह अपवित्र हुई नहीं मानी जाती थी, किन्तु उन्हें भी यज्ञ करने का अधिकार नहीं दिया गया था। इसके अतिरिक्त विदेशियों- यवनों और शकों, और कुछ अन्य लोग जिनकी जाति का उल्लेख नहीं है जैसे- अन्य लोग भी थे, जो आर्यो के समाज से तो बाहर, किन्तु आर्यो की बस्तियों के अन्दर रहते थे। उन्हें यज्ञ करने का अधिकार था और यदि वे आर्यो की थाली में भोजन कर लें, तो

भी वह अपवित्र नहीं मानी थी। कई आर्येत्तर लोगों अथवा आदिवासी जनजातियों को भी रूढ़िवादी समाज व्यवस्था में सम्मिलित कर लिया गया था। इनमें पोड्रक, चोल, द्रविड़, कलिंग, पुलिंद और उशीनश सम्मिलित थे। इन सबके ये भौगोलिक नाम हैं। इन्हें प्रारम्भ में क्षत्रिय वर्ग में रखा गया था, परन्तु बाद में यज्ञ-अनुष्ठान आदि न करने के कारण उन्हें शूद्र माना गया।

इसमें संदेह नहीं कि भारत में व्यावसायिक गतिशीलता और आर्थिक दबाव के फलस्वरूप जातियों और उपजातियों की संख्या बढ़ती ही चली गयी। चाण्डाल, सोपाक, आयोगव, अंबष्ट, सूत, मागध आदि जातियां वर्ण संकर कोटि में आती थीं जिन्हें वर्ण व्यवस्था में बंधे हुये समाज में सीमित धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। उन्हें अस्पृश्य माना जाता था। किन्तु इस काल में धोबी, चर्मकार, नट, कैवर्त्त आदि व्यवसाय के लोग भी अछूत कोटि में आ गये थे।[396] इत्सिंग ने भी लिखा है कि चाण्डाल जैसी अत्याधिक नीची जातियों के लोग और कसाई, बधिक, भंगी इत्यादि अन्य लोगों को पृथक रखा जाता था और उनके निवास स्थान नगर की सीमा के बाहर होते थे।[397]

पूर्वमध्ययुग में शूद्रों का प्रधानतम कार्य अपने से उच्च वर्गो की सेवा करना ही था। सर्वप्रथम वह ब्राह्मणों की सेवा करता था, तत्पश्चात् क्षत्रिय व वैश्यों की। शूद्रों के कर्म के विषय में अलबेरुनी लिखता है 'शूद्र ब्राह्मण के सेवक की तरह है, जो उनके कार्य-व्यापार की देखभाल और सेवा करता है। प्रत्येक ऐसा कार्य जो ब्राह्मण का विशेषाधिकार बताया जाता है, शूद्र के लिये वर्जित है।[398] वह आगे लिखता है, 'शूद्रों के लिये खेती करना भी मना है, क्योंकि उसका यह कार्य पाप है, जो चोरी के अपराध से कम नहीं।[399] जबकि अलबेरुनी के पूर्ववर्ती लेखक इब्नखुर्दबा ने शूद्र का प्रधान कार्य कृषि ही बताया है और उसके परवर्ती लेखक अल-उदरीसी ने भी शूद्र का मुख्य कार्य कृषि ही लिखा है।[400] अलबेरुनी के पूर्ववर्ती और परवर्ती लेखकों के कथन के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि चूंकि शूद्र का कार्य सेवा करना था और कृषि कार्य सेवा से भी सम्बद्ध रहा है, इसलिये इन लेखकों ने कृषि कार्य को शूद्रों से जोड़ा है।

पूर्वमध्यकालीन अनेक अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इस काल में शूद्रों की स्थिति अपेक्षाकृत उच्चस्तरीय हो गयी थी। समसामयिक ग्रन्थों और भाष्यों में शूद्रों को आदर की दृष्टि से देखा गया है। मेघातिथि और विश्वरूप दोनों ने यह आधार लिया है कि शूद्रों को न तो सेवक बनाया जा सकता है और न ही ब्राह्मणों पर निर्भर किया जा सकता है। वे व्याकरण तथा अन्य विधाओं के शिक्षक हो सकते हैं तथा स्मृतियों द्वारा निर्दिष्ट उन सभी कृत्यों को कर सकते हैं जो अन्य वर्गों के लिये निर्दिष्ट थे।[401] हारीत का उदाहरण देते हुये लक्ष्मीधर यह मत व्यक्त करते हैं कि 'विशुद्ध मस्तिष्क का शूद्र निकृष्ट दुर्नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से उत्तम है।[402]

पूर्वमध्ययुगीन भाष्यों एवं टीकाओं से तो यह स्पष्ट होता है कि इस युग में शूद्रों की स्थिति में गतिशीलता तो आयी थी, किन्तु व्यावहारिक रूप में समाज में वह निम्न स्तरीय ही माने जाते थे। उसके सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और नैतिक जीवन से सम्बन्धित जितने भी नियम थे सभी निम्न स्थिति को प्रदर्शित करने वाले थे।

मनु कट्टरपंथी और कठोर नियम नियन्ता होते हुये भी शूद्रों के प्रति कहीं-कहीं उदार भावना व्यक्त करता है। मनु का कथन है कि श्रद्धायुक्त होकर अपनी अपेक्षा नीच व्यक्ति 'शूद्र' से भी उत्तम विद्या ग्रहण करनी चाहिये।[403] मेघातिथि का भाष्य है कि द्विज को आवश्यकता पड़ने पर नीच शूद्र से भी निरन्तर श्रद्धापूर्वक मोक्ष धर्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।[404]

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि शूद्र के सद्‌गुण तथा ज्ञान के प्रति मध्यकालीन व्यवस्थापक जागरूक होने लगे, फलस्वरूप शूद्रों की निम्न स्थिति उच्च होने लगी थी। धीरे-धीरे समाज में शूद्रों के दो वर्गो का विकास होने लगा। पहले वर्ग के अन्तर्गत सत् आचरण करने वाले थे तथा दूसरे वर्ग में असत् आचरण करने वाले थे। पहले वर्ग के शूद्रों में संस्कार और धार्मिक कार्य होता था, किन्तु यह सब मंत्रहीन होता था। इस प्रकार के सन्मार्गी शूद्र मंत्रहीन पंच महायज्ञ धर्म का पालन करते हुये प्रशंसा के पात्र माने जाते थे।[405] स्पष्ट है कि शूद्रों के पहले वर्ग

की स्थिति समाज में निम्न वर्ग अथवा दूसरे वर्ग की अपेक्षा उच्च हो गयी होगी और शूद्रों के इस सन्मार्गी वर्ग का वैश्यों की स्थिति तक पहुंचना सम्भव हो गया होगा। यही कारण रहा होगा कि अलबेरुनी शूद्रों व वैश्यों में अन्तर स्पष्ट नहीं कर पाता तथा उसने शूद्र व वैश्य दोनों ही को समान स्तर का बताया। यह साक्ष्य इस बात को प्रमाणित करते हैं कि पूर्वमध्ययुग में शूद्रों का एक वर्ग निश्चित रूप से वैश्यों के समकक्ष आ गया था। अलबेरुनी ने दोनों के लिये समान दण्ड की व्यवस्था की है।[406] तथा दोनों के एक ही साथ गांव और घर में रहने की बात कही है।[407] सत् और विशुद्ध आचरण करने वाला शूद्र वर्ग असंदिग्ध रूप से समाज में वैश्य वर्ग के समकक्ष आ गया था तथा असत् और दुराचरण करने वाला शूद्र वर्ग मलिन और हीन अवस्था को प्राप्त था।[408] इस काल में अशुद्ध शूद्र अर्थात अछूतों की संख्या में वृद्धि हुई। तत्कालीन विधि ग्रन्थों में इनका वर्णन गोभक्षक के रूप में हुआ है। इन्हें अन्त्यज, बराट, बरुड़, भिल्ल, चांडाल, चर्मकार, दास, नट, रजक आदि के रूप में सूचीबद्ध किया गया है।[409] अलबेरुनी ने भेद, तंतुवायु, चाण्डाल, डोम, हाड़ी आदि के बारे में बताया है।[410] प्रश्न उठता है कि अछूतों की संख्या में वृद्धि क्यों हुई ? स्पष्ट है कि जो पिछड़ी जनजातियां थीं वो ब्राह्मणों के लिये अस्पृश्य थी।[411] अतः उन्हें हिन्दू समाज में पूर्णतः समाहित नहीं किया जा सका था, फ़लतः उन्हें अछूतों की श्रेणी में रख दिया गया। इसे यों भी कह सकते हैं कि पूर्वमध्यकाल में बहुत बड़े पैमाने पर ब्राह्मणीकरण हुआ, इसीलिये अछूत जातियों की संख्या में अपार वृद्धि हुई। इस काल में कुछ विशेष प्रकार के शिकारी और कारीगर अछूत बना डाले गये। शूद्रों के कृषक हो जाने तथा वैश्यों व शूद्रों की स्थिति समान हो जाने के कारण वर्ण व्यवस्था गतिशील हुई। परिणामस्वरूप बंगाल और दक्षिण भारत की नवस्थापित ब्राह्मणिक व्यवस्था में मुख्यतः ब्राह्मण व शूद्रों का ही प्रावधान रहा।

पूर्वमध्यकालीन भारतीय सामाजिक परिवेश में शूद्रों के साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों में जो उद्धरण प्राप्त होते हैं उनमें एक ओर उनकी अपेक्षाकृत मजबूत स्थिति का संकेत प्राप्त होता है तो दूसरी ओर इस युग में भी वह पूर्व युगों की भांति वर्णानुक्रम में अंतिम दहलीज पर ही खड़ा दिखायी देता है। छठीं शताब्दी ई0 से

दसवीं शताब्दी के बीच में शूद्रों की अयोग्यताओं या सामाजिक निषेधों के बारे में प्रमाण मिलते हैं जहां एक तरफ इस युग में भी उसे वेदों के अध्ययन का अधिकार नहीं प्रदान किया गया था वहीं दूसरी ओर गृहस्थ आश्रम को छोड़कर अन्य आश्रमों में भी उसको कम से कम सैद्धान्तिक धरातल पर प्रविष्ट होने का अधिकार नहीं दिया गया था।[412] शूद्रों को कतिपय संस्कारों को करने की छूट इस शर्त पर प्रदान की गयी थी कि उन संस्कारों में वैदिक मंत्रों का उच्चारण न किया जाय।[413] लघु विष्णु स्मृति[414] एवं व्यास स्मृति में शूद्रों को वैदिक मंत्रों के बिना पंचमहायज्ञों के सम्पादन का अधिकार प्रदान किया गया था इसी तरह अत्रि संहिता,[415] स्कन्दपुराण[416] आदि में ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं कि वह जप व होम सम्पादित नहीं कर सकता था। अग्निपुराण[417] में यह स्पष्टतया उल्लिखित है कि यदि इन नियमों का किसी शूद्र के द्वारा उल्लंघन किया जाता है तो उसे अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक दण्ड का भागीदार बना दिया जायेगा। यद्यपि अलबरुनी[418] ने इन उद्धहरणों के आधार पर यह संदेह व्यक्त किया है कि व्यावहारिक जगत में उनका अनुपालन किस सीमा तक किया जाता रहा होगा ऐसा निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता लेकिन पूर्वमध्यकालीन साहित्यिक साक्ष्यों के अवलोकन से शूद्रों की जो सामान्य स्थिति उभर कर सामने आती है उसे देखकर यह अनुमान लगाया जाता है कि इस युग में यद्यपि शूद्रों की दशा में कोई खास परिवर्तन नहीं हो रहा था फ़िर भी पूर्व युगों की तुलना में शूद्रों की दशा संतोषजनक थी। शुक्रनीतिसार[419] में शूद्रों को सेनापति बनाने का निषेध मिलता है लेकिन इस युग में ऐसे शूद्रों के प्रमाण मिलते हैं जो राज्योचित कर्म करते दिखायी पड़ते हैं। मेघातिथि की मान्यता है कि वह व्यक्ति जो राजा के काम सम्पादित करता हो उसे राजा की तरह सम्मान प्राप्त होना चाहिये सम्भवतया मेघातिथि का यह कथन शुक्रनीति के उस कथन को मजबूती प्रदान करता है जिसमें उसकी मान्यता है कि व्यक्ति जन्मना नहीं बल्कि कर्मणा महान होता है।[420]

सातवीं शताब्दी ई0 में विदेशी यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्रा वृतान्त में लिखा है कि उस समय सिन्ध एवं मतिपुर में शूद्रों का शासन था।[421] लोकनाथ के टिप्पेरा लेख से ज्ञात होता है कि उसका पिता पाराशव था जो ब्राह्मण पिता एवं शूद्र

पत्नी की संतान माना जाता है।[422] इसी तरह आर्य मंजूषी मूलकल्प पाल शासकों को दासजीवन: सम्बोधित करता है जो उसकी शूद्र अथवा निम्न उत्पत्ति को सिद्ध करता है।[423] पूर्वमध्यकालीन समाज में शूद्रों की अनेक सामाजिक एवं धार्मिक अयोग्याताओं के बावजूद आर्थिक एवं कतिपय धार्मिक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण सुधार के संकेत प्राप्त होते हैं। शूद्रों के कृषि व्यापार एवं उद्योग में नियोजन इस युग में ह्वेनसांग के विवरणों, स्मृति ग्रन्थों एवं अभिलेखीय साक्ष्यों में दिखायी पड़ते हैं यद्यपि शूद्रों का एक वर्ग अभी भी निम्न पेशे में लगा हुआ दिखायी पड़ता है।

पूर्वमध्यकालीन उपर्युक्त साक्ष्यों के अनुशीलन से उन इतिहासकारों की मान्यता परिपुष्ट होती दिखायी पड़ती है जो इसी तरह के लक्षण मौर्यकालीन समाज में ढूंढने में सफल हुये हैं। ऐसे इतिहासकारों में डी0 सी0 सरकार, लल्लन जी गोपाल, ओमप्रकाश, डॉ0 लवकुश द्विवेदी, यू0 एन0 घोषाल के नाम लिये जा सकते हैं। जिन्होंने कौटिलीय अर्थशास्त्र में शूद्र कर्मकर एवं दास के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करते हुये ऐसे शूद्रों की खोज की है जो एक तरफ समाज के निम्नतम स्तर पर खड़े होकर अन्य तीन वर्णों की सेवा का कार्य करते थे तो दूसरी ओर कृषि और उद्योग में दासों को प्रमुख रूप से चित्रित करने का महत्वपूर्ण कार्य करते थे। वस्तुत: यह द्वैध जो मौर्यकालीन समाजार्थिक जीवन अथवा पूर्वमध्यकाल सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक धरातल पर दिखायी पड़ता है यह कोई विचित्र घटना नहीं बल्कि एक तरफ आदर्श एवं व्यवहार का अन्तर तथा दूसरी तरफ किसी भी समाज का ज्यामितीय पद्धति पर विकसित न होने की मान्यता की अभिपुष्टि करता है। यहां यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि किसी भी समाज में कोई भी परिवर्तन अतीत के अवशेषों का पूर्णतया न तो निषेध प्रस्तुत कर सकता है और न ही वर्तमान और अतीत के गुणों अवगुणों को निष्क्रिय कर सकता है अर्थात् वर्तमान का सृजन अतीत की रीढ़ के बिना सम्भव नहीं है और ऐसे में यह सिद्धान्त प्रतिपादित करना कि भारतीय समाज में एक निश्चित समय तक एक विशिष्ट प्रकार का समाज विद्यमान था, और एक निश्चित समय तक आते-आते पूर्वयुगीन स्मृति पूर्णतया विलुप्त हो गयी और उसका स्थान आद्य नवीन संस्कृति ने लिया ऐसा सम्भव नहीं है। यद्यपि यह सही है कि पूर्वमध्यकालीन भारतीय सामाजिक पृष्ठभूमि में शूद्रों को कतिपय सामाजिक,

आर्थिक, धार्मिक एवं वैधानिक अधिकार प्राप्त हो गये थे लेकिन इससे वह वैश्यों, क्षत्रियों एवं अन्य वर्णों को नीचे ढकेलकर उनके स्थान पर वर्णानुक्रम में स्थापित हो गये हों ऐसा नहीं है। इसी प्रकार कतिपय इतिहासकारों की यह मान्यता है कि पूर्वमध्यकालीन भारत में नगरीय संस्कृति का विनाश, अर्थव्यवस्था की कमजोरी, व्यापार एवं वाणिज्य का विकास, मुद्रा की कमी एवं सामन्तवादी प्रथा का चरमोत्कर्ष भारतीय सामाजिक ढांचे को पूर्णतया परिवर्तित कर चुका था। यह भारतीय इतिहास लेखन के क्षेत्र में पाश्चात्य इतिहास लेखन की कतिपय अवधारणाओं का जबरन प्रत्यारोपण मात्र है। यथार्थ में इसका दूसरा ही पहलू उजागर होता है।

इस प्रकार भारत में पहली बार उत्तरवैदिककाल में लोगों को सिद्धान्ततः चार वर्णों में विभक्त करके[424] वर्ण व्यवस्था का एक ऐसा ढांचा खड़ा किया गया जिसमें न केवल उसकी पहिचान को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया अपितु उनके अधिकारों और कर्तव्यों की भी व्यवस्था कर दी गयी।[425] वर्ण व्यवस्था की इस परम्परागत योजना में ब्राह्मण को आदि पुरुष के मुंह से उत्पन्न बताकर समस्त पवित्र व धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने अथवा कराने का अधिकार प्रदान कर दिया। समाज के इस सर्वोच्च वर्ण से यह अपेक्षा की गयी कि वह पठन-पाठन, यजन-याजन तथा दान-प्रतिग्रह के केवल 6 कर्तव्यों का ही निर्वहन करते हुये समाज को सही दिशा में ले जायेगा क्षत्रियों से यह उम्मीद की गयी चूंकि उनकी उत्पत्ति विराट पुरुष की भुजाओं से हुई है और भुजाओं का कार्य रक्षा करना है, अतएव वह रक्षा कार्य का उत्तरदायित्व निभाते हुये राजकीय एवं प्रशासनिक गतिविधियों को सम्पन्न करेगा। इसी क्रम में स्तरानुक्रम के हिसाब से तीसरा स्थान वैश्यों को प्राप्त हुआ जिनकी उत्पत्ति जंघाओं से बतायी गयी। जांघ शरीर का स्तम्भ होने के कारण तथा वैश्यों की उससे उत्पत्ति के कारण वैश्य सामाजिक स्तम्भ के पर्याय बन गये और उत्पादन प्रक्रिया को गति प्रदान करने का कार्य वैश्यों के ऊपर छोड़ दिया गया। कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, उद्योग-धन्धों जो अर्थव्यवस्था के प्रमुख अंग थे, की जिम्मेदारी वैश्यों पर डाल दी गयी। अब समाज का चौथा वर्ण शूद्र बचा जिसकी उत्पत्ति पैरों से बतायी गयी थी निश्चित रूप से जब धर्म राज्य एवं अर्थव्यवस्था तीनों का बँटवारा हो चुका तो चौथे वर्ण का कोई कार्यगत औचित्य नहीं रहा। अतएव इसे तीनों वर्णो

की सेवा का कार्य सौंप दिया गया।[426] इस प्रकार भारत का प्राचीन सामाजिक ढांचा खड़ा कर दिया। यह परम्परागत ढांचा सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक धरातल पर कितना खरा उतरा इसका आंकलन तो हम आगे प्रस्तुत करेगें लेकिन यहां यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि कोई भी समाज ज्यामितीय सिद्धान्तों के आधार पर नहीं चल सकता क्योंकि उसकी सर्जना ज्यामितीय ढंग से हो ही नहीं सकती। इसलिये व्यवस्थाकारों द्वारा यह निर्दिष्ट कर देना कि यह धार्मिक गतिविधियों का अधिकार क्षेत्र है, यह राजनीति अथवा अर्थव्यवस्था का दायरा है और इसका अतिक्रमण नहीं होना चाहिये, व्यवहारतः सम्भव नहीं है।

वर्ण व्यवस्था की यह जो परम्परागत योजना प्रचारित एवं प्रसारित की गयी इसमें सेवा कार्य से जुड़े हुये शूद्रों एवं उत्पादन कार्य से जुड़े हुये वैश्यों की प्रमुख भूमिका थी। एक श्रम करता था और दूसरा आर्थिक गतिविधियों पर नियंत्रण करके उसके आंशिक श्रम का लाभ उठाता हुआ अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करता था। अर्थात् इस उत्तरवैदिककालीन व्यवस्था में भी शूद्रों को आर्थिक गतिविधियों से व्यवहारतः अलग नहीं किया गया होगा। यद्यपि परम्परागत तो यही व्यवस्था थी कि शूद्र केवल ऊपर के तीन वर्णों के ही कार्य करेगा।[427] लेकिन शूद्रों से मूलतः दो प्रकार के कार्य लिये जाते थे। एक तो उनका उपयोग अनुत्पादक कार्यों में होता था जिनमें उसने केवल द्विज सेवा करायी जाती थी और दूसरे शिल्प कार्य थे जिनमें शूद्रों का नियोजन होता था और वे उत्पादन से सीधे जुड़े हुये थे।[428] शिल्प कार्यों में शूद्रों को नियोजित करके उन्हें वैश्यों के साथ जोड़ा गया था। इस प्रकार शूद्र प्रारम्भ में भी उत्पादन कार्यों से जुड़े हुये थे। लेकिन इस सैद्धान्तिक योजना में ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को ऐसे कार्यों से पूर्णतः अलग रखा गया था।[429] अधिक सम्भावना है कि सेवा कार्य से जुड़े हुये शूद्र वैश्यों के साथ उत्पादन कार्यों को भी सम्पन्न करते रहे हों और वे ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के यहां बहुत कम ही सेवा का कार्य करते रहे होगें क्योंकि जहां उत्तर वैदिककाल में स्थायी तथा मिट्टी से बंधे जीवन को स्वीकार करने के साथ साथ आर्य लोग अपनी यायावरी प्रवृत्ति को छोड़ रहे थे और कृषि की ओर उनका झुकाव बढ़ रहा था, वहीं बढ़े हुये आर्थिक क्रियाकलापों ने निश्चित रूप से कृषि के लिये अनिवार्य विशिष्ट आवश्यकताओं पर अनुकूल जोर दिया होगा जिसके

परिणामस्वरूप बहुत सी विशेषताओ से युक्त पेशेवर कारीगरों का एक वर्ग अस्तित्व में आया होगा जिसमें शूद्रों की संख्या नगण्य न रही होगी क्योंकि इन्हें शिल्प कार्य में नियोजित करने की चर्चा की गयी है। यद्यपि सामाजिक स्थिति और शुद्धता की दृष्टि से शूद्रों को चतुर्थ स्थान पर रखा गया था लेकिन उत्पादन कार्यों में इनकी सहभागिता स्पष्ट हो जाने पर ऐसी पारम्परिक दीवार खड़ी करना असमीचीन होगा। परन्तु यह बिल्कुल सही है कि वर्ण व्यवस्था के इस उपर्युक्त सैद्धान्तिक ढांचे में शूद्रों का आंशिक योगदान ही हो सकता है। जहां तक दासों को उत्पादन पद्धति से जोड़ने का प्रश्न है, कम से कम सैद्धान्तिक संरचना में दासों को उत्पादन के अंग के रूप में कहीं भी नहीं दिखाया गया है दासों का उत्पादन कार्यो से कोई सरोकार वर्ण व्यवस्था की परम्परागत पद्धति में नहीं दिखायी पड़ता जैसा कि वैदिककालीन दासता के विवरणों से स्पष्ट भी हो जाता है।[430]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वर्ण व्यवस्था की सैद्धान्तिक योजना में उत्पादन प्रक्रिया से ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों का तो दूर-दराज तक कहीं कोई सरोकार नहीं था और वैश्यों के कन्धों पर ही सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की जिम्मेदारी डाली गयी थी जिसमें शूद्र केवल सेवा के स्तर पर अनुत्पादक एवं उत्पादक, दोनों प्रकार के कार्यो से जुड़कर अर्थव्यवस्था के सुदृढ़ीकरण में अपनी आंशिक भागीदारी दर्ज करते थे। इसके अतिरिक्त शिल्प कार्य पर भी उनका एकाधिकार अर्थव्यवस्था को समृद्ध बनाता रहा होगा। दासों का वर्ग जो तत्कालीन सेवि वर्ग का आवश्यक अंग था, उत्पादन के कार्यों में कहीं भी जुड़ा हुआ नहीं दिखायी पड़ता। वर्ण व्यवस्था के नियामकों की दृष्टि में यह व्यवस्था प्राचीन भारतीय सामाजिक संरचना की रीढ़ थी। किन्तु यह परम्परागत योजना भारत के सामाजिक यथार्थ को कभी अपने में पूर्णतया समेट न सकी। सामाजिक यथार्थ के प्रति की गयी तत्वों के रूप में जातियों का समायोजन अन्ततः वर्णो को जातियों का समूह बना देता है या दूसरे शब्दों में अधिसंख्य जातियों को वर्णक्रमानुसार वर्गीकृत कर दिया जाता है। यह स्थिति गुप्तोत्तरकाल में दिखायी पड़ती है जब जाति व्यवस्था वर्ण व्यवस्था के पर्याय के रूप में उभर कर सामने आ गयी। अर्थात प्राचीनकाल के इस प्रथमार्द्ध में वर्ण व्यवस्था बरकरार रही और सिद्धान्ततः उसे समाज के चारो वर्णो की उपर्युक्त व्यवस्थाओं के अनुरूप

ही चलाना था जिसमें ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को किसी भी दशा में सेविवर्गो की कोटि में नहीं रखा जा सकता था। वैश्यों को अर्थव्यवस्था का ठेकेदार तथा शूद्रों को सेविवर्ग का प्रमुख आधार स्तम्भ मानना इस ढांचे की विशेषता थी जिसमें दासों का कोई स्थान नहीं था लेकिन यह सैद्धान्तिक योजना कार्यरूप में किस सीमा तक खरी उतरी इसका भी आंकलन प्रस्तुत करना नितान्त आवश्यक है तभी तो यह स्पष्ट हो सकेगा कि सेवि वर्ग, जो बाद में उत्पादन व्यवस्था का प्रमुख वाहक बन गया, केवल शूद्रों द्वारा ही निर्मित था अथवा उसमें वर्ण या जाति का कोई प्रतिबन्ध नहीं था।

वर्ण व्यवस्था के उपर्युक्त सैद्धान्तिक आदर्शो का परिपालन व्यावहारिक धरातल पर बहुत अधिक नहीं हो पाता था जिसका प्रधान कारण यह था कि ये व्यवस्थाएं एकांगी थी। इन व्यवस्थाओं में एक वर्ण को तो सारे उच्च अधिकार प्राप्त थे और दूसरे को शोषित रहने की समस्त विवशतायें झेलनी पड़ती थी। इसकी अव्यावहारिकता का एक पहलू और भी है जो नियम एवं कर्तव्य उच्च वर्णो के लिये बनाये गये थे उनमें इतनी दुरूहता और रूढ़िवादिता व्याप्त थी कि वह समाज के सभी ऊँचे तबके के लोगों द्वारा अनुकरणीय हो ही नहीं सकती थी। उदाहरण के तौर पर ब्राह्मणों के जो छः कर्तव्य गिनाये गये उनसे कितने ब्राह्मणों की उदरपूर्ति हो सकती थी?[431] शौच, अशौच का जितना कड़ा विधान था, वैवाहिक सम्बन्धों में जितनी जटिलतायें समाहित थी, उनका अतिक्रमण तो होना ही था। यही कारण है कि धर्मशास्त्रकारों को उनके निषेध या अतिक्रमण की अवस्था में प्रायश्चितों एवं दण्ड विधानों की व्यवस्था भी करनी पड़ी।[432] यही नहीं, आपद्धर्म के अन्तर्गत जो शिथिलतायें कम से कम उच्च वर्णो के लिये प्रदान की गयी उनमें समाज के इन वर्णो के अधिकांश लोग खड़े दिखायी पड़ते हैं। यदि प्राचीन समाज की संक्रमणकालीन परिस्थितियों की ओर दृष्टिपात किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि तीसरी सदी के लगभग वैश्य शूद्र श्रम पर आधारित सामाजिक संरचना गम्भीर विपत्तियों से गुजर रही थी जिसकी झलक पुराणों में अभिव्यक्त कलियुग वृतान्त में देखी जा सकती है।

शान्तिपर्व में दण्ड[433] के महत्व पर जोर तथा रामायण में अराजकता का वर्णन[434] सम्भवतः इसी पृष्ठभूमि से जुड़ा हुआ है। वर्ण संकरता की विशेषता है। कलियुग

का वर्णन करते हुये महाभारत में कहा गया है कि अन्त्य मध्य हो जायेगे और मध्य के सामाजिक दर्जे में गिरावट आयेगी।[435] यहां हमें युगान्त की एक महत्वपूर्ण विशेषता के रूप में वैश्यों की स्थिति में गिरावट आने तथा उनके शूद्रों की स्थिति में पहुंचने का एक अस्पष्ट सा उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार कात्यायन[436] स्मृति में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कर्षकों की चर्चा से इस बात की पुष्टि होती है कि शूद्र ही नहीं अपितु क्षत्रिय भी कृषि कार्य करने लगे थे। सम्भवतः यह परिवर्तन कौटिल्य की उस व्यवस्था को सम्बल प्रदान करता हुआ प्रतीत होता है जिसमें उसने वैश्योचित 'वार्ता' का अधिकार शूद्रों को प्रदान किया था।[437] विष्णु पुराण शूद्रों को भाग्शाली मानते हुये कहता है कि वैश्य कृषि व्यापार का त्याग करके मामूली कारीगरों की तरह शूद्रों के धन्धे, दासता और कारीगरी के काम शुरू करके उन्हीं को व्यवसाय के रूप में अपना लेगें।[438] यह परम्परा ब्राह्मणों के कार्य क्षेत्र में हस्तक्षेप के रूप में तो आपस्तम्ब धर्म सूत्र[439] के काल में ही दिखायी पड़ने लगती है जहां पर यह वर्णित है कि वैश्य देव बलि द्विजों की देखरेख में शूद्र भी तैयार कर सकता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार वैश्यदेव का अन्न आर्यो (द्विज लोगों) द्वारा स्नान करने के उपरान्त पकाया जाना चाहिये किन्तु आर्यो की अध्यक्षता में इसे शूद्र भी पका सकता है।[440] मध्यकाल के निबन्धों के मत से शूद्र द्वारा भोजन पकाने की बात प्राचीन युग की है। अर्थात् यह युगान्तर का विषय है, कलियुग में वर्जित है। यदि किसी दिन वैश्य का भोजन किसी कारण से न बनाया जा सके तो गृहस्थ को एक रात और एक दिन तक उपवास करना चाहिये।[441] स्मृति चन्द्रिका में ऐसा विवरण है कि जो व्यक्ति बिना वैश्वदेव के स्वयं खा लेता है, वह नरक में जाता है।[442]

वर्ण के अनुसार कार्य सम्पादित करने अथवा न करने के उपर्युक्त उल्लेखों को देखने के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि इस बात पर गम्भीरता से विचार किया जाय कि वर्ण व्यवस्था किस सीमा तक सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं की पहिचान बनी और व्यावहारिक धरातल पर इसका अतिक्रमण किस वर्ण द्वारा किस सीमा तक किया जाता था। इस संदर्भ में यदि ब्राह्मणों के अधिकारों एवं कर्तव्यों की सैद्धान्तिक विवेचना वर्ण व्यवस्था के पूर्ववर्णित ढांचे के अनुसार की जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि

वर्ण व्यवस्था के शीर्ष पर बैठे हुये इस ब्राह्मण वर्ण को छः कार्यों के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना चाहिये जो कि निश्चयतः समाज के सभी ब्राह्मणों के वश की बात नहीं थी। इसलिये इसके आंशिक अनुपालन का खतरा तो इसकी उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न हो गया। आगे चलकर अनेक व्यावहारिक विवशताओं के कारण इनका अतिक्रमण ही सामान्य प्रथा प्रतीत होने लगी और यह कलियुग वृत्तान्त तथा आपद्धर्म की व्यवस्था में स्पष्टतया प्रतिबिम्बित भी होती है। ऐसा लगता है कि व्यावहारिक जगत में इसके सम्यक अनुपालन न हो पाने का एक मात्र कारण इसके सैद्धान्तिक ढांचे की कठोरता थी जिसके लिये ब्राह्मणों के सम्बन्ध में एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा जिसमें मनु ने पितरों को श्राद्ध के लिये अनेक व्यवस्थाएं प्रदान की हैं। उनकी दृष्टि में पितरों को श्राद्ध का हकदार केवल पंक्तिपावन ब्राह्मण ही हो सकता है जिसकी पहिचान इस प्रकार की जा सकती है।[443] 'वेद के अर्थ का ज्ञाता' वेदान्त को पढ़कर भी गुरू से वेदान्त को जानने वाला हजार गायों का या बहुत अधिक दान करने वाला और सौ वर्ष की आयु वाला, इन ब्राह्मणों को पंक्तिपावन जानना चाहिये। निश्चित रूप से पंक्तिपावनता की अर्हताएं अव्यावहारिकता की सीमा तक कठोर थी। उदाहरणार्थ किसी ब्राह्मण की पंक्तिपावनता को जानने के लिये उसकी सौ वर्ष की आयु की गणना किस ज्योतिषशास्त्र से ही जाती रही होगी ? यही नहीं जो ब्राह्मण उपर्युक्त कठिन कृत्यों को सम्पन्न करता रहा होगा, उसकी संख्या समाज में कितनी रही होगी। अर्थात यह एक मात्र ऐसा सैद्धान्तिक जामा था जिसे इक्का दुक्का ब्राह्मण ही पहन पाता रहा होगा। शेष बहुसंख्यक ब्राह्मण समुदाय उस युग में भी इससे बाहर रहा होगा जिसकी अप्रत्यक्ष संपुष्टि स्वयं मनु ने ही कर दी है। मनु के अनुसार ऐसे ब्राह्मण जो मांस बेचने,[444] व्यापार कर्म करने वाले,[445] प्रेष्य,[446] वेतनभोगी,[447] सूदखोर,[448] पशुपालक,[449] चन्दा लेने वाले,[450] सोमविक्रेता,[451] समुद्र यात्रा करने वाले,[452] तेल का व्यापार करने वाले,[453] जुआं खिलाने वाले,[454] गन्ने का रस बेचने वाले,[455] धुनष-बाण बनाने वाले,[456] धृतशाला के अध्यक्ष,[457] हाथी घोड़ा को युद्धाभ्यास कराने वाले,[458] चिड़ियों का व्यापार करने वाले,[459] युद्ध की शिक्षा देने वाले,[460] ठेकेदारी करने वाले,[461] दौत्य कर्म करने वाले,[462] मालीगिरी करने वाले,[463] कृषि कार्य करने वाले,[464] मुर्दे को धन लेकर बाहर घसीटने वाले,[465] तथा वेतन लेकर पूजा कराने वाले हों[466]

वे सभी अपंक्तिपावन ब्राह्मण होते हैं। इन्हें पितरों के श्राद्धभोज में नहीं बुलाया जा सकता। यदि उपर्युक्त सूची पर ध्यान दिया जाय तो यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि उस युग का ब्राह्मण विशेषतया जो मनुवादी ब्राह्मण व्यवस्था का द्योतक है, कृषकों, वैश्यों से लेकर चाण्डालों तक के कार्य करता था और ऐसे ब्राह्मणों की संख्या अपवादस्वरूप न रही होगी।[467] अतः यदि समाज में वर्ण व्यवस्था का सुप्रतिष्ठित सैद्धान्तिक शिकंजा, मजबूत होता तो ऐसे उल्लेखों का कोई औचित्य नहीं था, अथवा ऐसे उल्लेख अपवादस्वरूप मिलते। लेकिन इसे देखकर तो ऐसा लगता है कि वर्ण व्यवस्था की यह सैद्धान्तिक योजना मात्र आदर्शों की दुहाई भर दे रही थी और व्यावहारिक जगत में वर्ण अथवा जाति का कोई प्रतिबन्ध उनके व्यवसायों के सम्बन्ध में विद्यमान नहीं था।

इसी प्रकार के कतिपय दण्ड विधान भी यह स्पष्ट करते हुये प्रतीत होते हैं कि वर्ण व्यवस्था की सैद्धान्तिक योजना में निर्दिष्ट अदण्डनीय ब्राह्मण को व्यावहारिक दृष्टि से दण्ड के कटघरे में खड़ा किया जा सकता है। मनु ने बताया है कि ब्राह्मण चोर का अभिज्ञान हो जाने पर उसे 64 गुना या सौ गुना पाप होता है, क्षत्रिय को 32 गुना, वैश्य को 16 गुना तथा शूद्र को 6 गुना पाप होता है। ये सभी इसी क्रम में दण्डनीय भी होते हैं।[468] इस दण्ड विधान में ब्राह्मणों के लिये अधिकाधिक दण्ड की व्यवस्था स्वयं सिद्ध है। इसी प्रकार मनु ने लिखा है कि ब्राह्मण यदि किसी क्षत्रिय को चोर या कटुवचन कहे तो उसे 50 पण का दण्ड भोगना पड़ेगा। यदि वैश्य को ऐसा वचन कहे तो 25 पण तथा शूद्र को कहने पर 12 पण का दण्ड उसे भोगना पड़ेगा।[469] यहां पर यह ध्यातव्य है कि ये घटनायें जिनमें किसी को कटुवचन तक पर दण्ड की व्यवस्था है, सामान्य अपराध कही जा सकती है और जब ब्राह्मण जैसा पवित्र वर्ण सामान्य से सामान्य अपराध के लिये भी दण्डित किया जा सकता था तो गम्भीर अपराधों पर भी निश्चित रूप से उसे मृत्युदण्ड तक भी मिलता रहा होगा। जबकि मनु ने ब्राह्मण को प्राणदण्ड देने का निषेध किया है।[470] लेकिन एक स्थान पर मनु ने स्वयं लिखा है कि ब्राह्मण वध पर बारह वर्षों का प्रायश्चित करना पड़ेगा।[471] इसका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणों की हत्या कोई असामान्य घटना न रही होगी। ब्राह्मण को मृत्युदण्ड देने का एक

परवर्ती प्रमाण मृच्छकटिक में ब्राह्मण अपराधी को राजकीय अदालत द्वारा दिया गया मृत्युदण्ड का निर्णय है। आततयी ब्राह्मणों के वध की अनुमति स्वयं स्मृतियों ने ही दी है।

मनु ने ब्राह्मणों के जीवन निर्वाह के लिये दस कर्म विहित किये जिन्हें वह विशिष्ट परिस्थितियों में अपना सकता था। इसमें विद्या, शिल्प, भृति, सेवा, गोरक्षण, व्यापार, कृषि कर्म, भिक्षा समूह, सूद पर धन लेना शामिल है।[472] यही नहीं, उन्होंने ब्राह्मण कृषकों का भी प्रमाण दिया है।[473] ब्राह्मणों के गर्भ से उत्पन्न कीनाश पुत्र को खेती करने के लिये एक बैल या 'हल तथा बैल' सवारी घोड़ा आदि, आभूषण, घर इनमें से जो श्रेष्ठ हो, उन सब भागों में से एक भाग देने की व्यवस्था मनु ने दी है। कुल्लक ने मनु पर भाष्य लिखते हुये कीनाश का तात्पर्य कर्षक से किया है।[474] ब्राह्मण जीविका के निर्वाह होने की शंका पर वैश्यों के कार्य अपना सकता था।[475] सात रातों तक व्यापार में संलग्न ब्राह्मण को वैश्य हो जाने वाला ब्राह्मण मनु द्वारा बताया गया है।[476] यही नहीं ''कृषोवल'' का उल्लेख करके मनु ने ब्राह्मण कृषक की बात भी पुष्ट कर दी है।[477] मनु ब्राह्मण को क्षत्रियोचित कर्म करते हुये भी दिखाते हैं। ब्राह्मणों को शिल्पकार्य से जुड़ा हुआ दिखाकर[478] मनु ने वर्ण व्यवस्था की सारी सीमाओं को तोड़ दिया। इस प्रकार जब मनु जैसे विचारक ब्राह्मणों को उनके विहितकर्मों से अलग दिखाते हैं तो अन्य विचारकों अथवा ऐतिहासिक स्रोतों में ऐसी परम्पराओं के अभाव का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। कौटिल्य ने भी वर्णगत ढांचे के बाहर इन कृत्यों को ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न करते हुये दिखाया है।[479] पूर्वमध्यकाल के इस युग में जबकि भूमिदानों की परम्परा अपने पूरे उफान पर थी। उस युग में ब्राह्मणों को गैर ब्राह्मणों के कार्य करते हुये आसानी से देखा जा सकता है।

पूर्वमध्यकालीन भारत में यद्यपि वर्णाश्रम धर्म को पुनस्थापित करने के प्रयासों की चर्चा मिलती है लेकिन वे केवल सैद्धान्तिक उद्घोषणाओं से बहुत ज्यादा आगे नहीं बढ़ पाये और व्यावहारिक धरातल पर उसका कोई खास असर नहीं पड़ा यों तो वर्णाश्रम व्यवस्था को गुप्तों एवं मौखरियों के शासनकाल में भी पुर्नस्थापित करने की चर्चायें मिलती है।[480] लेकिन यह यथार्थ जीवन में सफलता नहीं प्राप्त कर सका।

यद्यपि पूर्वमध्यकालीन स्मृतिकारों ने यह व्यवस्था दी कि यह राजा का कर्तव्य है कि वह श्रोत्रिय ब्राह्मणों एवं उन ब्राह्मणों की जो अपनी जीविका का निर्वाह न कर पा रहे हों, रक्षा करे।[481] यही नहीं अधीतकालीन अभिलेखीय साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि दान ग्रहीता को दाता अनेकों अधिकारों से सम्पन्न कर देता था।[482] लेकिन ऐसे ब्राह्मणों के भी प्रभूत प्रमाण हैं जो असहाय अवस्था में थे और समस्त गैर ब्राह्मणोचित कर्मों को करते थे। इसका विवरण अलबेरुनी ने अत्याधिक विस्तार से दिया है।[483] यदि पराशर स्मृति के प्रायश्चित खण्ड का विशद् अध्ययन किया जाय तो ब्राह्मणों की उस स्थिति का स्पष्ट अंदाजा लग जाता है कि जिसमें वे वर्ण वाह्य कर्म करते हुये दिखायी पड़ते हैं जो वर्णगत ढांचे का सीधा-सीधा अतिक्रमण भी था।[484] वृहन्नारदीय पुराण में देशाचार[485] के जो नियम सामने आते हैं उन्हें देखने से ऐसा लगता है कि वर्ण व्यवस्था का सैद्धान्तिक आदर्श यथार्थ जीवन में सर्वदा अप्रासंगिक था इसीलिये इन स्वयंभू व्यावहारिक व्यवस्थाओं को जन्म लेना पड़ा। इसी प्रकार क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों की अलग अलग स्थितियां दिखायी पड़ती है। क्षत्रियों की परम्परागत योजनानुसार केवल रक्षा कार्य सौंपा गया लेकिन उपनिषदों के काल से ही इसका अतिक्रमण मिलने लगता है। शिक्षा के क्षेत्र से लेकर कृषि एवं सेवा कार्य तक सभी क्षेत्रों में क्षत्रियों की भूमिका को प्राचीन एवं पूर्वकालीन संदर्भों में देखा जा सकता है। यदि उपनिषदों के युग में क्षत्रियों को शिक्षा के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित करते हुये दिखाया गया है तो कात्यायन स्मृति में[488] इन्हें कृषकों के रूप में आगे चलकर भृत्यों एवं भीलों[489] के रूप में चित्रित किया गया है। कृषि एवं वाणिज्य[490] इनके सामान्य कर्मों में बताये गये हैं। इन्दौर ताम्रलेख क्षत्रिय वणिक की चर्चा स्पष्ट रूप से करता है।[491] युद्ध क्षेत्र में तुर्क आक्रमणों के समय विशेष रूप से, क्षत्रियों को बन्दी बनाकर दासता में ढकेल देना पूर्व मध्यकाल की एक सामान्य घटना हो गयी थी जो वर्ण व्यवस्था के सारे सैद्धान्तिक आधारों को ध्वस्त करती हुई प्रतीत होती है।[492]

जहां तक वैश्यों एवं शूद्रों की स्थिति का प्रश्न है यहां कार्यों की उभयनिष्ठता दिखायी पड़ती है। वर्णगत ढांचे में यदि एक वर्ग को कृषि, पशुपालन और वाणिज्य का अधिकार प्रदान किया गया तो दूसरे को केवल द्विजों की सेवा का कार्य सौंपा

गया था। लेकिन यथार्थ जीवन में दोनों ही एक दूसरे की सीमा में अन्तप्रविष्ट प्रतीत होतं हैं। पूर्वमध्यकालीन परिस्थितियां तो इसकी भरपूर गवाही देती है। लेकिन पूर्वकाल में मनु तथा कौटिल्य भी इसका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।[493] कौटिल्य ने पहली बार वैश्योंचित कर्मो में शूद्रों को भागीदार बनाया और उन्हें महत्वपूर्ण 'वार्ता' के अधिकार से संयुक्त कर दिया।[494] यही नहीं मनु भी शूद्र गुरू,[495] तथा शूद्र छात्र,[496] शूद्र कर्ता,[497] शूद्र याजक,[498] तथा सुकालों शूद्,[499] आदि की चर्चा अप्रत्यक्ष रूप से करते हैं। पणिनि[500] ने शिल्पी शूद्र तथा अकुशल श्रमिक शूद्र, कौटिल्य ने शूद्र सेना[501] एवं शूद्र कर्षक[502] का प्रमाण प्रस्तुत किया है। जिसकी विस्तार से चर्चा इसी अध्याय के अगले अंशों में की जायेगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि शूद्रों एवं वैश्यों के कार्यो में यथार्थ जीवन में कोई बहुत बड़ा विभेद नहीं विद्यमान था।

कलियुग वृत्तान्त में वैश्यों की स्थिति में गिरावट तथा शूद्रवत कर्मो में उनकी संलग्नता को दिखाने का प्रयास किया गया है। स्कन्दपुराण[503] में वर्णित है कि वैश्य लोग कलियुग में वाणिज्य व्यापार का परित्याग करके तैलकार तथा तंदुलकार, तेलों तथा चावल कूटने वाले' बन जायेगें और उनमें बहुत से लोग राजपुत्र सरदारों के आश्रित हो जायेगें। दूसरी तरफ दशावतारचरित[504] में शूद्रों को वैश्यों की स्थिति में पहुंचते हुये दिखाया गया है। इस प्रकार यहां पर भी वर्णगत ढांचे का परिहार ही दिखायी पड़ता है। लेकिन ऐसे विवरणों को आधार मानकर यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया जाता है कि आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तनों के क्रम में शूद्र दास और सेवक मुख्यत: आश्रित किसान पट्टेदार, बटाईदार और खेतिहर मजदूर बन गये थे।[505] इस प्रकार कृषि दासता के अभ्युदय एवं दासता मूलक अर्थव्यवस्था के पतन के माध्यम से ऐसे इतिहासकारों ने सामाजिक संरचना के उस योरोपीय ढांचे को भारतीय सामाजिक ढांचे में फिट करने की कोशिश की जिसके अनुसार दासतामूलक अर्थव्यवस्था के बाद सामन्ती अर्थव्यवस्था का उदय होता है जिसका प्रमुख आधार उत्पादन सम्बन्धों में कृषिदासों एवं शूद्रों की भूमिका होती है। ऐसे विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया कि पूर्वकाल में राजनीतिक तथा आर्थिक अभिजन वर्ग बुनियादी उत्पादन के लिये मुख्यत: कृषि उत्पादन के लिये दासों के श्रम पर निर्भर करता था। यह स्थिति मौर्यकाल में ज्यादा स्पष्ट दिखायी पड़ती है।[506] मौर्यो के पतन के बाद राजनीतिक

नियंत्रण की आपेक्षिक शिथिलता तथा विदेशी आक्रमणों से आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को आघात लगा जिससे पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था को अधिक सुदृढ़ करने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। अर्थव्यवस्था के उत्तरोत्तर विकास के क्रम में धीरे धीरे भूमि संसाधनों की मुक्त उपलब्धता, उत्पादन के साधनों का विकास, पारिवारिक विभाजन के कारण जमीन का बँटवारा तथा नियम विधानों और रीति-रिवाजों से उच्चतर वर्णों की सेवा करने को बाध्य एक बहुत बड़े शूद्र श्रमिक वर्ग का उदय इत्यादि विशेषतायें दिखायी पड़ने लगीं और ऐसी अव्यवस्थाओं में दास श्रम अनावश्यक प्रतीत होता हुआ मान लिया गया।[507]

भारत का पूर्वमध्ययुगीन समाज यदि एक ओर निम्न वर्ग के विकास को संयोये हुये था तो दूसरी ओर वैश्यों के अध:पतन व ब्राह्मणों क्षत्रियों के बीच भी कुछ ऐसी ही स्थिति का संकेत समेटे हुये था लेकिन इसे एक सार्वभौमिक सत्य के रूप में नहीं स्वीकार किया जाना चाहिये क्योंकि जिस प्रकार पूर्ववर्ती युगों में किसी वर्ण विशेष का समस्त समुदाय एक ही धरातल पर नहीं खड़ा किया जा सकता था अर्थात् उसमें भी कुछ गरीब और कुछ अमीर लोग थे। कुछ अधिकार सम्पन्न थे और कुछ अधिकार विहीन उसी प्रकार पूर्वमध्ययुग में चारो वर्णों की स्थिति दिखायी पड़ती है। यदि एक ओर उस समय का ब्राह्मण विद्वता के चरम पर था तो दूसरी ओर मृच्छकटिक उसे चोरी जैसे कृत्य में भी लिप्त दिखाता था। इसी तरह ज़हां एक ओर यह पूरा युग राजपूतों के शौर्य एवं पराक्रम को अनेक बार प्रस्तुत करता है वहीं क्षत्रियों की विपन्ना अवस्था एवं उनकी बिक्री तक के प्रमाण इस युग में दिखायी पड़ते हैं इसी तरह वैश्यों एवं शूद्रों की भी स्थिति दिखायी पड़ती है। शूद्र यदि मुस्लिम आक्रमणों की वजह से प्रभावित हुआ वहीं वैश्यों को शूद्रोत्व कर्म करते हुये भी देखा जा सकता है इस युग में शूद्र विद्यार्थी, शासक, सेनापति, कृषक, दास, व्यापारी आदि अनेक भूमिकाओं में खड़ा दिखायी पड़ता है। इसलिये किसी वर्ण विशेष को उसकी समग्रता में रखकर देखने से ही कोई निष्कर्ष निकालना उचित होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि अधीतकाल में आकर जातिगत उच्चता अथवा निम्नता का निर्धारण जन्मना न होकर कर्मणा पर आधारित हो गयी ऐसे में किसी पूर्व निश्चित परिकल्पना अथवा ढांचे में अधीतकालीन समाज का अध्ययन किसी एक धारा का

प्रतिनिधित्व तो कर सकती है लेकिन निष्पक्ष इतिहास लेखन इससे सम्भव नहीं है। अतः अधीतकालीन भारतीय समाज के अध्ययन के लिये पूर्वनिश्चित प्रतिमानों अथवा मापदण्डों से मुक्त रहकर उपलब्ध तथ्यों एवं साक्ष्यों के आधार पर निष्पक्ष मूल्यांकन के मापदण्ड से ही सम्भव है यदि इस दृष्टि से पूर्वमध्यकालीन समाज का अध्ययन किया जाय तो भारत में सामाजिक गतिशीलता का लक्षण तो दिखायी पड़ता है लेकिन उसके उर्ध्वमुखी एवं अधोमुखी होने पर निर्णय देते समय सजग रहना पड़ेगा।

-: 0 :-

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, दिल्ली, 1975, पृ0 43 ।
2. वही।
3. विष्णु पुराण 1, 12, 63, 64 ।
4. मनुस्मृति, 1.31 ।
5. मत्स्य पुराण 4.28 ।
6. पराशर स्मृति, 1.35 ।
7. दीर्घ निकाय, 1, 97-98 ।
8. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना,1974, पृ0 92 ।
9. वही, पृ0 101 ।
10. ओमप्रकाश, पूर्वो0 पृ0 40 ।
11. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 101 ।
12. वही।
13. सिंह, पारसनाथ, हर्षकालीन समाज, वाराणसी, 1979 ।
14. एपिग्राफिया इंडिका, 4 पृ0 208-11 ।
15. वाटर्स टी0 आन श्वान-च्वांग, लंदन, 1905, जिल्द 1, पृ0 168 द्वारा उद्धत पारशनाथ, पूर्वो0 पृ0 14 ।
16. वही।
17. झा एवं श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली 1981, पृ0 373 ।
18. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी, 1968, पृ0 98 ।
19. वही।

20. वही।

21. सिंह, रामवृक्ष, गुप्तोत्तरकालीन राजवंश, लखनऊ 1982, पृ0 202 ।

22. वाटर्स, 1, पृ0 140 ।

23. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, पूर्वो0, पृ0 103 ।

24. वही, पृ0 102 ।

25. वही।

26. असंस्कृतमतयोऽपि जात्यैव द्विजन्मानो माननीयाः 1- हर्षचरित, पृ0 18 ।

27. ग्यारहवीं सदी का भारत पृ0 103 ।

28. लेखपद्धति, शासनपत्र, पृ0 3, अभिज्ञान चिन्तामणि, 3.8, 11-12 ।

29. पाण्डेय, विमलचन्द्र, पूर्वो0 1985, पृ0 250 ।

30. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 पृ0 373 ।

31. थापर, रोमिला, भारत का इतिहास, (1000 ई0पू0 1526 ई0 तक) नई दिल्ली, 1975, पृ0 164 ।

32. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0 110 ।

33. कृत्यकल्पतरु, गृहस्थ, पृ0 252 ।

34. एपिग्राफिया, इंडिया, 15, पृ0 218 ।

35. वाटर्स, 1, पृ0 168 ।

36. थापर, रोमिला, पूर्वो0 पृ0 116 ।

37. वही, पृ0 122 ।

38. वही, पृ0 117 ।

39. वही, पृ0 144 ।

40. सिंह, रामवृक्ष, पूर्वो0, पृ0 179 ।

41. हर्षचरित, चतुर्थ उच्छवास, पृ0 6 ।

42. वही, पंचम उच्छवास, पृ0 35 ।

43. वही, चतुर्थ उच्छवास पृ0 9, पंचम उच्छवास, पृ0 22.28.29, सप्तम उच्छवास, पृ0 59

44. वही, पृ0 89, 111, 122 आदि।

45. कृत्यकल्पतरु, राजधर्मकांड, पृ0 9-18 ।

46. 'अन्तर्वल्नी तस्य पत्नीं यदुकुलोदवहः।

    राज्ये यशोवती नाम द्विजैः कृष्णोऽम्यषेचयत्।।

    - राजतरंगिणी, 1.70 ।

47. ग्यारहवीं, सदी का भारत, पृ0 109 ।

48. वही, पृ0 109 ।

49. कृत्यकल्पतरु, राजधर्मकाण्ड, पृ0 176, यशस्तिलक, पृ0 361-द्वारे, तवोत्सवमतिश्रच पुराहितोऽपिं।

50. थापर, रोमिला, पूर्वो0, पृ0 116 ।

51. पाठक, विशुद्धानन्द, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, लखनऊ। तृतीय संस्करण, 1982, पृ0 40 ।

52. पाण्डेय, विमलचन्द्र, पूर्वो0, पृ0 501 ।

53. यादव, बी0 एन0 एस0, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इडिया इन दि ट्वेल्थ सेंचुरी ए0 डी0, इलाहाबाद, 1973, पृ0 25 ।

54. पाठक, विशुद्धानन्द, पूर्वो0 पृ0 402 ।

55. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0, पृ0 29 ।

56. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0 107 ।

57. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 पृ0 373 ।

58. पूर्वो0, पृ0 372-423 ।

59. पराशर पर माधवाचार्य की टीका, आचारकाण्ड, 2.2 ।

60. कृत्यकल्पतरु, गृहस्थकाण्ड, पृ0 194-195 ।

61. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 ।

62. वही।

63. वही।

64 वही।

65. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 पृ0 374 ।

66. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0, पृ0 1301 ।

67. कृत्यकल्पतरु, गृहस्थकाण्ड, पृ0 194 ।

68. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0, पृ0 130 ।

69. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 पृ0 375 ।

70. मनु0, 8.38, 8.268, 8.379.8, 8.340 ।

71. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये-

द्विवेदी, लवकुश, प्राचीन भारत में दास प्रथा, इलाहाबाद विश्वविद्यालय का अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध।

72. वही।

73. द्वारा उद्धत- काणे, पी0 वी0 धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग प्रथम, जिल्द-2, अध्याय-3

74. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0, पृ0 25 ।

75. सचाऊ, एडवर्ड, जिल्द-2, पृ0 149 ।

76. मानसोल्लास 1, पृ0 44 ।

77. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिय-

अल्टेकर, ए0 एस0 द राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स, पूना, 1934,पृ0 328 ।

78. यादव, बी0 एन0 एस0 पूर्वो0 पृ0 25 ।

79. वही।

80. कृत्यकल्पतरु, ब्रह्मचारीकाण्ड, पृ0 2 ।

81. इंडियन हिस्ट्रोरिकल क्वार्टली 1940, जिल्द 16, पृ0 670 और आगे। ।

82. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

83. वही।

84. वही।

85. वही।

86. मजूमदार, आर0 सी0, द स्ट्रगल फॉर एम्पायर, बम्बई, 1957 पृ0 334 ।

87. ब्राह्मणों की विशिष्ट भूमिका को विस्तार से रेखांकित करने का प्रयास गौरीशंकर तिवारी ने अपने शोध-प्रबन्ध उत्तर भारत में ब्राह्मणों की स्थिति में किया है।

88. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

89. सचाऊ, एडवर्ड, जिल्द-2, पृ0 162 ।

90. काणे, पी0 वी0, पूर्वो0, पृ0 152 ।

91. राजतरंगिणी, 4.96 ।

92. वही।

93. वही, 7.1229 ।

94. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 32, नं0 36 ।

95. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 पृ0 19-32 ।

96. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 1, पृ0 184 ।

97. वही, पृ0 173 और आगे।

98. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 पृ0 88, पाद टिप्पणी 222 ।

99. वही।

100. दशावतार चरित, पृ0 160 ।

101. यादव, बी0 एन0 एस0 पूर्वो0, पृ0 20 ।

102. सुभाषित रत्नकोष, पृ0 39 ।

103. सुदुक्ति-कर्णाभृत, 317 ।

104. यादव, बी0 एन0 एस0 पूर्वो0 ।

105. हर्षचरित, सप्तम् उच्छवास, पृ0 54 ।

106. वही।

107. वही।

108. थापर, रोमिला, पूर्वो0 पृ0 111 ।

109. एपिग्राफिया इण्डिया, जिल्द 4, पृ0 208 तथा आगे।

110. पाण्डेय, विमलचन्द्र, पूर्वो0 पृ0 307 ।

111. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0, पृ0 12.5

112. वही।

113. कृत्यकल्पतरु, दानकांड, पृ0 30 और आगे।

114. मिताक्षरा, पृ0 210 ।

115. अत्रिस्मृति, श्लोक 373-383 ।

116. वही।

117. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0, पृ0 22 ।

118. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 133 ।

119. पाठक, विशुद्धानन्द, पूर्वो0, पृ0 16 ।

120. वही।

121. शब्दानुशासन, 5.2.11, 7.3.107 ।

122. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द्र, राजपूताना का इतिहास, अजमेर, 1937, जिल्द-1, पृ0 10 213 ।

123. यादव, बी0 एन0 एस0 सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया इन दि ट्वेल्थ सेंचुरी ए0 डी0 इलाहाबाद, 1973, पृ0 22 ।

124. ए0 इ0, 5, पृ0 115 ।

125. वही, 4 पृ0 243 ।

126. वर्मा, धीरेन्द्र, मध्य-प्रदेश, पटना, 1925, पृ0 17 ए0 इ0, 2 पृ0 161 ।

127. तिवारी, गौरीशंकर, पूर्वो0 पृ0 69 ।

128. वही, पृ0 70 ।

129. वही।

130. वही, पृ0 43 ।

131. कार्पस, 412, पृ0 390 ।

132. काणे, पी0 वी0 पूर्वो0, पृ0 201 ।

133. वही।

134. तिवारी, गौरीशंकर, पूर्वो0, पृ0 3 ।

135. बौद्ध साहित्य की जातक कथाओं के अनुसार कुरु-पांचाल क्षेत्र के उदीत्य ब्राह्मण मगध के पूर्व में निवास करने वाले ब्राह्मणों को हेय दृष्टि से देखते थे। ऐतरेय ब्राह्मण (7.27) में प्रयुक्त 'मगधदेशीय 'ब्रम्हबन्धु' शब्द मगध के ब्राह्मणों पर सीध आपेक्ष है। प्रतीच्य ब्राह्मणों में शाकद्वीपी, मगा तथा भोजकों आदि

की भी आनुष्ठानिक स्थिति के प्रति संदेह किया जा सकता है। देखिये- शर्मा एवं झां, (सम्पा0), 'इण्डियन सोसाइटी हिस्ट्रोरिकल प्रोविंग' नई, दिल्ली, 1914, पृ0 109 ।

136. मत्स्य पुराण, 16.16, ओझा, आदित्य प्रसाद, पूर्वो0 पृ0 31 ।

137. ओमप्रकाश प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, दिल्ली, 1975, पृ0 56 ।

138. फ्लीट, जॉन फेथफुल-कार्पस, 3 पृ0 70 ।

139. द्वारा उद्धत- यादव, बी0 एन0 एस0, पृ0 89 पाद टिप्पणी 262 ।

140. मनु0 3.186 ।

141. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0, पृ0 24 ।

142. शर्मा, बी0 एन0 सोशल लाइफ इन नार्दन इण्डिया, पृ0 46 ।

143. फ्लीट, जान फेथफुल-कार्पस, 3 पृ0 70 ।

144. चरणव्यूह, 1 पृ0 5 ।

145. स्कन्दपुर का इन्दौर अभिलेख सरकार सेलेक्ट इस्क्रिप्शन, पृ0 310 ।

146. 'चतुर्वेदीय भवेद्धिव्रो वेदवेदांगपारम्, ब्रह्मपुराण, अध्याय 56, श्लोक 77 ।

147. ए0 इ0 18, पृ0 199 ।

148. वही, 4, प10 157 ।

149. वही 4, पृ0 124 ।

150. वही, 9 पृ0 108 ।

151. तिवारी, गौरीशंकर, पूर्वो0 पृ0 202 ।

152. वही, पृ0 203 ।

153. सचाऊ, भाग-1, पृ0 102 ।

154. ए0 इ0 23, पृ0 109 ।

155. तिवारी, गौरीशंकर, पूर्वो0 पृ0 204 ।

156. सचाऊ भाग-1, पृ0 102 ।

157. बैजयन्ती, पृ0 84, श्लोक, 23 ।

158. ए0 इ0, 9 पृ0 122 ।

159. लटकमेलक, अंक 2 ।

160. मनु0, 2, 14 ।

161. उक्ति, व्यक्ति प्रकरण, पृ0 76 ।

162. तिवारी, गौरीशंकर, पूर्वो0, पृ0 211 ।

163. जायसवाल, के0 वी0 हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, लाहौर, 1933 पृ0 48 ।

164. ईश्वरी प्रसाद, पूर्वो0 पृ0 74 ।

165. दत्त, बी0 एन0 स्टडीज इन इण्डियन सोशल पौलिटी, कलकत्ता 1944, पृ0 263 ।

166. मनु0, 12.100 मेघातिथि की टीका।

167. मिश्र, जयशंकर, पूर्वा0 पृ0 130 ।

168. वही।

169. वही।

170. वही।

171. वही।

172. वही।

173. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 पृ0 379-90 ।

174. वही।

175. वही।

176. कृत्यकल्पतरु, गृहस्थकाण्ड, पृ0 252 ।

177. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0 104 ।

178. पूर्वो0 पृ0 112 ।

179. वही।

180. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 106 ।

181. मनु0, 10.83 ।

वैश्यवृत्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपिवा ।

हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ।।

182. एपिग्राफिया इंडिया जिल्द प्रथम, पृ0 125 ।

183. मनु0 10.83 ।

184. ओमप्रकाश, पूर्वो0 पृ0 60 ।

185. कृत्यकल्पतरु, दानकाण्ड, पृ0 37 ।

186. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0, पृ0 137 ।

187. वही।

188. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये- पाठक, विशुद्धानन्द पूर्वो0 ।

189. वर्ण व्यवस्था पर महत्वूपर्ण काम करने वाले इतिहासकारों में पी0 वी0 काणे, जयशंकर मिश्र तथा मनोरमा जौहरी के नाम लिये जा सकते हैं। जयशंकर मिश्र ने क्षत्रियों के अधिकार एवं कर्तव्य की चर्चा अपने ग्रन्थ में अधिकारिक रूप से की है। विस्तृत विवरण के लिये देखिये, मिश्र जयशंकर, पूर्वो0, वर्ण व्यवस्था नामक अध्याय।

190. वाटर्स टी0, पूर्वो0, जिल्द-1, पृ0 322 ।

191. झा एवं श्रीमाली पूर्वो0, पृ0 374 ।

192. मेघातिथि की मनुस्मृति पर टीका, 4.84 ।

193. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये- शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद ।

194. शर्मा, बी0 एन0, सोशल लाइफ इन नार्दर्न इंडिया, पृ0 46 ।

195. सचाऊ, एडवर्ड, पूर्वो0, जिल्द 2, पृ0 136 ।

196. अल्टेकर ए0 एस0 राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स, पूना,1934, पृ0 318-19 ।

197. इलियट और डाउसन, हिस्ट्री ऑफ ऐज टोल्ड बाई इट्स ऑन हिस्टोरियन्स जिल्द-1, पृ0 16 ।

198. झा एवं श्रीमाली, ।

199. वही।

200. सचाऊ, एडवर्ड, पूर्वो0, जिल्द-1, पृ0 101 ।

201. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द-21, पृ0 297 ।

202. इलिएट और डाउनसन, पूर्वो0, पृ0 16-17 ।

203. वैद्य, सी0 वी0, हिस्ट्री ऑफ मेडिकल हिन्दू इंडिया, जिल्द 3, पूना, 1924, पृ0 374

204. पृथ्वीराज विज़य, 6, 244 ।

205. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 पृ0 35 ।

206. वही, पृ0 36 ।

207. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 पृ0 355 ।

208. द्वारा उद्धत- यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0, पृ0 95, टिप्पणी 409 ।

209. वही, पृ0 36 ।

210. राजतरंगिणी, 7-16-17 ।

211. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

212. वैद्य, सी0 वी0, जिल्द-27, पृ0 51 ।

213. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

214. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वोक्त ।

215. वही।

216. स्मिथ, बी0 ए0, अर्ली हिस्ट्री ऑफ मैडिवल इंडिया, पृ0 407 और आगे।

217. श्रीवास्तव, के0 सी0, प्राचीन भारत का इतिहास, इलाहाबाद,1991, पृ0 520 ।

218. श्रीवास्तव, के0 सी0, पूर्वो0 ।

219. शर्मा, रामशरण, पूर्वो0 पृ0 20 ।

220. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0, पृ0 33 ।

221. वही।

222. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0, पृ0 356 ।

223. भण्डारकर, डी0 आर0 फारेन एलिमेन्ट्स इन द हिन्दू पापुलेशन जर्नल ऑफ द इण्डियन हिस्ट्री, जिल्द-1, पृ0 301-3. ।

224. शर्मा, रामशरण, पूर्वो0 ।

225. वही।

226. वही।

227. प्रधान, एम0 सी0 द पालिटिकल सिस्टम ऑफ जाट्स इन नार्दर्न इण्डिया परिशिष्ट 1, ऑक्सफोर्ड, 1966, पृ0 254-55 ।

228. शर्मा, रामशरण, पूर्वो0 ।

229. ओझा, गौरीशंकर, हीराचन्द्र, राजपूताना का इतिहास, अजमेर, 1937, जिल्द 1, पृ0 49 और आगे।

230. वैद्य, सी0 वी0 पूर्वो0 पृ0 5 ।

231. वही।

232. मनु0, 10.43.44 ।

233. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 पृ0 33 ।

234. वही।

235. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0, पृ0 358-60 ।

236. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये- चट्टोपाध्याय, बी0 डी0, 'ट्रेड एण्ड अर्बन सेन्टर्स इन अर्ली मेडीवल इण्डिया, द इण्डियन हिस्ट्रोरिकल रिव्यू, जिल्द-1, 1974 तथा ओरिजन ऑफ राजपूत- द पोलिटिकल, इकनॉमिक एण्ड सोशल प्राससेज इन अर्ली मेडीवल राजस्थान' इण्डियन हिस्ट्रोरिकल रिव्यू जिल्द-3, 1976. ।

237. वही।

238. वही।

239. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये- झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0, पृ0 358-60 ।

240. वही।

241. वही।

242. वही।

243. वही।

244. वही।

245. बी0 डी0 चट्टोपाध्याय, पूर्वो0 ।

246. वही।

247. वही।

248. वही।

249. वही।

250. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 पृ0 359 ।

251. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 पृ0 34 ।

252. श्रीवास्तव, के० सी०, पूर्वो० पृ० 522 ।

253. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये- पाठक, विशुद्धानन्द, पूर्वो० पृ० ।

254. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो० पृ० 359 ।

255. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का इतिहास, पटना, 1974, पृ० 107 ।

256. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो०, पृ० 359 ।

257. वही।

258. श्रीवास्तव, के० सी०, पूर्वो०, पृ० 522 ।

259. वही।

260. वही।

261. देखिये, काणे, पी० वी०, धर्मशास्त्र का इतिहास, जिल्द-1, लखनऊ 1989 पृ० 114 ।

262. वही।

263. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० 77 ।

264. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये-

यादव, बी० एन० एस० 'द एकाउन्ट्स ऑफ द अर्ली एण्ड द सोशल ट्रांजीशन फ्राम ऐण्टीक्विटी टू द मिडिल एजेज, द इण्डियन हिस्ट्रोरिकल रिव्यू, जिल्द 1979 ।

265. सचाऊ, एडवर्ड, अलबेरुनीज इण्डिया जिल्द-2, लंदन, 1910, पृ० 136 ।

266. यादव, बी० एन० एस०, पूर्वो०।

267. वही।

268. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी, 1968, पृ० 117 ।

269. वही।

270. वही।

271. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 ।

272. अर्थशास्त्र, 3.71 ।

273. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 पृ0 375 ।

274. वही।

275. वही।

276. वही, पृ0 374 ।

277. वही।

278. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 पृ0 375 ।

279. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये-

 कोटियाल, हरिशंकर, 'गुप्तोत्तरकालीन सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विरासत'' द्वारा उद्धत, झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 पृ0 372-423. ।

280. वही।

281. वही।

282. वही।

283. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0, पृ0 376-77 ।

284. वही।

285. सिंह, पारसनाथ, हर्षकालीन समाज, वाराणसी, 1979, पृ0 21.1 ।

286. श्रीवास्तव, के0 सी0, पूर्वो0 पृ0 366 व आगे।

287. वही।

288. वही।

289. वही।

290. वही।

291. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0, पृ0 375 ।

292. वही।

293. महाजन, वी0 डी0, प्राचीन भारत का इतिहास, 'सप्तम संस्करण, नई दिल्ली, 1988, पृ0 806 ।

294. वही।

295. वही, पृ0 807 और आगे।

296. श्रीवास्तव, के0 सी0, पूर्वो0 पृ0 566 व आगे।

297. वही।

298. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 117 व आगे ।

299. वही।

300. वही।

301. वही।

302. वही।

303. जयशंकर मिश्र, प्राचीनभारत का सामाजिक इतिहास, प्रथम संस्करण, 1974, पृ0 66 ।

304. वही।

305. वही।

306. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी- 1968, पृ0 117 ।

307. वही।

308. वही।

309. वही।

310. देवी भागवत, 5.98.99 ।

311. बौधायन धर्मसूत्र, 1.5.11 ।

312. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 120 व आगे।

313. वही।

314. कल्लूक मनु0 10.98 ।

315. शर्मा, रामशरण शूद्राज इन ऐंशियंट इण्डिया ।

316. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, पूर्वो0, पृ0 117 ।

317. वही।

318. द्विवेदी, लवकुश, स्लेवरी इन ऐशियंट इण्डिया, (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) ।

319. वही।

320. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0, पृ0 375 ।

321. अल्टेकर, एस0 ए0 प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, वाराणसी, 1968 ।

322. वही।

323. वही।

324. वही।

325. राजतरंगिणी।

326. वामनपुराण।

327. वही।

328. वही।

329. श्रीवास्तव, के0 सी0, ''भारत की संस्कृति तथा कला, इलाहाबाद, 1968, पृ0 225 ।

330. वही।

331. वही।

332. कोटियाल हरिशंकर, 'गुप्तोत्तरकालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक विरासत द्वारा उद्धत, झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 पृ0 372-423. ।

333. वही।

334. वही।

335. जैन पुस्तक, प्रशस्ति संग्रह, भूमिका, पृ0 197

336. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

337. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये-

द्विवेदी, लवकुश, प्राचीन भारत में दास प्रथा, अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध।

338. वही।

339. वही।

340. शर्मा, आर0 एस0, 'पूर्वमध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन' पृ0 16 ।

341. शर्मा, रामशरण, पूर्वो0 पृ0 16 ।

342. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0, पृ0 119 ।

343. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

344. वही।

345. सचाऊ, एडवर्ड, पूर्वो0, जिल्द-1, पृ0 101 ।

346. वही, जिल्द-2, पृ0 136 ।

347. बौधायन धर्मसूत्र, 105.10 ।

348. बौधायन धर्मसूत्र, 1.5.101 ।

349. गौतम धर्मसूत्र, 12.5 ।

350. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0, पृ0 117 ।

351. यादव, बी0 एन0 एस0, सोसाइटी एण्ड कल्चर ऑफ नार्दर्न इण्डिया इन द ट्रवेल्थ सेंचुरी ए0 डी0 पृ0 38 ।

352. वही।

353. श्रीवास्तव, के0 सी0, भारत की संस्कृति तथा कला, इलाहाबाद।

354. यादव, बी0 एन0 एस0 पूर्वो0।

355. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0, पृ0 197 ।

356. वही।

357. मिताक्षरा, याज्ञ0 1.335, कायस्थगण का लेखकाश्च।

358. एपिग्राफिया इंडिका, 15, दामोदरपुर, ताम्रपत्र।

359. झा, एवं श्रीमाली, पूर्वो0 पृ0 379 ।

360. काणे, पी0 वी0 धर्मशास्त्र का इतिहास जिल्द-2. ।

361. शास्त्री, आर0 एम0, 'ए कम्पेरिटव स्टडी हिन्दू द ओरिग्न एण्ड स्टेटस ऑफ द कायस्थाज' मैन इन इण्डिया, जिल्द-10, 1931, पृ0 15.3 ।

362. वही।

363. वही।

364. वही।

365. राजतरंगिणी, 4.351.52 ।

366. एपिग्राफिया इंडिका जिल्द-4, पृ0 103 ।

367. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0, पृ0 51 ।

368. दत्त, एन0 के0 ओरिजन एण्ड ग्रोथ ऑफ कास्ट इन इंडिया, कलकत्ता, 1965, जिल्द-2, पृ0 57. ।

370. उदय सुंदरी कथा, पृ0 10-11 ।

371. दत्त, एन0 के0, पूर्वो0 पृ0 59 ।

372. इंडियन ऐंटिक्वेरी, मार्च-अप्रैल, 1932, द्वारा उद्धत मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 199 ।

373. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 198 ।

374. धुर्ये, जी0 एस0 कास्ट एण्ड क्लास इन इंडिया, न्यूयार्क,1950, पृ0 109 ।

375. अपरार्क, 1.334 ।

376. विज्ञानेश्वर, 5.336 ।

377. यादव, बी0 एन0 एस0 पूर्वो0 पृ0 52 ।

378. एपिग्राफिया, इंडिका, जिल्द-1, पृ0 129-197 ।

379. वही, जिल्द-23, पृ0 6-8 ।

380. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0, पृ0 199-200 ।

381. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0, पृ0 52 ।

382. बौधायन, धर्मसूत्र, 2.10, 19-1-6 ।

383. मनुस्मृति, 1.91 ।

384. वही, 10.125 ।

385. मेघातिथि, 10.98 ।

386. वही।

387. वही।

388. शतपथ ब्राह्मण, 14.1, 1.31, 13.6, 2.10 ।

389. मिश्र, जयशंकर : ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0 119 ।

390. अर्थशास्त्र, शूद्रस्य द्विजाति सुश्रुषा शर्मा, आर0 एस0, शूद्राज इन एंशियंट इण्डिया द्वितीय संस्करण, वाराणसी 1980, पृ0 150-75 ।

391. द्वारा उद्धत- शर्मा, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 पृ0 53 ।

392. मनुस्मृति, 3.2444 ।

393. मंजूश्री मूलकल्प, 45, 883, द्वारा उद्धत, जयसवाल, के0 पी0 इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ0 72 ।

394. मनुस्मृति, 1.51 ।

395. विष्णु धर्मोत्तर पुराण, जिल्द-2, 81.2 ।

396. वर्मा, हरिश्चन्द्र : 'मेडिवल स्टेटस ऑफ इण्डिया, कलकत्ता, 1978,पृ0 70 ।

397. वही।

398. मिश्र, जयशंकर : ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0 119 ।

399. वही।

400. वही।

401. मेघातिथि, मनु0 3.67, 121, 156, 10.127 ।

402. कृत्यकल्पतरु, गृहस्थकाण्ड, पृ0 427 ।

403. मनुस्मृति, 2.238 ।

404. मेघातिथि, मनुस्मृति, 2.238 ।

405. मनुस्मृति, 10.127 ।

406. मिश्र, जयशंकर : पूर्वो0, पृ0 117 ।

407. वही।

408. मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 146 ।

409. उपाध्याय, वासुदेव, सोशियो- रेलिजन कंडीशन ऑफ नार्थ इंडिया (700-1200), वाराणसी, 1964, पृ0 92 ।

410. सचाऊ एडवर्ड, जिल्द-1, 101-2 ।

411. मजूमदार, अतीन्द्र, द चर्यापदाज, कलकत्ता, 1969, पृ0 10 ।

412. मेघातिथि, मनु पर टीका, जिल्द-6, प10 97 ।

413. शर्मा, बी0 एन0, सोशल लाइफ इन नार्दन इंडिया, दिल्ली 1966, पृ0 53 ।

414. लघु विष्णु स्मृति, 5.9 ।

415. अत्रि संहिता, 19 ।

416. स्कन्द पुराण, 317.50 ।

417. द्वारा उद्धत- शर्मा, बी0 एन0, पूर्वो0, पृ0 53 ।

418. पूर्वो0 ।

419. शुक्रनीतिसार, 2 पृ0 42 ।

420. मेघातिथि, 4.84 ।

421. द्वारा उद्धत- यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 पृ0 43 ।

422. वही।

423. वही।

424. ऋग्वेद, 10.90 ।

425. आगे चलकर वर्ण व्यवस्था ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रणयन के समय में इतनी अधिक सुदृढ़ हो गयी थी कि देवताओं में भी जाति विभाजन हो गया था। अग्नि एवं बृहस्पति देवताओं में ब्राह्मण थे, इन्द्र वरुण एवं यम क्षत्रिय थे, वसु रुद्र, विश्वे देव एवं मरुत विश थे तथा मूषा शूद्र था। इसी प्रकार ऋतुओं को वर्ण व्यवस्था के आधार पर बांटा जाने लगा। यथा- ब्राह्मण बसन्त, क्षत्रि गीष्म ऋतु एवं विश वर्षा ऋतु है। विस्तृत विवरण के लिये देखिये, द्रष्टव्य- काणे, पी0 वी0, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, लखनऊ 1980, पृ0 114. ।

426. गौतम धर्मसूत्र, 10.1-3, 7.50 ।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.5, 10.5-8 ।

मनुस्मृति, 1.88-90, 10.75-76 ।

427. आपस्तम्बधर्मसूत्र, 1.1, 1.7-8 ।

428. पणिनि, 2.4.10, तुलनीय याज्ञवल्क्य, 1.166 ।

429. काणे, पी0 वी0, पूर्वो0 पृ0 146-147. ।

430. ऋग्वेद 8.56.3, 8.5.38, 8.19.36 ।

तैत्तिरीय संहिता 7.5.101, 2.2.6.3 ।

431. काणे, पी0 वी0 पूर्वो0 ।

432. वही।

433. द्वारा उद्धत- शर्मा, आर0 एस0, प्राचीन भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ0 52 ।

434. वही।

435. महाभारत, 3.188.19 ।

436. द्योपाध्याय, एन0 सी0 कात्यायन मत संग्रह, कलकत्ता, 192, पृ0 42, श्लोक 424 ।

437. अर्थशास्त्र, 1.3 ।

438. विष्णुपुराण, 6.1, 361 ।

439. आपस्तम्बधर्मसूत्र 2.23.1 तथा 2.2, 3.4 ।

440. वही।

441. गोमिल स्मृति, 3.120 ।

442. स्मृति चन्द्रिका, 1., पृ0 213 ।

443. मनुस्मृति, 3.186 ।

444. वही, 3.152 ।

445. वही, 3.181 ।

446. वही, 3.153 ।

447. वही, 3.153 तथा 3.156 ।

448. वही।

449. वही, 3.154 ।

450. वही।

451. वही, 3.158 ।

452. वही।

453. वही।

454. वही, 3.159 ।

455. वही।

456. वही, 3.160 ।

457. वही, 1.162 ।

458. वही।

459. वही, तथा 8.348 ।

460. वही, 3.163 तथा 7.75 ।

461. वही।

462. वही।

463. वही, 3.165, 9.149-150, 10.82, 10.90 ।

464. वही, 3.166 ।

465. वही, 3.180 ।

466. वही।

467. विस्तृत विवरण

काणे पी0 वी0 पूर्वो0 पृ0 112 इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों को क्षत्रियोचित एवं वैश्योचित कर्मो को करने की सलाह गौतम मनु0, याज्ञवल्क्य, अग्नि, वशिष्ठ तथा नारद आदि ने भी दी है देखिये- काणे0 वी0 पी0, पूर्वो0 , पृ0 147

468. मनु0, 8.338 ।

469. वही, 8.268 ।

470. वही, 8.379-38 लेकिन स्वयं मनु ने लिखा है कि बहुश्रुत आततायी ब्राह्मण को मारना कोई पाप नहीं है। मनु0 8.350 ।

471. वही, 11.72 ।

472. वही, 10.116 ।

473. वही, 9.149-150 ।

474. मनु0, 9.150 पर कुल्लूक की टीका ।

475. वही, 10.82 ।

476. वही, 10.93 ।

477. वही, 10.90 ।

478. वही, 8.348 ।

479. वही, 7.75 ।

480. अर्थशास्त्र, 3.313 ।

481. हरहा अभिलेख इसका प्रमाण प्रस्तुत करता है। देखिये हरहा अभिलेख- उपाध्याय, वासुदेव प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन दिल्ली, 1961 ।

482. याज्ञवल्क्य, 3.44 ।

483. विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य, उपाध्याय, वासुदेव द सोशियो- रिलिजस कण्डीशन ऑफ नार्थ इण्डिया 700-1200 ए0 डी0 वाराणसी, 1964, पृ0 44 ।

484. सचाऊ, ई0सी0, अलबेरुनीज इण्डिया, जिल्द-2, लंदन, 1910, पृ0 163 ।

485. पराशर स्मृति, 1.24 ।

486. वृहन्नारदीय पुराण, 22.17 ।

487. वही, 22.11 ।

488. वही, 22-12-16 ।

489. वन्धोपाध्याय, एन0 सी0, पूर्वो0 ।

490. उपाध्याय, वासुदेव, पूर्वो0 पृ0 65 ।

491. वही।

492. वही।

493. विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य- द्विवेदी, लवकुश, 'पूर्वमध्यकालीन बुन्देलखण्ड में युद्ध दासता (इसका विस्तृत विवरण उनके शोध प्रबन्ध)। ।

494. वही।

495. अर्थशास्त्र, 1.31 ।

496. मनु0, 3.56 ।

497. वही।

498. वही, 3.178 ।

499. वही, 3.197 ।

500. पणिनि, 3.2.22 ।

501. अर्थशास्त्र, 5.2, 21-24 ।

502. वही, 2.35 ।

503. स्कन्दपुराण, 3.2, 39, 291 ।

504. दशावतारचरित, 1.29 ।

505. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0, पृ0 67 ।

506. वही, पृ0 68 ।

507. वही।

-: 0 :-

तृतीय अध्याय

शूद्रों एवं दासों का सामाजिक परिवर्तन में योगदान

अध्याय-3

शूद्रों एवं दासों का सामाजिक परिवर्तन में योगदान

प्राचीन भारतीय इतिहास में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को अधिकांशतः इतिहासकारों ने दो ज्यामितीय पैमानों पर रखकर परखने की कोशिश की है, जिनके अनुसार प्रारम्भिक काल से लेकर गुप्तों के काल तक थोड़े बहुत अन्तर के साथ लगभग एक जैसा सामाजिक परिवेश विद्यमान था और गुप्तों के अवसान के बाद भारत में मुस्लिम शासन की बुनियाद के पूर्व तक प्रायः एक जैसी सामाजिक व्यवस्था विद्यमान थी जो एक निश्चित पैमाने के तहत अपने पूववर्ती युग की अपेक्षा प्रत्येक क्षेत्र में बदलाव लिये हुये थी। ऐसे इतिहासकारों की नजर में इन परिवर्तनों के पीछे नगरों का पतन, विकास की अवरुद्ध आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक स्तरानुक्रम, वैश्य और शूद्र के बीच का अन्तर लगभग समाप्त होता गया। वैश्यों को शूद्रों के कार्य करते हुये दिखाया गया है। इसी क्रम में पूर्वमध्यकालीन भारतीय दासता में पूर्ववर्तीयुग की अपेक्षा ह्रास की स्थिति भी समझाने की कोशिश की जाती है। इतिहास लेखन की उपर्युक्त मार्क्सवादी चिन्तनधारा का प्रत्येक पहलू अपने एक पूर्वनिश्चित ढांचे में तथ्यों को प्रस्तुत करते हुये पूर्वकलित निष्कर्षों को प्रचारित करने का प्रयास करता है।

सामाजिक इतिहास की उपर्युक्त अवधारणा को तथ्यों की कसौटी पर रखकर जांचने परखने से यह तस्वीर उपरोक्त से कुछ इतर दिखाई पड़ती है। जहां एक

ओर चातुर्वर्ण व्यवस्था में एक स्पष्ट बदलाव उनकी सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि में दिखायी पड़ता है; वहीं दूसरी ओर पूर्वकाल से चली आ रही व्यवस्था के निरन्तर सुदृढ़ होने के लक्षण भी पूर्वमध्ययुगीन समाज में देखने को मिलते हैं। पूर्वमध्यकालीन सामाजिक इतिहास के निम्न तबके के रूप में विद्यमान शूद्रों एवं दासों के विशिष्ट संदर्भों को भी इस अध्याय का प्रतिपाद्य बनाया गया है। ऐसा अध्ययन करने के लिये वर्ण व्यवस्था के तृतीय स्थान पर स्थिति वैश्यों की स्थिति का चित्रण आवश्यकतानुसार किया जायेगा क्योंकि वैश्यों एवं शूद्रों के सामाजिक स्तर को लेकर अति व्याप्ति की स्थिति का विद्यमान होना ही अनेक संदेहों एवं पूर्व निश्चित निष्कर्षों को स्थापित करने में सहायक होता है। इसी तरह शूद्रों एवं दासों के बीच में भी कोई विभाजक रेखा तय करनी होगी क्योंकि अधीतकालीन समाज में शूद्रों एवं दासों के कार्यक्षेत्रों में भी कई स्तरों पर समानता दिखाई पड़ती है। उपरोक्त ऐतिहासिक, सामाजिक अध्ययन की विसंगतियों का निराकरण करने के लिये यह आवश्यक है कि पूर्वमध्यकालीन समाज में वैश्य, शूद्र एवं दास की स्थिति का सही तथ्यपरक चित्रण प्रस्तुत किया जाय ताकि सामाजिक परिवर्तन की पूर्वमध्यकालीन प्रक्रिया को उसके वास्तविक रूप में जाना-समझा जा सके।

विदेशी आक्रमण की प्रत्येक लहर के साथ कार्य विभाजन और उप-विभाजन होते रहे। विभिन्न कालों में जो विदेशी भारत आते रहे, वे अपने साथ नये मूल्य लाते रहे। स्थानीय जनता पर उनके प्रभाव के फलस्वरूप असंदिग्ध रूप से सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन आये।[1] कतिपय इतिहासकारों की नजर में इस युग में वैश्यों और शूद्रों में कोई विशेष अन्तर नहीं था। अल्टेकर,[2] धुर्मे[3] और रामशरण शर्मा[4] का यह मत है कि पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज में वैश्य निश्चित रूप से शूद्रों की स्थिति तक आ गये। इसी संदर्भ में अलबेरुनी का मत है कि वैश्य और शूद्र में कोई अन्तर नहीं था। यद्यपि वे वर्ण एक दूसरे के विपरीत थे, तथापि एक ही घर और मुहल्लों में साथ रहते हुये उसी गांव और नगर में रहते थे।[5] रामशरण शर्मा ने भी वैश्यों की अवस्था में पतन स्वीकार किया है।[6] जिसका प्रधान कारण उन्होंने उत्तर गुप्तकालीन व्यापारिक ह्रास माना है। वस्तुतः शूद्र कृषि का कार्य करने लगे थे, जो प्राचीन काल में वैश्यों का प्रधान कार्य था।

पूर्वमध्ययुगीन समाज में यह महत्वपूर्ण परिवर्तन था, जिसके कारण वैश्य और शूद्र में अन्तर कर पाना कठिन हो गया था। मेघातिथि व विश्वरूप दोनों ने यह स्वीकार किया है कि शूद्र न केवल सेवक बनाये जा सकते हैं और न ब्राम्हण पर निर्भर किये जा सकते हैं। वे व्याकरण तथा अन्य विधाओं के शिक्षक हो सकते हैं।[7] जबकि शास्त्रीय व्यवस्था शूद्र वर्ण के प्रति अनुदार ही रही। पाराशर तथा लघु व्यास आदि स्मृतियों में शूद्र के हाथ का भोजन तथा उनसे सम्पर्क वर्जित है। इस संदर्भ में दो परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले तथ्यों को ध्यान में रखना उचित होगा। अनेक शास्त्रीय नियमों का व्यवहार में सदैव पालन नहीं होता था और वे आदर्श व्यवस्था के रूप में थे। शूद्रों की दयनीय तथा निर्बल स्थिति एक सामाजिक वास्तविकता थी, क्योंकि आर्थिक और विशेष रूप से भूमि व्यवस्था उच्च वर्णो के हित में थी। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि शूद्र वर्ण के सम्बन्ध में अनेक परस्पर विरोधी विचार तथा विधान प्राप्त होते हैं। मेघातिथि[8] ने शूद्रों के सेवा कार्य तथा इनमें से कुछ वर्णों के दासत्व को स्वीकार करते हुये भी शूद्रों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान की है। ऐसे भी अनेक उदाहरण मिलते हैं कि कुर्मी जाति के अनेक गृहस्थ किसान पर्याप्त रूप से सम्पन्न थे।

पूर्वमध्यकाल तक आते आते वैश्यों के कार्यों में अपेक्षाकृत कमी आयी थी। अलबेरुनी के अनुसार वैश्यों का धर्म है- खेती करे, भूमि को जोते, पशु पाले और ब्राम्हणों की आवश्यकता को पूरा करे।[9] उसके इस कथन से वैश्य वर्ग के अन्य कार्य, जैसे व्यापार करने, वेद पढ़ने और ब्याज लेने का पता नहीं चलता। दान देना और यज्ञ करना जैसा कार्य ब्राम्हणों की आवश्यकता पूरी करने के अन्तर्गत आ जाता है। अलबेरुनी के पूर्व नवीं शताब्दी के अन्त में होने वाला अरबी लेखक इब्नखुर्दद्बा वैश्यों के केवल कारीगर होने और घर-गृहस्थी के काम करने का निर्देश देता है।[10]

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि इस काल तक वैश्यों की स्थिति दयनीय हो चुकी थी। प्राचीनकाल से पूर्वमध्यकाल के ठीक पहले तक जो वैश्य वर्ग प्रतिष्ठित एवं आर्थिक क्षेत्र का महत्वपूर्ण वर्ग था और आर्थिक समृद्धि तथा राष्ट्रीय धन की वृद्धि के लिये तत्पर था, वहीं वैश्य वर्ग पूर्वमध्यकाल तक आते-आते शूद्रों के समकक्ष

दिखायी देने लगा। पूर्वमध्यकालीन ग्रन्थ भी इस बात की पुष्टि करते हैं, उदाहरणार्थ- विष्णु पुराण में उल्लिखित है कि कलियुग में वैश्य कृषि तथा व्यापार छोड देगें तथा अपनी जीविका दासकर्म एवं कलाओं द्वारा कमायेगें।[11] स्कन्दपुराण में उल्लिखित है कि कलियुग में व्यापारियों का पतन हो जायेगा, इनमें कुछ तेली तथा अनाज फटकने वाले होगें तथा अन्य राजपुत्रों पर आश्रित होकर रहेगें।[12] विष्णुपुराण[13] तथा वायुपुराण[14] तो यहां तक बताते हैं कि कलियुग में वैश्य वर्ग पूर्णतः विलीन हो जायेगा।

प्राचीनकाल से ग्यारहवीं शताब्दी तक वैश्यों की स्थिति में गतिशीलता दिखायी देती है। धर्मशास्त्रकारों ने कृषि, पशुपालन और व्यापार वैश्यों के प्रमुख कर्तव्य बताये थे।[15] किन्तु पूर्वमध्यकाल में वैश्यों ने कृषि कर्म छोड़ दिया, उनका मुख्य कार्य व्यवसाय ही रह गया। इसका कारण सम्भवतः यह रहा होगा कि वैश्यों पर जैन और बौद्ध धर्म की शिक्षाओं का अन्य वर्णो की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ा। उनके अहिंसा सिद्धान्त ने वैश्यों को उन कार्यो से धीरे-धीरे विरत कर दिया, जहां हिंसा की अधिक सम्भावनायें थीं, अतः वैश्य वर्ग ने अपने को व्यापारिक क्षेत्र तक सीमित कर लिया। माघ के शिशुनाग वध में व्यापारियो को राजा की सेना के साथ यात्रा करते। फौजी खेमों में सामान बेचते हुये दिखाया गया है।[16] पाराशर स्मृति मे 'कुसीद वृत्ति' (सूद पर रुपये उधार देना) वैश्य वर्ग का प्रमुख व्यवसाय बताया गया है।[17]

विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूर्वमध्यकाल में विस्तृत व्यापार होने के बाद भी व्यापार के क्षेत्र में गिरावट आने लगी थी, अतः वैश्य वर्ग की स्थिति दयनीय हो गयी। पूर्वमध्यकालीन भारत में सामाजिक गतिशीलता के संदर्भ में मार्क्सवादी इतिहासकारों ने अवरुद्ध अर्थव्यवस्था को दिखाकर यह प्रदर्शित किया कि आर्थिक क्षेत्र में अवरुद्धता का मूलभूत कारण सामन्तवादी प्रवृत्तियों का उदित होना है। ताम्रपत्रीय अभिलेखों से ज्ञात होता है कि पूर्वमध्यकालीन भारत में हुये सामाजिक परिवर्तनों के पीछे कतिपय आर्थिक घटनाओं का हाथ रहा है। इस काल की अर्थव्यवस्था का सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन भू-राजस्व और भूमि का बड़े पैमाने पर हस्तान्तरण है जो राजाओं और उनके अधीनस्थों द्वारा धर्मनिरपेक्ष और

धार्मिक दोनों को ही किया गया था। सामंतोपसामंतीकरण के परिणामस्वरूप इन आर्थिक इकाइयों का आकार और भी छोटा हो गया और इससे एक ऐसी सामाजिक स्तरावली को पनपने का अवसर मिला जिसका आधार कहीं भूमि और कहीं भू-राजस्व का असमान वितरण था। जो ग्राम समूह अथवा ग्राम इस विकेन्द्रीकरण में शामिल नहीं थे, उनके हिताधिकार का भी पृथक अस्तित्व इस काल में हुये व्यापारिक पतन के कारण सुदृढ हो उठा। सम्भवत: अभी भी दक्षिण-पूर्व एशिया और चीन के साथ भारत के तटवर्ती क्षेत्रों का थोड़ा व्यापार चल ही रहा था, यद्यपि इसका कोई असर देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था पर नहीं पडा। लेकिन व्यापार के समग्र ह्रास के कारण तटवर्ती नगरों और भीतरी नगरों के बीच, तथा नगरों और ग्रामों के बीच की आर्थिक कड़ी कमजोर पड़ गयी। इस काल में वाणिज्य का ह्रास हुआ इसका स्पष्ट संकेत सिक्कों की अल्पता से चलता है। सन् 650 ई0 से 1000 ई0 तक स्वर्ण मुद्राओं का प्राय: अभाव ही दिखायी पड़ता है।[18] यह स्पष्ट है कि सिक्कों की कमी से आन्तरिक और बाह्य दोनों ही व्यापारों को बाधा पहुंची और गांव या तो अकेले ही या मिलजुलकर अपनी जरूरतें स्वयं पूरी करने को बाध्य हो गये। अनेक राज्यों के होने से अनेक जांच-चौकियों पर सीमाशुल्क चुकाना पड़ता था, जिससे व्यापार को और भी क्षति पहुंची।

पूर्वमध्ययुग में ब्राम्हण व क्षत्रिय की भांति वैश्य के भी आपत्तिकालिक कर्म निर्धारित किये गये थे। धर्मशास्त्रकारों द्वारा यह व्यवस्था कर दी गयी थी कि ब्राम्हण और क्षत्रिय की रक्षा के लिये वैश्य शस्त्र ग्रहण कर सकता था।[19] मनु के अनुसार वैश्य निषिद्ध कर्मो का त्याग करते हुये अर्थात् द्विजों की सेवा करने में जूठन आदि न खाते हुये शूद्र-वृत्ति अपना सकता था।[20] जबकि वैश्य के आपद् धर्म पर मेघातिथि का भाष्य है कि वह शूद्रों की तरह पैर-प्रक्षालन करता था, जूठा खाता था और अन्य निम्न कार्य सम्पन्न करता था, किन्तु जब उसका संकटकाल बीत जाता था तो वह इन कार्यों को त्याग देता था।[21] कुल्लक ने भी यह मत स्वीकारा और मनु के उपर्युक्त कथन पर अपनी टिप्पणी की, कि वैश्य द्विजाति की सुश्रुषा और उच्छिष्ट भोजन ग्रहण करने जैसे निम्न कार्य केवल तभी कर सकता है, जब तक वह संकटग्रस्त

रहता था। अपनी स्थिति सुदृढ़ होते ही वह इन कर्मों का परित्याग करके प्रायश्चित करता था।[22] गौतम के अनुसार वैश्य आपत्काल में अपने से नीचे वर्ण का धर्म ग्रहण करता था।[23]

इस प्रकार वैश्यों के आपत्तिकालिक कर्मों की विवेचना को देखते हुये हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वैश्य वर्ग आपत्तिकाल में क्षत्रिय तथा शूद्र के कर्म अपना सकता था। जैसा कि गौतम ने लिखा है कि वह अपने से नीचे वर्ण का कर्म अपना सकता था अर्थात् वैश्य से निम्न वर्ण शूद्र हुआ। अतः वैश्यों को शूद्र वर्णीय कर्म अपनाने का पूरा अधिकार दिया गया है।

सम्भवतः आपत्तिकालिक कर्मों को अपनाते हुये वैश्य ग्यारहवीं शताब्दी तक धर्मविधि और कानून दोनों से शूद्र माने जाने लगे। इस कथन का प्रमाण हमें अलबेरुनी के कथन से मिल जाता है कि यह सिद्ध हो जाये कि वैश्य या शूद्र ने वेद उच्चारित किया है, तब राजा के सम्मुख ब्राम्हण उस पर आरोप लगाता था और राजा उसकी जीभ काट डालने का आदेश देता था।[24] इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि वैश्य व शूद्र इन दोनों को एक ही स्तर पर रखा जाने लगा था। यह तो सत्य है कि शूद्र को वेदाध्ययन करने का अधिकार प्राचीनकाल से ही प्रदान नहीं किया गया था, किन्तु वैश्यों को वेदाध्ययन का अधिकार प्राचीनकाल में दिया गया था, यह बात अलग है कि कृषि या व्यापार में संलग्न हो जाने के कारण कालान्तर में वैश्यों से वेदों का अध्ययन करना छूट गया तथा बौधायन जैसे विचारकों ने यह स्वीकार किया कि भूमि और वेदाध्ययन परस्पर विरोधी हैं, प्रायः मनुष्य इन दोनों का एक साथ पालन नहीं कर सकता था।[25] किन्तु पाठ करने के अपराध में वैश्यों की भी जीभ काट डालने का आदेश निश्चित रूप से वैश्यों की अवनति का परिचायक है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वर्ण व्यवस्था के तीसरे स्तम्भ वैश्यों की स्थिति में जो गिरावट आयी उसके लिये मुख्य रूप से उस समय की सामाजिक परिस्थितियां जिम्मेदार थीं। बौद्ध और जैन धर्म के प्रभाव के कारण भी वैश्यों ने धर्मशास्त्र में निर्धारित मुख्य कार्य जैसे कृषि और पशुपालन

करना अपनी इच्छा से छोड़ दिया और स्वयं को व्यापार तक सीमित कर लिया परन्तु पूर्वमध्ययुग के प्रथम चरण में व्यापार और वाणिज्य का इतना अधिक ह्रास हुआ कि व्यापार भी उनके हाथ से निकल गया और स्कन्दपुराण में की गयी भविष्यवाणी सत्य हो गयी कि कलियुग में व्यापारियों का पतन होगा।

प्राचीनकाल से ही शूद्रों का इतिहास अत्यन्त विवादास्पद रहा है। अपनी उत्पत्ति के समय से ही शूद्र वर्ण समाज के अन्य तीन वर्णों की सेवा सुश्रुषा के लिये बना दिया गया और इसके पीछे यह धार्मिकता पिरोई गयी कि ईश्वरीय प्रेरणा से इस वर्ण को सेवा कार्य प्राप्त हुआहै। अपनी दैवीय उत्पत्ति की स्थिति को स्वीकार करते हुये इस शूद्र वर्ण ने अपने स्तर से समाज में रहना प्रारम्भ कर दिया। निश्चित रूप से ऐसी व्यवस्था में उसे व्यवसाय आदि के चयन की सुविधा नहीं थी। धीरे-धीरे परिस्थितियों ने करवट बदली व यह शूद्र वर्ण विभिन्न व्यवसायों में आबद्ध होने लगा। कौटिल्य के काल तक आते-आते इसे अनेक ऐसे महत्वपूर्ण अधिकारों से सुसज्जित कर दिया कि यह वर्ण कुछ मामलों में वैश्यों के समकक्ष खड़ा दिखाई देने लगा।[26] यद्यपि धार्मिक दृष्टि से शूद्रों की अयोग्यता को प्रश्नवाची कठघरे में खड़ा करने का श्रेय कौटिल्य के पहले गौतम बुद्ध को दिया जाता है जिन्होंने शूद्रों को कतिपय धार्मिक छूट प्रदान की[27] लेकिन अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में इनका पदार्पण पहली बार मौर्यकाल में ही हुआ। कौटिल्य ने शूद्रों को 'वार्तासेवी' की संज्ञा से सम्बोधित करते हुये उन्हें कृषि जैसे महत्वपूर्ण कार्यों से सम्बद्ध कर दिया। निस्संदेह यह एक ऐसा सामाजिक परिवर्तन था जो पूर्वकालीन भारतीय समाज के भविष्य की रूपरेखा तय कर रहा था। जिन शूद्रों को कौटिल्य ने इतना आगे बढ़ाया उसे नारद जैसे स्मृतिकारों ने भी थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ स्वीकार किया[28] और पूर्वमध्यकाल तक आते-आते यह शूद्र वर्ण कृषकों के रूप में भी खड़ा दिखायी पड़ने लगा।

पूर्वमध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था वैश्यों के आपेक्षिक अध:पतन का संदर्भ प्रस्तुत करती है, जिसका दूरगामी परिणाम शूद्रों पर पड़ना स्वाभाविक ही था। क्योंकि यदि वैश्य वर्ण अपनी तीसरी सीढ़ी से थोड़ा सा भी विचलित हुआ होगा तो चौथी सीढ़ी

पर बैठा हुआ शूद्र वर्ग ही उसका उपभोग करेगा। दूसरी तरफ अधीतकाल तक आते-आते शूद्रों के शोषण की प्रवृत्ति में भी बढ़ोत्तरी हुई। जैसा कि आर0 एस0 शर्मा व बी0 एन0 एस0 यादव सदृश इतिहासकारों की मान्यता है कि पूर्वमध्यकाल में सामन्तवादी प्रवृत्तियों के जोर पकड़ने के कारण कृषकों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी क्योंकि इनसे कर वसूली के साथ-साथ बेगार भी लिया जाने लगा।[29] ऐसे कृषकों में शूद्र कृषकों की संख्या अत्यधिक थी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस युग में आकर शूद्रों को बेगार श्रम का भागीदार बनाया गया।[30] इन इतिहासकारों की यह मान्यता मार्क्सवादी इतिहास- लेखन से प्रभावित लगती है जिसकी मूल अवधारणा ही यही है कि ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया में पहले चरण में आदिम युग फिर दासतामूलक समाज और तत्पश्चात अर्द्धदासतामूलक समाज की अवस्था आती है।[31] इनकी नजर में मौर्यकालीन समाज शूद्र दासों के श्रम पर आधारित था।[32] और ऐसे समाज के ध्वंशावशेषों पर अर्द्धदासता का प्रादुर्भाव होता है और वह समाज सामन्ती समाज की संज्ञा से अभिहित किया जाने लगता है।[33] प्रस्तुत संदर्भ में यह विचारणीय है कि अब यह मान्यता स्थापित होने लगी है कि यदि मौर्यकालीन समाज दासतामूलक समाज नहीं था तो फिर उसके अवशेषों पर खड़ा समाज अर्द्धदासों से मुक्त समाज कैसे स्थापित होगा।[34] दूसरे यह कि मौर्यकालीन शूद्र सभी दास नहीं थे।[35] इसलिये यह मान्यता उचित नहीं लगती कि पूर्वमंध्यकाल में आकर ये शूद्र कृषक बेगार व शोषण के भागीदार बन गये[36] इसलिये शूद्रों की दशा का अध्ययन करते समय पूर्व प्रकल्पित ढांचे को आरोपित करके चलना एक ऐतिहासिक भूल होगी।[37]

पूर्वमध्यकालीन शूद्रों को सामाजिक परिवर्तन की उपर्युक्त श्रृंखला में जोड़ने से ऐसा लगता है कि इस युग तक आते-आते शूद्रों पर यदि कुछ अयोग्यतायें थोपी जाने लगीं तो उन्हें कई ऐसे अधिकार भी प्रदान किये गये जो उनकी अपेक्षाकृत बेहतर स्थिति का ज्ञान कराते हैं। अधीतकाल तक आते-आते जैसे-जैसे समाज के अन्य वर्णों में आन्तरिक विभाजन की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी; उसी प्रकार शूद्र वर्ण भी टुकड़ों में बंट गया, जिसका प्रमुख आधार व्यवसाय था। उन्हीं व्यवसायों के आधार पर शूद्रों की अनेक उपजातियां बनी और उनको इसी आधार पर पहचाना जाने लगा।[38] इस काल में प्रमुख व्यवसायी शूद्रों की कुछ सूची अभिधान[38] चिन्तामणि[39]

देशीनाममाला[40] तथा वैजयन्ती[41] में प्राप्त होती है जिनमें कारीगर, लोहार, शिल्पी, कुम्हार, तन्तुकाय, बढ़ई, चर्मकार, तेली, सुनार या स्वर्णकार, जौहरी, चित्रकार, माल ढोने वाला, पानी ढोने वाला, दर्जी, धोबी, शस्त्र बनाने वाला, शराब बेचने वाला, मांस विक्रेता, माली, मछुआरा, जादूगर, चाण्डाल, नर्तक, अभिनेता, बांसुरी वादक, तुरहीवादक, ढोल पर नाचने वाला आदि की चर्चा की जा सकती है। अमरकोश में अम्बष्ठ एवं रथकार जैसी मिश्रित जातियां एवं भील तथा किरात जैसी कबिलाई जातियां भी शूद्र वर्ण के अन्तर्गत रखी गयी।[42] चोर तथा जुआंरी भी इनमें जोड़े गये हैं।[43] संगीतज्ञों की चर्चा कतिपय पूर्वमध्यकालीन अभिलेखों में शूद्र वर्ण के अन्तर्गत की गयी है।[44] बी0 एन0 एस0 यादव ने व्यवसायों के आधार पर अतिसूक्ष्म सर्वेक्षण करते हुये शूद्रों की उपजातियों के भीतर भी उपजातियों की बात की है और इस संदर्भ में उन्होंने चर्मकारों की दो कोटियों को विशेष रूप से उद्धत किया है- एक वह चर्मकार जो जूता बनाता था दूसरा जो चमड़े के कार्य से जुड़ा था।[45]

पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज शूद्रों को वेदाध्ययन की सुविधा से वंचित करते हुये उसे चार आश्रमों में से केवल एक आश्रम गृहस्थ आश्रम, की छूट देता है।[46] यदि वे कुछ संस्कार सम्पन्न भी करते थे तो बिना वैदिक मंत्रों के ही।[47] लघुविष्णु स्मृति में लिखा है कि शूद्र केवल पंचमहायज्ञ सम्पादित कर सकता था और वह भी बिना वैदिक मंत्रोच्चार के[48] इसी तरह अत्रिसंहिता[49] व स्कन्दपुराण[50] का विवरण है कि शूद्र न तो जप कर सकता है और न ही होम कर सकता था। यदि वह इन नियमों का उल्लंघन करता था तो उसे दण्ड देने का विधान कतिपय धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में किया गया है।[51]

बी0 एन0 शर्मा[53] जैसे इतिहासकारों की दृष्टि में यदि पूर्वमध्यकालीन शूद्रों की तुलना पूर्वकाल से की जाये तो इनकी स्थिति पूर्वमध्यकाल में खराब नहीं दिखायी देती। यद्यपि शुक्र ने शूद्र की दशा पर दृष्टि डालते हुये लिखा है कि शूद्रों की नियुक्ति राजा की सेना के मुख्य सेनापति के रूप में नहीं की जाती थी।[53] पर हमें अधीतकाल के इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण देखने को मिलते हैं, जिससे पता चलता है कि शूद्र महत्वपूर्ण राजनीतिक पदों पर भी कार्यरत् थे। गुजरात के कुमारपाल

ने सुजान नामक शूद्र को चित्तौड़ का राज्यपाल नियुक्त किया था।[54] सातवीं शताब्दी में भारत भ्रमण के लिये आये विदेशी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है कि सिन्ध और मतिपुर के शासक शूद्र थे।[55] सम्भवतः त्रिपुरी का शासक लोकनाथ भी शूद्र था।[56] मंजूश्री मूलकल्प से ज्ञात होता है कि पाल राजवंश के शासक शूद्र वर्ण से ही सम्बन्धित थे।[57] इस युग में अनेक ऐसे शासकों के उदाहरण भी स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं जो कबीलाई जाति के थे।[58] मेघातिथि ने भी प्रत्येक जाति के लोगों को राजपद ग्रहण करने की आज्ञा दी थी। यदि वह राजा से सम्बन्धित कर्तव्यों का निर्वाहन करने में पूर्ण रूप से समर्थ हों।[59] परन्तु इन उदाहरणों से यह मान लेना उचित नहीं होगा कि सम्पूर्ण शूद्र वर्ण इतनी उच्च अवस्था में पहुंच गया था क्योंकि इस युग में भी प्राचीन आदर्शों को मान्यता प्रदान करते हुये अनेक धर्मशास्त्रकारों ने शूद्रों को राजकीय पदों पर कार्य करने के योग्य नहीं माना था।[60]

पूर्वमध्ययुग में शूद्रों की आर्थिक स्थिति में अत्यन्त सुधार दिखायी पड़ता है। इस काल में यदि एक ओर शूद्रों का वह वर्ग था जो अभी भी प्राचीनकाल की भांति तीनों वर्णों की सेवा करना अपना धर्म मानते हुये उनके दिये खाने व फटे पुराने वस्त्रों के द्वारा अपना जीवन व्यतीत कर रहा था।[61] तो दूसरी तरफ शूद्रों का एक ऐसा वर्ग भी दिखाई पड़ता है जो न केवल सम्पन्न था बल्कि राजकर भी देता आ रहा था।[62] इस काल की स्मृतियों तथा निबन्धों ने भी सेवानिवृत्ति के अतिरक्ति शूद्र के लिये अन्य व्यवसाय अपनाने की छूट प्रदान की। अत्रि[63], देवल[64], पराशर[65] ने शूद्र के लिये कृषि, पशुपालन, वाणिज्य उपर्युक्त व्यवसाय बताये हैं। उशना[66] ने व्यापार और शिल्प को शूद्र के जीवन यापन का साधन बताया है। बृहस्पति[67] ने भी कहा है कि यदि शूद्र शिल्प कार्य अपनाना चाहे तो अपना सकता है। पराशर ने शूद्र को नमक, शहद, घी और दूध को बेचने की आज्ञा प्रदान की है।[68] मेघातिथि के ये उल्लेख पूर्वमध्यकाल में शूद्रों की स्थिति में सुधार को ही दर्शाते हैं।[69]

शूद्रों की स्थिति में सुधार के निमित्त अधीतकाल में एक परिवर्तन यह भी दृष्टिगोचर होता है कि कृषि कार्य आमतौर पर शूद्रों का व्यवसाय बन गया। श्वान-च्वांग[70] व इब्नखुर्दद्बा[71] ने कृषि को वैश्यों का कार्य नहीं बताते हुये शूद्रों का कार्य बताया

है जिससे जहाँ एक ओर वैश्यों की दयनीय दशा का पता चलता है और दूसरी ओर शूद्रों की दशा में सुधार। पराशर[72] और वैजयन्ती[73] ने कुटुम्बी नामक एक कृषक वर्ग का उल्लेख करते हुये उसे शूद्र वर्ण के अन्तर्गत रखा है। 8वीं शताब्दी के नारदमुनि के टीकाकार असहाय ने कीनाशों को शूद्र बताया है।[74] जबकि प्राचीन ग्रन्थों में कीनाश का उल्लेख वैश्य के रूप में हुआ है। इस युग के कृषक भी दो भागों में बंटे हुये दिखायी पड़ते हैं- एक ओर स्वतंत्र किसान थे जो न केवल स्वयं भूमि के स्वामी थे बल्कि राज्य को अनेक प्रकार के कर देते थे। अनेक शिल्पी भी कृषि कार्य अपनाये थे और बड़े भूस्वामी भले ही न हो पर वे पूर्ण रूप से स्वतंत्र थे। परन्तु आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न कृषकों के साथ एक ऐसा वर्ग भी था जो बटाई पर खेती करता था। इन्हें उपज का 1/3 या 1/4 भाग मिलता था। किसान मजदूरों को उपज का 1/10 तथा 1/9 भाग तक मिलता था।[75] अधिकतर शूद्र कृषक इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं जिनकी स्थिति में सामन्तवाद के प्रभाव के कारण परिवर्तन आया होगा। क्योंकि भूमि तथा ग्राम दानों में कभी-कभी कृषकों एवं शिल्पियों का भी हस्तान्तरण होता था जिससे कृषक व शिल्प, जो शूद्र वर्ण के थे, पीढ़ी दर पीढ़ी दानगृहीताओं के अधीन रहकर सेवाकार्य करने के लिये विवश किये गये, जिससे कृषक व समाज के अन्य छोटे वर्ण शूद्रों की उर्ध्व गतिशीलता पर एक प्रकार का प्रतिबन्ध सा लग गया। यद्यपि इसके पीछे उन्होंने कतिपय धार्मिक प्रावधानों का सहारा लिया[76] पर वास्तविकता यही थी कि कुलीन शासक वर्ग ने सामाजिक क्षेत्र में अपना शिकंजा मजबूत करने के लिये शूद्रों की ऊर्ध्व गतिशीलता पर प्रतिबन्ध लगाया जिससे शूद्र अपने स्वामियों की इच्छानुसार ही कोई सामाजिक या आर्थिक भूमिका अदा कर सके और कुलीन वर्ग उनकी योग्यताओं का फायदा उठाकर अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने लगे।[77] मेघातिथि ने भी उच्च वर्णों पर शूद्रों की निर्भरता को स्वीकार किया है, जिसका परिणाम शूदों की दयनीय दशा व भूमि सम्पन्न बिचौलियों के उदय के रूप में दिखायी पड़ता है।[78] कृषकों के दमन का स्पष्ट चित्रण वृहन्नारदीय पुराण के एक श्लोक में मिलता है जिसमें कृषि करने के लिये हल से जुड़े लोगों का उल्लेख किया गया है।[79] लेखपद्धति[80] से भी ज्ञात होता है कि इस युग में भूमि संस्था से सम्बन्धित एक ऐसा

अध्यादेश 'गुणपत्र', जो राजा द्वारा क्षेत्र के निवासियों को दिया गया था इसमें झोपड़ियों में रहने वाले कृषकों को उनके नामें के आगे पंजीकृत क्षेत्रों पर खेती करने तथा किसी भाग को आकर्षित छोड़ने पर जुर्माना वहन करने तथा स्थानीय रीति-रिवाजों के अनुसार कुछ भाग स्थानीय अधिकारियों को देने के साथ सभी प्रकार के कर देने की बात की गयी है। कृषकों को फसल का दो तिहाई हिस्सा मुखिया को देना पड़ता था और यदि कोई अनाज चुराने का प्रयास करता था तो एक बार चेतावनी देने के बाद दूसरी बार गांव से निकाल दिया जाता था।[81] कृषकों की सुनवाई भी तभी सम्भव थी जब चार कृषक 'गुणपत्रों' सहित जाये[82] इससे यह प्रतीत होता है कि इस युग में किस प्रकार उच्च वर्ग द्वारा कृषक शूद्र वर्ण का शोषण किया जा रहा था कि उन्हें मेहनत के बल पर सिर्फ एक तिहाई हिस्से का ही हकदार माना जाता था फिर भी मध्यकाल में सफल बटाई करने वालों की संख्या में बढ़ोत्तरी शूद्र वर्ण की खराब दशा को ही स्पष्ट करता है। यद्यपि कुछ विद्वानों[83] का यह कहना है कि लेखपद्धति के जिस दस्तावेज की चर्चा ऊपर की गयी है वह बाद के युग का है परन्तु 9वीं सदी के जिनसेनवृत्त आदि पुराण से भी कृषकों की उपरोक्त दशा का वर्णन मिलने से इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि पूर्वमध्यकाल में भी शूद्र वर्ण उच्च कुलीन वर्ग के शोषण का शिकार हुआ।

शूद्रों के कुछ वर्गो की अवस्था दयनीय होने के साथ-साथ वह वर्ग जो सम्पन्नता का जीवन व्यतीत कर रहा था उससे प्रभावित होकर व कुछ हद तक तत्कालीन परिस्थिति के भी प्रभाव से ब्राम्हणों ने शूद्रों को कुछ धार्मिक अधिकार प्रदान किये। इस युग के शूद्र शुद्धता के आधार पर दो भागों में विभाजित हो गये- सत शूद्र व असत् शूद्र। सत शूद्रों को पौराणिक विधि से संस्कार, पंच महायज्ञ इत्यादि करने का अधिकार दिया गया। मूर्त धर्म अर्थात् समाजहित के कार्य जैसे तालाब खुदवाना, छाया के लिये वृक्ष लगाना इत्यादि द्वारा वह पुण्य प्राप्त कर सकते थे। यही कारण है कि अधीतकाल में अनेक शूद्र मन्दिरों की व्यवस्था करते दिखायी पड़ते हैं।[84] कई सम्पन्न शूद्र मन्दिर निर्माण के लिये दान इत्यादि भी देते थे।[85]

समाज की बदलती परिस्थितियों के कारण धर्म के स्वरूप को लचीला बनाते हुये शूद्रों को यह अधिकार दिया गया कि वे विष्णु और शिव के नाम का स्मरण,

तीर्थयात्रा, दान जैसे कर्म करके स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं और यही उनके मोक्ष का साधन भी है। वेद श्रवण के स्थान पर पुराण श्रवण को शूद्रों के ज्ञान का साधन बताया गया।[86] तांत्रिक पूजा में तो स्त्री व शूद्र दोनों को ही पर्याप्त स्थान दिया गया।[87] शिक्षा के क्षेत्र में मेघातिथि ने शूद्र को एक अधिकार यह भी दिया कि वह व्याकरण पढ़ा सकता था।[88] वृहद्धर्म पुराण में भी शूद्र को व्याकरण और शास्त्र पढ़ाने की बात की है।[89] पुराणों की व्याख्या करने का अधिकार भी प्रदान किया गया है।[90] इस काल में अनेक शूद्राचार्य शूद्रों को दीक्षित करते दिखायी देते हैं।[91]

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि पूर्वमध्यकालीन सामाजिक कार्यों में शूद्रों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। प्राचीनकाल का वह शूद्र जो वेदों के सुनने तक का अधिकारी नहीं था, उसे अधीतकाल में न केवल कतिपय धार्मिक अधिकारों से संयुक्त कर दिया गया बल्कि समाज में अपेक्षाकृत उन्हें प्रतिष्ठित स्थान भी प्राप्त हुआ। कृषि जैसे महत्वपूर्ण कार्यों का शूद्र वर्ग द्वारा सम्पन्न किया जाना उनकी पुरानी हैसियत में सुधार का स्वयं प्रमाण है। यह बात अलग है कि इस काल में बटाई पर खेती होने तथा कुछ सामन्तवादी गतिविधिों के कारण कृषकों की स्थिति दयनीय हो चली थी। लेकिन शूद्रों की, आर्थिक गतिविधियों में महत्वपूर्ण भागीदारी फिर भी बनी रही। पूर्वमध्यकालीन सामाजिक परिवर्तन का चिराग लिये हुये शूद्र कतिपय प्रशासकीय क्षेत्रों तक भी पहुंच गया और उसने स्वयं में कई राजकीय पदों को भी समेट लिया। राजपद पर किसी शूद्र का अभिषिक्त होना एक बहुत बड़े सामाजिक परिवर्तन का द्योतक है। यद्यपि इस युग में सत् और असत् शूद्रों का उल्लेख आता है, लेकिन शूद्रों को उनकी आर्थिक मजबूती के कारण प्राय: समाज में आदर ही मिलता रहा। इस युग तक आकर अन्य जातियों की भांति शूद्र वर्ग के अन्तर्गत स्थानीयता ने प्रवेश कर लिया था और वह कई उपजातियों में विभक्त हो गया था। कहना न होगा कि यह विभाजन यदि एक ओर उनकी विशिष्ट व्यावसायिक पहचान बना रहा था तो दूसरी ओर इसी विभाजन के कारण उनमे ऊँच नीच एवं छुआछूत की भावना भी घर कर रही थी। यही कारण है कि पराशर जैसे स्मृतिकारों ने शूद्र वर्ग के अन्तर्गत कई अनेक उपजातियों का उल्लेख किया है जो आपस में एक

दूसरे से खान-पान के सम्बन्ध तक नहीं रखना चाहती थी। जातियों में यह संकीर्णता तत्कालीन सामाजिक परिवर्तन के कारण ही आयी होगी।

अधीतकालीन सामाजिक परिवेश में शूद्रों की तरह दासों के संदर्भ भी देखने को मिलते हैं। भारत में दास प्रथा का अस्तित्व वैदिककाल से ही मिलने लगता है और अधीतकाल अध्ययन की छठीं से बारहवीं शताब्दी के बीच इसके प्रभूत प्रमाण मिलते हैं। भारतीय दासप्रथा के माध्यम से इतिहासकारों का वह वर्ग जो भारतीय समाज को यूरोपीय साम्राज्यवाद एवं उसके मार्क्सवादी ढांचे के अन्तर्गत रखकर देखता है वह जब-जब पाश्चात्य जगत में जिन-जिन कारणों से दासता मजबूत या कमजोर होती हुई दिखाई पड़ती है तब-तब भारत में भी ऐसे इतिहासकार दासता के उत्थान एवं पतन की कहानी लिख डालते हैं।[92] बिना इस बात की परवाह किये हुये कि यूरोपीय सामन्तवाद के जिस ढांचे की परिकल्पना कार्लमार्क्स की विचारधाराओं के सम्बन्ध से करते हैं स्वयं में उसका अपवाद बताया है। कार्लमार्क्स की एशियाई उत्पादन पद्धति का कोई सिद्धान्त भारत के सामाजिक इतिहास में स्वयं कार्लमार्क्स के शब्दों में लागू नहीं किया जा सकता और यदि भारत के संदर्भ में स्वयं कार्लमार्क्स उसे अपवाद बताता है तो उसके अनुगामी इतिहासकारों को यह हक कैसे मिल गया कि वह स्वयं अपने पुरोधा के बनाये हुये ढांचे का अतिक्रमण करते हुये भारतीय इतिहास को चित्रित करने लगा।[93]

मार्क्सवादी ढांचे का उपरोक्त तरीके से खण्डन करने का तथ्यपरक आधार भी है क्योंकि भारत की आर्थिक एवं राजनीतिक दशा में श्रमकर्मी निर्णायक भूमिका में खड़ा नहीं दिखाई पड़ता विशेषकर मौर्यकाल का समाज जिसमें दासों एवं शूद्रों को अर्थव्यस्था की रीढ़ मानते हुये राज्य के आवश्यक अंग के रूप में उनका चित्रण करना तथ्यपरक नहीं था।[94] मौर्यकालीन राज्य व्यवस्था अपने सुदढ़ प्रशासनिक संगठन, उच्चस्तरीय राज्यतंत्र की वजह से पहली बार महत्वपूर्ण बना था न कि अर्थव्यवस्था उसकी संवाहिका थी क्योंकि जिन शूद्रों एवं दासों को इस समय श्रम के प्रमुख अंग के रूप में चित्रित किया गया है वह स्थिति उसके पूर्व, परिवर्ती दोनों युगों में दिखाई पड़ती है।[95] मौर्यकालीन समाज शूद्र एवं दास श्रम पर आधारित न होकर

एक सामान्य क्रिया के रूप में अर्थव्यवस्था के श्रम में प्रत्येक वर्ग की भागीदारी का युग था। ऐसे में जब यूरोपीय सामन्तवाद का आधार भारतीय समाज में स्थापित नहीं हो सकता तो उससे निःसृत अन्य परिणाम अथवा परिकल्पनायें निराधार होगें।

जहां तक मौर्यकालीन समाज में दासों की स्थिति का प्रश्न है कौटिल्य ने 9 प्रकार के दासों की चर्चा की है।[96] जिनमें ध्वजाहृत, उदरदास, गृहजात, क्रीत, लब्ध, दायागत, दण्ड प्रणोत, आध्तिक तथा आत्मविक्रयी कोटियां हैं।[97] लेकिन कौटिल्य उदरदास को छोड़कर अन्य प्रकार के दासों के क्रय-विक्रय पर राज्य द्वारा कठोर दण्ड का प्रावधान करता है।[98] वह दासों को सम्पत्ति रखने का अधिकार भी प्रदान करता है। दास अपने मालिक की सहमति से निजी सम्पत्ति भी रख सकते थे।[99] दासों को राज्यों द्वारा विष्टि कर्मकरों तथा दण्ड/प्रकृतियों के साथ कृषि कार्य में लगाने का उल्लेख भी वह करता है।[100] किन्तु अर्थशास्त्र में स्पार्ट के हेलिटी की तरह राज्य द्वारा सामूहिक रूप से रखे गये दासों की एकाधिकारिक अवधारणा नहीं मिलती अर्थशास्त्र में राजकीय दासों के अतिरिक्त व्यक्तिगत रूप से रखे गये दासों के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।[101] उस समय राज्य न केवल दास श्रम का नियोजन विभिन्न कार्यों के लिये करता था बल्कि उनके साथ कर्मकर एवं दण्ड प्रकृतियों के श्रम का भी उपयोग करता था। अर्थशास्त्र दासों को न केवल वेतन देने की बात करता है,[102] अपितु दासता से मुक्ति प्राप्त करने के अनेक रास्तों को भी बताता है।[103] भारतीय दार्शनिक एवं सामाजिक चिन्तन में जो दास जिन विशिष्ट परिस्थितियों में पल कर दासता में आबद्ध होता था उन परिस्थितियों को दूर करने से उसे दास जीवन से मुक्ति प्राप्त हो जाती थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दास को जन्मना एक हीन कोटि का मनुष्य नहीं बताया गया है और इस प्रकार मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई भेद कौटिल्य नहीं करता। कौटिल्यीय अर्थशास्त्र में अनेक नियम जो दासों की मुक्ति के बारे में है; मात्र दासता की स्थिति में पहुंचा दिये गये आर्यों में लागू होते हैं नियम बताता है कि जिसने अपने को बेच दिया हो, उसके बेटे को आर्य (स्वतंत्र) समझना चाहिये कोई व्यक्ति अपने मालिक के कार्य में विघ्न डाले बिना अर्जन करके और अपने पूर्वजों की सम्पत्ति विरासत में प्राप्त करके अपना क्रय मूल्य चुका सकता है और इस प्रकार अपना आर्यत्व पुनः प्राप्त कर सकता है युद्ध

में बन्दी बनाया गया आर्य प्राण व्यक्ति मूल्य चुका कर मुक्त हो सकता है समुचित मुक्ति मूल्य पा लेने के बाद किसी दास को आर्य नहीं मानने पर बारह पण जुर्माना किया जायेगा ऐसे सभी मामलों में आर्यत्व की पुनः प्राप्ति का प्रश्न केवल उन्हीं लोगों के लिये उठ सकता है जो पहले से आर्य रहे हों शूद्रों के लिये प्रश्न नहीं उठ सकता। उपर्युक्त, उपबन्ध अधिक से अधकि तीन उच्च्व वर्णो के उन पुत्रों पर लागू हो सकेगें जो शूद्र माताओं से उत्पन्न हुये हों।

दासों के प्रति किये जाने वाले बर्ताव को विनियमित करने के लिये कौटिल्य ने कुछ नियम बनाये जो शूद्र दासों तथा उच्च्व वर्ण के दासों पर भी लागू होते हैं। उन्होंने बताया है कि जो आठ वर्ष से कम उम्र का हो और सगा सम्बन्धी विहीन हो उसे हीन व्यवसायों में नहीं लगाया जा सकता है और न उसे विदेश में बेचा या बन्धक रखा जा सकता है। इसी प्रकार किसी गर्भवती दासी को प्रसव की व्यवस्था के बिना बेचा या बंधक नहीं रखा जा सकता। जनपद निवेश सम्बन्धी अध्याय में यह आदेश दिया गया है कि राजा को चाहिये कि लोगों को बाध्य करे कि अपने दासों और अहितयो के दावों पर ध्यान दे यह तथ्य अशोक द्वारा बार-बार दिये अनुदेशों से मिलता है जिनमें कहा गया है कि दासों और सेवकों के प्रति दयालुतापूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिये। कौटिल्यीय अर्थशास्त्र में विव्रत दासता विषयक प्रमाणों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में दासता किंसी नैसर्गिक गुण के अभाव का परिणाम नहीं है बल्कि कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों का परिणाम मात्र थी। चाह वह युद्ध की विभीषिका रही हो अथवा किसी दण्ड को भोगने की स्थिति रही हो भोजन की समस्या रही हो, अथवा दान की अवस्था प्रत्येक अवस्थाओं में कोई न कोई विशिष्ट परिस्थिति का ही दर्शन मिलता है। इस प्रकार कौटिल्य की दासता की अवधारणा का अलग स्वरूप ही दिखाई पड़ता है। कौटिल्य के राज्य की अवधारणा राज्य को मनुष्य की चरम उपलब्धि नहीं मानती जिसके लिये इस उपलब्धि को आहर्ता न रखने वाले व्यक्ति अथवा दास को इस उपलब्धि का अनिवार्यतया एक साधन बनाया जा सके। राज्य तो कौटिल्य की दृष्टि में मनुष्यवती भूमि एवं लाभ एवं पालन के माध्यम से मनुष्य को जीविका उपलब्ध कराने का

साधन मात्र है; उसकी अनिवार्यता उसके साध्य, जीविका की अनिवार्यता से जुड़ी हुई है। मनुष्यवती भूमि के लाभ में बल प्रयोग की अनुमति देते हुये कौटिल्य युद्ध का अनुमोदन करता है और राज्य के गठन एवं संचालन में शक्ति और शक्तिशाली की भूमिका को अनिवार्य समझता है।[104] शासकत्व को अर्हता, कौटिल्य की दृष्टि में इस प्रकार का बाहुबल और बुद्धिबल से उपार्जित शक्ति और संगठन की क्षमता है;[105] न कि ऐसी कोई नैसर्गिक विशिष्टता जो स्वतंत्र नागरिक में तो होती है परन्तु दास में नहीं। यह बात दूसरी है कि दास भी उस विशिष्टता का विकास कर लेने के पश्चात् नागरिक हो सकता है। इस प्रकार कौटिल्य की दृष्टि में दासता राज्य का संयोजक तत्व नहीं है और राज्य के विकास के लिये दासता की आधारशिला होना कदापि आवश्यक नहीं है।

जहां तक मौर्यकालीन समाज में दासों की स्थिति का प्रश्न है तो कौटिल्य ने सात प्रकार के दासों का उल्लेख किया है और यदि इस संख्याबल को दासों की बहुलता या अर्थव्यवस्था में उनके प्रधान कारक के तत्व के रूप में देखा जाय तो मनु के काल में, जो भारतीय अर्थव्यवस्था का सर्वविदित अन्धकार पक्ष है में दासों की नौ कोटियां हैं कुछ और कहानी होनी चाहिये थी यही नहीं गुप्तोत्तर काल में या नारद स्मृति में पन्द्रह प्रकार के दासों का विवरण मौर्यकाल की अपेक्षा दुगुनी मजबूत अर्थव्यवस्था और उसमें दासों की भूमिका को उसी अनुपात में करना चाहिये। जबकि यह भी सर्वविदित है कि मौर्य एवं गुप्तकालीन राजनीतिक एवं आर्थिक अवस्थाओं में पर्याप्त अन्तर था।

कौटिल्य के बाद भारतीय व्यवस्थाकारों एवं विचारकों में मनु का नाम आता है कौटिल्य की उपर्युक्त दासता विषयक अवधारणा बाद के इन विचारकों में भी थोड़े बहुत बदलाव के साथ दिखाई पड़ती है और ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उपलब्ध दासता की भारतीय अवधारणा भारतीय चिन्तन की प्रतिनिधि अवधारणा की आधार भूमि है। कौटिल्य के पश्चात मनु ने कोई दास कल्प जैसा अलग अध्याय तो नहीं लिखा किन्तु छुटपुट उल्लेखों के रूप में दासता की चर्चा कई स्थलों पर की है।[107]

मनु दासों को शारीरिक दण्ड देते समय उन्हें पुत्रों की कोटि में खड़ा करते है।[108] यही नहीं वे दासों को गवाही जैसे महत्वपूर्ण अधिकार[109] देने के साथ ही विशिष्ट परिस्थितियों में दासों को लेन-देन का अधिकार भी देते हुये दिखायी पड़ते है। मनु ने एक स्थान पर लिखा है,[110] कि जब दास का मालिक विदेश चला गया हो मालिक की अनुपस्थिति में वह दास उसके कारोबार सम्बन्धी लेन-देन में पारिवारिक प्रतिनिधित्व की जिम्मेदारी भी निभा सकता था जिसे विदेश से वापस लौटकर आने पर वह मालिक रद्द घोषित नहीं कर सकता। लेकिन अन्यत्र एक स्थल पर मनु ने इसे अस्वीकृत करते हुये लिखा है कि वास्तविक स्वामी से भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा की गयी बिक्री अमान्य घोषित कर दी जाती थी।[111] ऐसा प्रतीत होता है कि मनु ने दासों की मुक्ति की भी बात की होगी क्योंकि वह शूद्रों को दासता से मुक्ति प्राप्ति के पश्चात् भी दासता में ही पड़े रहने की बात करता है।[112] यद्यपि अलग से मनु ने दास मुक्ति के विधान नहीं बताये हैं लेकिन वह दूसरी तरफ यह भी कहता है कि यदि कोई ब्राम्हण किसी द्विज को लोभवश दास बना ले तो उसे तत्काल मुक्त कर देना चाहिये अन्यथा राज्य की ओर से उसे 600 पण का दण्ड भोगना पड़ेगा।[113] इससे ऐसा प्रतीत है कि मनु के काल में भी दासता से मुक्ति की कोई न कोई व्यवस्था अवश्य रही होगी। इस प्रकार दासों को सम्पत्ति का अधिकार, उनकी मुक्ति की व्यवस्था, गवाही जैसे विधिक कृत्य, दण्ड में पुत्रों की तरह का दण्ड विधान यदि एक ओर दासों के प्रति उदार दृष्टिकोण का परिचायक है तो दूसरी ओर शूद्र दासता के प्रति मनु का दृष्टिकोण अत्यन्त कठोर एवं एकांगी दिखायी पड़ता है। वस्तुतः मनु के उपर्युक्त दासता विषयक प्रमाण कोई ठोस निष्कर्ष तो नहीं प्रदान करते लेकिन जो भी अवधारणायें इससे निकाली जा सकती हैं उससे ऐसा प्रतीत होता है कि मनु के न चाहते हुये भी तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का ऐसा दबाव उनके ऊपर था जिनसे वे छुटकारा नहीं पा सकते थे। सम्भवतः यही कारण है कि एक तरफ तो वे दासें की मुक्ति की अलग से कोई व्यवस्था नहीं देते और दूसरी ओर द्विजों को दास बनाने के वे घोर विरोधी हैं। मनु के पूर्व कौटिल्य ने दासों की मुक्ति की अनेक व्यवस्थायें दी हैं लेकिन मनु ने ऐसा नहीं किया।

ऐसा लगता है कि कौटिल्य द्वारा दासों की मुक्ति का विधान प्रस्तुत कर देने के कारण दास मुक्ति एक प्रचलित रिवाज बन गयी होगी। प्रचलित रिवाजों के समक्ष धर्मशास्त्रीय व्यवस्थायें यदि उनके विरुद्ध जाती हैं, तो स्वतः निरस्त समझी जाती हैं। अतः मनु ने यदि इस प्रचलित रिवाज के विरुद्ध नियम प्रदान किये होते तो उनका अनुपालन नहीं होता और यदि मनु उनका अनुमोदन करते तो वह अनावश्यक था और सम्भवतः वह मन सुलभ वैदिक कट्टरता के विपरीत भी होती है। दास मुक्ति पर मनु के मौन का शायद यही कारण रहा होगा इसलिये यह कहा जा सकता है कि मनु की दासता विषयक उपर्युक्त अवधारणा देश एवं काल की सापेक्षता में बदलती रही तभी तो वे किसी की दासता को तो नैसर्गिकता की चादर से ढकने की कोशिश करते हैं और किसी दास को न्यायिक प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग बनाकर इससे लेन-देन जैसे आर्थिक कृत्यों के सम्पादन की भी बात दबे मन से स्वीकार करते हुये प्रतीत होते हैं उससे ऐसा प्रतीत होता है कि मनुकालीन भारतीय दासता कौटिल्य युगीन दासता की अवधारणा के अनुरूप थी मनु की परिस्थितजन्य विवशता ने उसे उस रूप में मुखरित नहीं होने दिया है। मनु के काल में प्राप्त दासता राज्य एवं समाज का कोई आवश्यक अंग नहीं प्रतीत होती जैसा कि इससे पूर्व कौटिल्य की दासता विषयक अवधारणा में भी स्पष्टतया परिलक्षित होती है। मनु चाहे जितना अधिक वैदिक कट्टरता से युक्त क्यों न दिखाई पड़ते हों लेकिन वे दासता के औचित्य का अनुमोदन करते हुये भी नहीं प्रतीत होते।

मनु के बाद भारतीय विचारकों में याज्ञवल्क्य, नारद एवं देवण्यभट्ट का नामोल्लेख किया जा सकता है।[114] जिन्होंने अपनी कृतियों में दासता विषयक विवरण प्रस्तुत किया है। याज्ञवल्क्य ने आचार्य काण्ड में दासों के साथ विवाद न करके किसी भी गृहस्थ व्यक्ति को तीनों लोकों को प्राप्त करने का अधिकारी घोषित किया है।[115] यहां पर याज्ञवल्क्य दासों के साथ-साथ माता, पिता, भाई, अतिथि सुहागिन स्त्री, सम्बन्धी मामा, वृद्ध बालक, रोगी, आचार्य, वैद्य, आश्रितजन, बांधव, पुरोहित, पुत्रवधू और सहोदर भाइयों का उल्लेख करते हैं। यही नहीं याज्ञवल्क्य ने दासों को यहां तक कि शूद्र दासों के अन्न को भोज्यान्न के रूप में मान्यता प्रदान की है।[116] दास उस समय पारिवारिक सदस्य की तरह होता था यद्यपि एकाध स्थलों पर याज्ञवल्क्य ने भी मनु का अनुकरण

करते हुये श्राद्ध में भूमि पर गिये हुये अन्न को दासों के खाने योग्य बताया है।[117] लेकिन सामान्यतया दासों के प्रति याज्ञवल्क्य का दृष्टिकोण अमानवीय नहीं था बल्कि एक उदार दृष्टिकोण ही परिलक्षित होता है।

याज्ञवल्क्य ने वर्गानुक्रम के हिसाब से ही दासता को स्वीकृति प्रदान की है अर्थात् कोई भी ब्राम्हण दास नहीं बनाया जा सकता।[118] केवल वैश्य क्षत्रिय एवं ब्राम्हणों की दासता में आबद्ध किया जा सकता है और शूद्र के लिये ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं था। दूसरी तरफ याज्ञवल्क्य ने सम्भवतः पहली बार ब्राम्हण को दासता में आबद्ध करने की बात भी एक स्थान पर की है। उनके अनुसार पतित ब्राम्हणों को राजा के दास के रूप में डाल देना चाहिये[119] इस प्रकार याज्ञवल्क्य दासों के प्रति अधिक उदार दिखाई पड़ते हैं। याज्ञवल्क्य ने दासों की मुक्ति का भी विधान किया है जब कोई दास अपने मालिक के प्राण किसी घोर विपत्ति अथवा आसन्न हमले से बचा लेता था, तो उसे मुक्ति प्रदान करने की बात याज्ञवल्क्य ने की है।[120]

याज्ञवल्क्य की ही तरह नारद ने भी दासों की मुक्ति की बात की है, जबकि वह मालिक था। उस समय दासों की कोटियां 15 तक पहुंच गयी थी। नारद स्मृति में 15 प्रकार के दासों की चर्चा है जिसमें युद्ध प्राप्त, भक्तदास, गृहजात, क्रीत, लब्ध, दायाद, : पागत ऋणदास, आहितक, आत्मविक्रेता, पणजित, प्रव्रज्यावसितु अनाकालभृत, वडवाहत तथा कृतदास सम्मिलित है।[121] जहां याज्ञवल्क्य जोर जबरदस्ती से दासता में ढकेलने को एक ऐसा गम्भीर अपराध मानते हैं कि यह अपराध सोने की चोरी के समान है।[122] वहीं नारद दासों के अपहरण पर उस व्यक्ति के आधे पैर काट लेने की बात करते है।[123] इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने दासों के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाकर नारद के लिये उसे सहज बना दिया है तभी तो इतनी अधिक दास कोटियों के बावजूद दासों के मुक्ति की परम्परागत चली आ रही व्यवस्था में कोई अवरोध खड़ा नहीं करता बल्कि उनका अनुमोदन ही करता है। याज्ञवल्क्य एवं नारद की उपयुक्त व्यवस्था में कात्यायन ने एक छूट का समावेश और कर दिया कि यदि कोई ब्राम्हण किसी का दास होना चाहता है तो वह केवल ब्राम्हण

का ही दास हो सकता है और उस पर भी किसी चरित्रवान एवं वैदिक ब्राम्हण का ही तथा किसी पवित्र कार्य के लिये ही दास बन सकता है।[124] कात्यायन का यह विवरण निश्चित ही मनु के उस विवरण से एकदम अलग एवं विपरीत है जिसमें मनु ने किसी भी ब्राम्हण को किसी भी परिस्थिति में दासत्व में न डालने की व्यवस्था दी है।[125] यही नहीं सम्भवतः यज्ञवल्क्य की उस व्यवस्था में जिसमें संयम पतित ब्राम्हण को राजा का दास बना देना चाहिये कात्यायन ने सम्भवतः यह छूट प्रदान कर दी गयी होगी अथवा एक कदम और आगे बढ़ गये होंगे। यह स्थितियां एक सामाजिक परिवर्तन का भी संकेत देती है क्योंकि जो द्विज किसी भी दशा में पहले दास नहीं बनाया जा सकता था उसे अब दास बनाने की बाते मिलने लगी। ऐसा लगता है कि कात्यायन के काल तक आते आते दासता से मुक्ति का विधान ज्यादा प्रचलित हो गया था तभी तो ब्राम्हणों को भी दासता में फंस जाने से कोई विशेष खतरा नहीं दिखाई पड़ रहा था क्योंकि दास जीवन से मुक्ति तो मिल ही जाती थी अर्थात् भारतीय संदर्भों में किसी नैसर्गिक दासता का यह पूर्ण निषेध प्रस्तुत करती है।

कात्यायन के पश्चात दासता की अवधारणा देवण्यभट्ट की स्मृति चन्द्रिका में और अधिक स्पष्ट होती हुई दिखाई पड़ती है स्मृति चन्द्रिका के व्यवहार काण्ड में दास निरूपण पर बहुत अधिक विस्तार से लिखा गया है[126] किसी विप्र को दास न बनाने की सलाह स्मृतिकार ने दी है और उत्तम वर्ण के व्यक्ति को दास बनाने पर उत्तम साहस दण्ड की व्यवस्था की गयी है।[127] स्मृति चन्द्रिका दास जीवन से मुक्ति का विधान भी प्रस्तुत करती है जिसमें दास एवं दासी दोनों के लिये तरह-तरह के विधान बताये गये हैं यदि कोई दास अपने स्वामी की जान घोर संकट से बचा लेता है तो ऐसे दास को मुक्त कर देना चाहिये।[128] यदि स्वामी ने किसी दासी के गर्भ से संतान उत्पन्न कर दी तो दासी समेत उस संतान को मुक्त करने की सलाह भी दी गयी है।[129] यहां पर यह उल्लेखनीय है कि स्मृतियों में ऐसी व्यवस्थाएं एक ऐसे युग में दी जा रही थीं; जबकि भारतीय उपमहाद्वीप में युद्धों की बहुलता एवं भयावहता से दासों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हो रही थी। यही नहीं भारत से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दासों का व्यापार भी किया जा रहा था जिससे दासों की

संख्या में अभिवृद्धि हो रही थी।[130] यह स्थिति भी कात्यायन के बाद बहुत अधिक दिखाई पड़ती है क्योंकि समराइच्च कहा, कथा सरित्सागर प्रपंचा कथा लेख पद्धति तथा लिखनावली आदि अनेक ग्रन्थों में दासों के व्यापार के प्रमाण उपलब्ध है।[131] अत: भारत में एक ओर तो दासमुक्ति के लिये तरह-तरह की व्यवस्थाएं दी जा रही थीं और दूसरी तरफ दास व्यापार में अतिशय वृद्धि हो रही थी। ऐसा लगता है कि अर्थशास्त्र से लेकर लिखनावली तक दासों के सम्बन्ध में कुछ ऐसे ही लक्षण दिखालाई पड़ते है कि एक तरफ तो दासता समाज एवं राज्य का आवश्यक अंग कभी नहीं बनी लेकिन दूसरी तरफ परिस्थितिजन्य दासता सदैव वृद्धि की ओर अग्रसर रही। भारतीय दासता के उपर्युक्त विवरणों के तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य उभर कर सामने आया कि भारत में दासता राज्य एवं समाज का एक आवश्यक अंग कदापि नहीं थी।

दासता का पूर्वमध्यकालीन इतिहास लेखन इसी प्रकार कई नये गवाक्ष उद्घाटित करता है। हर्षवर्धन के काल से लेकर भारत में मुस्लिम शासन की बुनियाद या उसके बाद भी दासों का अस्तित्व विविध रूपों में विद्यमान दिखाई पड़ता है। पूर्वमध्यकालीन समाज एवं अर्थव्यवस्था जहां एक और वैदेशिक अक्रान्ताओं से त्रस्त थी; वहीं बड़े पैमाने पर दासों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इस युग की महत्वपूर्ण घटना थीं। प्राचीनकाल से ही दासों की आपूर्ति का प्रधान सोत्रयुद्ध था।[132] विश्व की उन अनेकानेक सभ्यताओं में जहां पर दासता के प्रभूत प्रमाण मिलते हैं; दासों की आपूर्ति के लिये युद्ध एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्रोत था।[133] लेकिन यहां पर यह उल्लेख करना आवश्यक है कि सम्भवत: युद्ध दासता की अपेक्षा अधिक प्राचीन है।[134] शुक्ल यजुर्वेद संहिता के अनुसार आर्य लोग स्वयं अनार्यों पर विजय प्राप्त करके उन्हें आर्यों का दास बनने के लिये विवश कर देते थे।[135] युद्ध यद्यपि पूर्व वैदिक काल में भी बहुत अधिक होते थे लेकिन इस प्रकार युद्ध में शत्रुओं को दास बनाये जाने के उल्लेख वहां पर नहीं होते।[136] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दासों की आपूर्ति के एक महत्वपूर्ण स्रोत्र के रूप में युद्ध का महत्व सर्वप्रथम उत्तरवैदिक काल में बढ़ा, तब से निरन्तर युद्धों की संख्या में अभिवृद्धि के ही संकेत मिलते हैं। जब एक बार दासों की आवश्यकता एवं उनका महत्व लोगों की समझ में आ गया तब मानव

समूह को दासता में आबद्ध करने के लिये युद्धों का क्रम प्रारम्भ हो गया।[137] धीरे-धीरे ऐसे अभियान और अपहरण दासों को प्राप्त करने के प्रधान माध्यम बन गये।[138] भारत में उत्तर वैदिक काल के बाद युद्धों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। अतः युद्ध के मूल से उत्पन्न दासता में भी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई होगी और यह प्रक्रिया पूर्वमध्यकाल में भी अवरुद्ध नहीं हुई होगी क्योंकि न तो इस काल में युद्धों की संख्या में कोई कमी आयी और न ही ऐसा कोई महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन हुआ कि दासता एक सामाजिक संस्था अथवा यथार्थ के रूप में बिल्कुल निर्मूल हो जाती। पूर्वमध्यकालीन भारत में वैदेशिक आक्रमण युद्धों की बहुलता एवं निरन्तरता प्रादेशिक शासकों एवं अभिजात्य वर्गीय लोगों की एक विशिष्ट पहचान या इस युग में सम्पूर्ण देश ऊहापोह राजनीतिक विकेन्द्रीकरण, युद्धों की भयावहता, अराजकता एवं षड़यंत्र का अखाड़ा बन चुका था।[139]

आठवीं शताब्दी ई0 के प्रथमार्द्ध में सिन्ध पर अरबों ने आक्रमण करके एक प्रकार से भारत में मुस्लिम आक्रमणों की नींव डाल दी, जिसकी परिणति अन्ततः भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना के रूप में ही कालान्तर में दिखायी पड़ी। 725 ई0 में भारत आये कोरियाई बौद्ध यात्री हुई-चु-आओ ने लिखा है कि वर्तमान समय में यह देश अरबों के आक्रमण से संत्रस्त है और लगभग आधा देश इनके द्वारा रौंदा जा चुका था।[140] उत्तर में हर्ष की मृत्यु के पश्चात कन्नौज में चीनी राजदूत वांग-हान-त्से के आक्रमण ने अन्धकार एवं संक्रमण की विषम परिस्थिति उत्पन्न कर दी।[141] उत्तरी भारत आगे चलकर महमूद गजनवी, मुहम्मद गौरी एवं कुतुबुद्दीन ऐबक के भीषण आक्रमणों का शिकार बना। दक्षिण भारतीय राजा सोलोन के राजाओं से, अपनी सम्प्रभुता को स्थापित करने के उद्देश्य से युद्ध में उलझे हुये थे और भारतीय उपमहाद्वीप तो स्वयं ही त्रिपक्षीय संघर्ष के तूफानों को झेल रहा था। इस प्रकार समस्त पूर्वमध्यकालीन भारतीय इतिहास युद्धों से अपरिचित नहीं था बल्कि अस्थिरता एवं उपद्रव के युग में सांस लेने के लिये विवश था। युद्धों की यह बहुलता पराजितों को दास जीवन में फँसने के लिये विवश कर देती थी। इन युद्धों में बड़ी संख्या में लोग बन्दी बनाये जाते थे। यहां तक कि कभी-कभी एक ही युद्ध में 20000 से 50000 लोगों को दास बना लेने के प्रमाण मिलते हैं।[142] ऐसे में कतिपय इतिहासकारों

का यह तर्क देना, कि पूर्वमध्यकाल में युद्ध भी दास उपलब्ध कराने के समृद्ध स्रोत नहीं रह गये थे[143] उचित नहीं प्रतीत होता। ऐसे इतिहासकारों में ध्वजाहृत, दासों के प्रति अभिव्यक्त मेघातिथि के उस दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है जिसमें वह युद्ध में पराजित क्षत्रियों को दास बनाने की स्वीकृति देने वाली पूर्ववर्ती सम्मति को अस्वीकार करता है और मनुस्मृति में मिलने वाले ध्वजाहृत दासों के उल्लेख को केवल पराजित स्वामी के दास कर्मियों पर कब्जा कर लेने मात्र तक सीमित कर देता है।[144] लेकिन मेघातिथि की उपर्युक्त व्याख्या अदृष्टार्थक विधान से प्रेरित होती है क्योंकि इसी युग में स्त्रियों को पकड़कर दासी बना लेने, बेचने तथा पाश्चात्य आक्रमणों में बन्दी लोगों को दास बनाकर बेचने के साक्ष्य अपवाद स्वरूप नहीं हैं। बल्कि अकेले कालिंजर के दुर्ग से ही 50000 लोगों को युद्ध में बन्दी बनाकर दासता में आबद्ध कर देने के साक्ष्य मौजूद हैं ऐसे हमलों एवं युद्ध बन्दियों के कारण दास व्यापार में वृद्धि की बात इन इतिहासकारों ने भी स्वीकार की है।[146]

पूर्वमध्यकालीन भारत में तुर्कों का आक्रमण भारतीय इतिहास की एक परिवर्तनकारी घटना है। इन तुर्क आक्रमणों में हजारों की संख्या में हिन्दुओं को दास बनाया गया। महमूद गजनवी ने भारत पर कुल 17 बार आक्रमण किया और अपने अधिकांश हमलों में वह भारत से कुछ न कुछ ले जाता था जिनमें हिन्दू लोगों को दास के रूप में गजनी ले जाना,[147] अपवाद स्वरूप न रहा होगा। गजनवी ने अधिसंख्य हिन्दू मन्दिरों एवं मूर्तियों को तोड़ा तथा हिन्दुओं को जबरदस्ती पकड़कर दास बनाया और वह भी इन दासों को गजनी में ले जाकर बेचता था तथा जबरन इनसे इस्लाम धर्म कबूल करवाता था।[148] एक ही युद्ध में हजारों की संख्या में लोगों को युद्ध बन्दी बनाकर दासता में आबद्ध करने के पीछे केवल यही भावना रही होगी कि इससे दास बाजार में बेचकर अधिकाधिक धन प्राप्त किया जा सकता है इतने बड़े पैमाने पर दास बनाने का उद्देश्य बाजार में विक्रय के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। भारत पर तुर्क आक्रमणों का यह सिलसिला मुहम्मद गौरी के समय में दासता के इतिहास में और अधिक महत्वपूर्ण बना जब अकेले कालिंजर से लगभग 50000 हिन्दू भारतीयों को पकड़कर दासता में ढकेल दिया गया।[149] यद्यपि यह सही है कि इन युद्धबन्दियों में से कुछ को भारत खदेड़ दिया जाता था लेकिन भारत

आकर इनकी और भी दुर्दशा होती थी। अलबेरुनी लिखता है कि ऐसे युद्धबन्दी लोग जो मुस्लिम देशों से वापस आ जाते थे या किसी तरह बच निकलते थे उनको अपने ही देश में अत्यन्त कठोर प्रायश्चित करने पड़ते थे।[150] ये लोग इस प्रायश्चित को सुनकर ही सम्भवतः कांप जाते रहे होगें जिसमें ऐसे लौटे हुये व्यक्ति को सड़े हुये गोबर के गड्ढ़े में तब तक आकंठ डूबे रहना पड़ता था जब तक कि उनमें कीड़े पड़ने की स्थिति न आ जाय।[151] तभी उस अशुद्धि से मुक्ति सम्भव थी भारतीय धर्मशास्त्रीय विधानों में इतने कठोर प्रायश्चितों की व्यवस्था होने के कारण यह अधिकांश हिन्दुओं के लिये सम्भव भी न हो पाता रहा होगा और वे भारतीय मुसलमानों की दासता में पड़े रहना बेहतर समझते रहे होगें। 1192 ई0 में मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज को परास्त करके बन्दी बनाने के पश्चात असहाय अजमेर निवासियों को पकड़कर दास बना लिया और उन्हें दासों के बाजार में ले जाकर बेंच दिया।[152] 1197 ई0 गुजरात से लगभग 20,000 हिन्दुओं को दास के रूप में मुस्लिमों की आधीनता स्वीकार करनी पड़ी।[153] एक विवरण के अनुसार महमूद गजनवी ने अपने सम्पूर्ण गंगा घाटी के मैदानी अभियानों से लगभग 55,000 हिन्दुओं को दास बनाया।[154]

युद्धबन्दी दासों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापारिक सम्बन्ध कायम करने में भी आसानी हुई होगी। इसका सबसे अच्छा उदाहरण अरब आक्रमणों में देखा जा सकता है जिन्होंने दास व्यापार के बल पर अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अपनी एक अलग पहचान बनायी।[155] युद्ध और सैनिक विजय के माध्यम से इस्लाम का प्रचार एवं साम्राज्य विस्तार करने वाले अरब व्यापारियों ने युद्ध में पकड़े गये दासों को व्यापारिक विनिमय का एक साधन बनाया और व्यापारिक संतुलन को अपने पक्ष में किया।[156] अरबों ने इन दासों[157] को एक व्यापारिक माल के रूप में प्रयोग किया।[158] पूर्वी अफ्रीका से सोने के लिये दासों को विनिमय का माध्यम बनाना, भारत में मसाले, सूती कपड़े तथा रंगों के बदले दासों को भारत में बेचना तथा इसी प्रकार लाल सागर, यूरोप एवं मध्य एशिया के साथ दास व्यापार कायम करना अरबों का प्रमुख उद्देश्य बन गया।[158] इसी दास व्यापार के माध्यम से उन्हें अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध सुधारने में मदद मिली होगी।

पूर्वमध्यकालीन भारत का व्यापारिक इतिहास दासों के क्रय-विक्रय से अपरिचित नहीं था। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में दासों के व्यापारिक केन्द्रों के रूप में प्रतिष्ठित बसरा एवं बगदाद जैसे केन्द्र तो भारत में नहीं थे लेकिन लेख पद्धति[159] दासों को नगर के प्रमुख चौराहों पर बेचने का प्रमाण प्रस्तुत करके भारत में दास व्यापार का साक्ष्य प्रस्तुत कर देती है लेख पद्धति के अतिरिक्त ग्वालियर से प्राप्त राउलबेल अभिलेख में दास व्यापार का संकेत मिलता है।[160] ग्यारहवीं शती ई0 के एक अन्य अभिलेख में दासा के व्यापार की चर्चा है जिसमें मध्य-प्रदेश के मालवा क्षेत्र से सुन्दर नवयुवतियों को दास मण्डी में ले जाकर बेचने की चर्चा की है।[161] दासों के व्यापार के लिये गुजरात, कन्नौज टक्क गौण तथा मालवा प्रतिष्ठित थे।[162] लेख पद्धति दासों के निर्यात का साक्ष्य प्रस्तुतकर्ता है।[163] पूर्वमध्यकालीन भारत में युद्ध बन्दी दासों की संख्या बहुत अधिक मिलती है। क्योंकि इस युग में युद्धों की बहुलता के स्पष्ट प्रमाण मिलने के कारण इन युद्धों में युद्ध बन्दियों की अनुपस्थिति से इनकार नहीं किया जा सकता। कतिपय इतिहासकारों ने युद्धों की बहुलता से दासों की संख्या में अभिवृद्धि होना स्वीकार किया है।[164] प्राचीनकाल से ही भारत में ध्वजहृत दासों के प्रमाण मिलते हैं चाहे कौटिल्य का अर्थशास्त्र[165] हो अथवा मनु की मनुस्मृति[166] अथवा नारद की नारद स्मृति[167] प्रत्येक स्रोत में ऐसे दासों का विवरण मिल जाता है। ऐसे दासों में सामान्य वर्गों के लोगों के साथ कभी-कभी अभिजात्य वर्गीय दासता के प्रमाण भी मिलते हैं। हर्षचरित्र पत्रलेखा नामक ऐसी ही एक राज पुत्री का वर्णन प्रस्तुत करता है जो दासी बना ली गयी थी[168] आठवीं शताब्दी ई0 में लिखे गये गौड़बहो में ऐसे युद्धबन्दी दासों के प्रमाण मिलते हैं जब राजा यशोवर्मा मगध राज को परास्त करके अपनी राजधानी वापस लौट रहा था तो वह उस राजा की विधवा रानियों को उनके पूर्व स्तर से च्युत करके तथा दासी बना करके अपने घर ले आया जहां पर उनसे चँवर डुलाने का कार्य लिया जाता था।[169] युद्धों में यह सिद्धान्त प्रचलित था कि उच्च से उच्च कुल की रानियों को युद्ध में बन्दी बनाकर दासी के रूप में रखा जा सकता था और यदि वे इसका विरोध करती थीं तो हत्या की धमकी देकर उन्हें मजूबर कर दिया जाता था। पउमचरीय में शत्रु पक्ष की बन्दी स्त्रियों से सामन्तों द्वारा पानी ढुलवाने के लिये विवश करने के साक्ष्य मिलते हैं।[170]

युद्धबन्दी दासों को सैनिक कार्यों में नियोजित करने के प्रमाण मानसोल्लास में मिलते हैं जिसमें ऐसा विवरण है कि शत्रु पक्ष के पराजित लोगों को पहले युद्धबन्दी दासों की श्रेणी में रखा जाता था और फिर उन्हें आवश्यकता पड़ने पर सैनिक कार्यों में नियोजित किया जाता था।[171]

इस प्रकार अधीतकालीन साक्ष्यों से विदित होता है कि एक तरफ तो दासता से मुक्ति के विधान बन रहे थे और दूसरी तरफ एक ही वैदेशिक आक्रमण में हजारों की संख्या में युद्धबन्दी दास बनाये जाते थे जहां उन्हें जबरन इस्लाम स्वीकार कराया जाता था। ये घटनाये अपवाद स्वरूप नहीं थी और ऐसे में यह निष्कर्ष निकालना कि किसी जाति विशेष के लोगों को ही दास बनाया जाता था सत्य प्रतीत नहीं होता क्योंकि आक्रमण की विभीषिका जाति एवं वर्ग से परे हुआ करती है। ऐसा नहीं है कि इन मुस्लिम आक्रमणकारियों ने शूद्रों को छांट-छांटकर दास बनाया था। अकेले कालिंजर के किले से महमूद गजनी 50 हजार लोगों को दास बनाकर गजनी ले गया था जिनमें से ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र का कोई विभाजन नहीं था।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दासों का व्यापार, भारत के महानगरीय चौराहों पर दास विक्रय, बाजारों का उल्लेख, दासता के पतन की नहीं बल्कि दासता के उत्थान की बात पुष्ट करता है जैसा कि लल्लन जी गोपाल, डॉ0 लवकुश द्विवेदी जैसे विचारकों ने लिखा है कि पूर्वमध्यकालीन समाज में दासता तो बढ़ रही थी लेकिन उनकी स्थिति में अवमूल्यन का संकेत स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है।

वृहस्पति स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, स्मृतिचन्द्रिका आदि की दासमुक्त की व्यवस्थायें सम्भवतया आदर्श जगत की व्यवस्थायें थीं और यथार्थ जगत का चित्रण लेखपद्धति करती है जिसमें दास दासियों को उनकी आयु, शारीरिक सौष्ठव, रंग, रूप के आधार पर बेचे जाने का प्रमाण है। बसरा (बगदाद) की बाजारों में भारतीय दासों की बिक्री पूर्वमध्यकालीन इतिहास की एक अन्तर्राष्ट्रीय घटना है भले ही उसके पीछे मुस्लिम आक्रमणों का हाथ बताया जाता है यही नहीं दासों को व्यापारिक वस्तु के रूप में भी विनिमय का साधन बनाये जाने का प्रमाण मिलता है। अरब व्यापारी

अपने साथ वहां का सोना भारत लाते थे और यहां से दास खरीदकर ले जाते थे। इसी प्रकार दक्षिण पूर्व एशिया और भारत के बीच में सांस्कृतिक सम्बन्धों के साथ व्यापारिक सम्बन्धों में ऐसे दास व्यापार का उल्लेख प्राप्त होता है।

कतिपय इतिहासकारों द्वारा पूर्वमध्यकालीन भारत में दासों के कार्य को दासता की स्थिति में परिवर्तन प्रदर्शित करने का आधार बनाया गया है। उनके विचार में दासता का स्वरूप पूर्वमध्यकाल तक आते-आते घरेलू दासता में बदल चुका था। क्योंकि दासों से जो कार्य पूर्वकाल में लिये जाते थे। वे उत्पादन प्रक्रिया से सम्बन्धित थे जबकि पूर्वमध्यकाल में उनसे केवल घरेलू कार्य ही अधिक लिये जाते थे।[177] यह परिवर्तन इन विद्वानों की मान्यतानुसार दासता की निवर्तमान स्थिति का परिचायक है। दासों के कार्य तथा दासता की स्थिति में आने वाले ये पूर्वमध्यकालीन परिवर्तन इस युग के अन्य आधारिक परिवर्तनों के परिणाम माने गये हैं।[173] इन आधारिक परिवर्तनों की प्रक्रिया पूर्वमध्यकाल में सामन्तों के उदय के रूप में देखी जा सकती है। जमीन पर व्यक्तिगत रूप से सामन्तों का अधिकार हो जाने पर व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने की प्रथा का प्रचलन हो गया और इस युग में अधिकांश कृषकों को अर्धदासता का जीवन व्यतीत करना पड़ा।[174] अर्थात् इस युग में दासों का कृषि कार्य में नियोजन कृषक अर्धदासों के नियोजन की अपेक्षा लाभकारी नहीं रह गया। इसी आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि चूंकि दास इस युग में अर्थव्यवस्था के अंग नहीं रह गये थे और प्राचीनकाल की अर्थव्यवस्था दासों पर अधिकांशतया आधारित थी इसीलिये पूर्वमध्ययुग में दासता में ह्रास की स्थिति दिखायी पड़ती है।[175]

पूर्वमध्यकालीन साक्ष्यों से हजारों के संकेत केवल उनके घरेलू कार्यों में ही नियोजित नहीं माने जाते बल्कि उन्हें अशुभत्व की परिधि से बाहर निकालकर अन्य शुभ कार्यों में भी संलग्न देखा जा सकता है।[176]

दासों के कार्यों को लेकर कतिपय विद्वानों की यह मान्यता है कि मौर्यकाल के बाद दास केवल अशुभ कार्यों में ही लगाये जाते थे। शुभ कार्यों से उनका कोई सरोकार नहीं था।[177] इनके अनुसार यह सही है कि नारद ने दासों की 15 कोटियां गिनायी है लेकिन नारद तथा बृहस्पति दोनों ने ही यह स्पष्ट कर दिया है

कि दास केवल अपवित्र कार्य के लिये ही होते हैं।[178] इन अशुभ कार्यों में प्रवेश द्वार की सफाई करना, सड़क एवं राजमार्गों की सफाई करना, शौचालय की सफाई करना, मलमूत्र तथा मदिरा आदि को फेकना, मालिक की सेवा उसकी वासनात्मक तृप्ति करना आदि शामिल था।[179] इसके विपरीत जो दास उत्पादन कार्यों में लगाये जाते थे वे शुभ कार्य करने वाले दास माने जाते थे।[180] उपर्युक्त साक्ष्य के इस विवेचन में कुछ विसंगतियां हैं, जेसे एक तो यह है कि इन स्मृतिकारो ने शायद यह कहीं उल्लेख नहीं किया कि दासों को शुभ कार्यों में नियोजित ही नहीं किया जा सकता और न बाद के व्यवस्थाकारों ने ही ऐसी कोई व्यवस्था प्रदान की जिससे उपर्युक्त मान्यता की अभिपुष्टि हो रही हो दूसरे यह कि पूर्वमध्यकाल में हजारों की संख्या में दासों का उल्लेख मिलता है और वे सबके सब केवल घरेलू कार्यों में अशुभ कर्मों तक सीमित रह गये हो, ऐसा भी उपलब्ध प्रमाणों के आलोक में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस सम्बन्ध में इन विद्वानों ने एक तर्क और प्रस्तुत किया कि चूंकि पूर्वमध्यकालीन समाज में दासों का वर्ग संगठित हो रहा था।[181] और दास विद्रोह जो पूर्वकालीन साक्ष्यों में स्पष्ट है कि प्रबल सम्भावनायें उत्पन्न हो गयी थीं इसलिये दासों में वर्ग चेतना के आ जाने के कारण दासता में ह्रास की स्थिति आलोच्य संदर्भ में दिखायी पड़ती है।[182] इस सम्बन्ध में इन लोगों ने यह प्रमाण प्रस्तुत किया कि नारद ने स्थानीय विवादों में एक वर्ग विशेष के लोगों को जिन्हें वार्गिन कहा गया है; अपने अपने वर्गों के मामले में गवाही के लिये बुलाया जा सकता है।[182] कात्यायन के अनुसार जिनके लिये वर्गिन शब्द का प्रयोग होता है उनमें दासों के नायक भी शामिल है।[184] इस प्रकार दासों के संगठन मजबूत होने से दास प्रथा में और भी कमजोरी आयी होगी।[185] इन इतिहासकारों का उपर्युक्त तर्क इन्हीं के पूर्व तर्क के विपरीत ज्यादा है क्योंकि सामाजिक वर्ग चेतना से अनुप्राणित समाज के उच्च्व वर्गीय लोग विशुद्ध रूप से अशुभ कर्मों में लगे हुये दासों को न्यायालय में जाकर गवाही देने का विशेषाधिकार कभी न देते। यह विशेषाधिकार केवल उन्हीं दासों के लिये रहा होगा जो शुभ कार्यों में नियोजित थे। दासों का शुभ और अशुभ कर्मो के हिसाब से विभाजन शूद्रों के सत् और असत् विभाजन के अनुरूप

होता है। मुकदमों में दासों की गवाही की बात नारद और कात्यायन ही पहले पहल नहीं करते बल्कि उन्हें यह अधिकार मनु भी प्रदान करते हैं।[186] मनु की व्यवस्था के संदर्भ में देखने से नारद और कात्यायन की उक्तियों का एक ही अभिप्राय हो सकता है कि ये मुकदमें में गवाही देने के दासों के इस विशेषाधिकार को केवल शुभ कार्य तक ही सीमित करना चाहते थे जबकि दास को स्वामी के शरीर का प्रतिबिम्ब मानने वाले मनु[187] दासों के बीच शुभ और अशुभ जैसा कोई विभाजन नहीं करते है। दासों के बीच इन दो वर्गों का उदय उनकी स्थिति में सुधार और अवनति, दोनों ही प्रवृत्तियों को साथ-साथ उपस्थित करता है। स्पष्ट है कि दासों के सैनिक कार्यों[188] तथा राजकीय कार्यों में नियोजन[189] और उत्पादन में उनकी भूमिका[190] के कारण ही शुभ कार्य करने वाले दासों की कोटि का उदय हुआ होगा लेकिन दास तो वे फिर भी थे ही।

दासों के कार्यों को लेकर एक मान्यता यह व्यक्त की जाती है कि पूर्वमध्यकाल में आकर दास-दासियों की चर्चा कर्मकर एवं कर्मकरों के रूप में मिलने लगती है।[191] जिसकी पृष्ठभूमि सम्भावत: प्रथम सहस्त्राब्दी के मध्य के आस-पास मुख्यत: सामाजिक तथा आर्थिक तत्वों के कारण दासता में पतन की प्रवृत्ति के प्रबलतर होने में निहित दिखायी पड़ती है।[192] नारद के काल तक आते आते दासता से मुक्ति के विधानों के व्यापक रूप ले लेने से दासों को सम्भावत: बटाईदारों, पट्टेदारों तथा कृषि मजदूरों के रूप में एक खुला वातावरण मिला होगा और अत्याधिक पराश्रितता के बन्धन से बाहर आकर इन लोगों को साधारण किस्म की पराश्रितता में ही रहना पड़ता रहा होगा।[193] ऐसे इतिहासकारों की इस सम्बन्ध में यह सोच उस समय अत्यन्त विचारणीय हो जाती है जब वे दासों एवं कर्मकरों को एक धरातल पर ला खड़ा करने के प्रयास को पूर्वमध्यकालीन समाजार्थिक परिवर्तन की देन मानने लगते हैं और दासों की स्थिति में सुधार को दिखाकर एक तरफ तो दासता के पतन की बात इस अधीतकाल में करते हैं और दूसरी तरफ इसी युग में दासों को केवल घरेलू दासता तक सीमित करते हुये उनसे केवल अशुभ कर्मों को कराने की परस्पर विरोधी बातें करते दिखायी पड़ते हैं। इस सम्बन्ध में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि स्मृति चन्द्रिका मानवीय सम्बन्धों की तीन कोटियों का निरूपण करती है- दासत्व,

दारत्व एवं कर्मकरत्व।[194] स्मृतिकार ने दासत्व एवं कर्मकरत्व में पर्याप्त अन्तर दिखाया है। वैसे भी यदि दासों तथा कर्मकरों के पूर्वकालीन उल्लेखों को ध्यान से देखा जाय तो दासों तथा कर्मकरों, दोनों ही की दो-दो कोटियों के निदर्शन होते हैं। पूर्वकालीन समाजार्थिक इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ अर्थशास्त्र ऐसे प्रमाणों को सुरक्षित रखे हुये हैं जहां इनकी दोनों कोटियों के निदर्शन होते हैं।[195] कतिपय इतिहासकार कर्मकरों को उत्पादन के कार्य में लगाये गये वेतनभोगी श्रमिक मानते हैं।[196] कुछ विद्वान इन्हें अन्तेवासी की कोटि में रखते हैं तथा इन्हें राज्य द्वारा विविध प्रकार के कार्यों में लगाये गये वेतनभोगी श्रमिकों की तरह मानते हैं।[197] कुछ ऐसे इतिहासकार भी हैं जो इन्हें दासों की कोटि में रखते हैं।[198] इस प्रकार कोटिल्यीय अर्थशास्त्र में कर्मकरों के कई रूप दिखायी पड़ते हैं। तथ्यों के आलोक में यदि बात की जाय तो अर्थशास्त्र में दास और कर्मकर के उल्लेख प्रायः एक साथ ही हुये हैं पूर्वमध्यकालीन स्रोतों में दासों को कर्मकरों से जोड़ा गया है इसे कोई नवीन परिवर्तन का सूचक नहीं माना जाना चाहिये। दूसरी तरफ अर्थशास्त्र में ही दासों एवं कर्मकरों के कार्यों में यदि कुछ सीमा तक समानता मिलती है तो कई रूपों में दोनों के पृथक-पृथक कार्य भी मिलते हैं। यदि कौटिल्य एक ओर कर्मकरों को कभी-कभी धातु-विशेषज्ञ[199] करदाता[200] वेतनभोगी[201] आदि के रूप में चित्रित करता है तो दूसरी ओर वह कुछ कर्मकरों को घरेलू नौकरों की तरह ही भोजन, वस्त्र और विकृत मदिरा आदि पर ही आश्रित रखता है।[203] जहां तक इन उल्लेखों के आधार पर कर्मकरों की सामाजिक स्थिति का प्रश्न है, उन्हें न तो दासों की एक कोटि ही माना जा सकता है और न उसके ऊपर परतंत्रता का आरोप ही किया जा सकता है। यदि कर्मकर दासों की तरह परतंत्र होते तो करदाताओं में उनके उल्लेख का प्रश्न ही नहीं उठता और न कृषि कार्य में अक्षमता की स्थिति में कौटिल्य उन्हें राज्य की ओर से हल, बैल और बीज जैसी सहायतायें ही उपलब्ध कराता। उनका वेतनभोगी तथा धातुकर्मों में दक्ष शिल्पी होना भी उनकी वैयक्तिक स्वतंत्रता का परिचायक है जिसकी अभिपुष्टि कतिपय पालि ग्रन्थों से भी हो जाती है।[204]

इसी प्रकार दासों की स्थिति में विचारणीय है कि अर्थशास्त्र दासों को राज्य द्वारा विष्टि कर्मकरों एवं दण्ड प्रकृतियों के साथ कृषिकर्म में लगाने के अनेकशः

उल्लेख करता है।[205] किन्तु न तो व्यक्तिगत रूप से और न राजकीय रूप से अकेले दास श्रम का प्रयोग कृषि के लिये बड़े पैमाने पर होता हुआ दिखायी देता है। अतः जब तक दासों के साथ उल्लिखित अन्य प्रकार के श्रमिकों को भी दासों की विभिन्न कोटियां न मान ली जाँय, तब तक दासता को कृषिकर्म का प्रधान आधार नहीं बताया जा सकता। दूसरी तरफ घरेलू कार्यों में दासों के नियोजन को भी पर्याप्त प्रधानता दी गयी प्रतीत होती है।[206] यही नहीं, दासों की एक ऐसी विशिष्ट कोटि की भी झलक मिलती है जो कर्मकरों की तरह भोजन, वस्त्र और विकृत मदिरा पर रखे गये थे और उनसे केवल घरेलू कार्य तथा अशुभ कर्म ही कराये जाते थे।[207] सामान्य दासों की कोटि इनसे पृथक दिखायी पड़ती है। इसलिये जब तक कि दासों एवं कर्मकरों की दो कोटियां नहीं मानी जाती, दासों एवं कर्मकरों के साथ-साथ उल्लेखों से पूर्वकालीन समाज में भी वैसी ही भ्रान्तियां व्याप्त हो जायेगी जैसी कि इन इतिहासकारों को पूर्वमध्यकालीन संदर्भों में हुई है जबकि पूर्वमध्यकालीन संदर्भ में भी वस्तुतः पूर्वकालीन स्थिति का निदर्शन ही होता है जो निम्न उदाहरणों से और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

पूर्वमध्यकालीन साहित्यिक तथा अभिलेखीय साक्ष्यों से दास दासियों के नियोजन के जो उल्लेख मिलते हैं उनमें यदि दासों का नियोजन बर्तन साफ करना, जूठन फेकना, मलमूत्र फेंकना, विकृत मदिरा हटाना, शौचालय साफ करना, सड़क साफ करना, मालिक को स्नान करने में मदद करना, सम्भोग के लिये स्वयं को प्रस्तुत करना आदि हो तो साथ ही साथ अन्तःपुर की व्यवस्था, पान खिलाना, चँवर डुलाना, पानी लाना, भोजन बनाना सब्जी काटना, दूध दुहना आदि भी उनका कार्य था। इन घरेलू कार्यों के अतिरिक्त कुछ इतर घरेलू कार्य भी थे जिनमें दास दासियों के नियोजन की बात दिखायी पड़ती है जैसे संदेशवाहिकी, रक्षिका, सेनापतित्व, कवियत्री, पूजा पाठ, दान एवं करुणा के कतिपय अन्य कार्य सम्मिलित थे। इसी प्रकार उत्पादन कार्यों में उनके उल्लेखों को देखा जा सकता है जिसमें कृषि कार्य, भार ढोना, चारा काटना, निकाई, कटाई मड़ाई करने के साथ-साथ दास व्यापार के माध्यम से राजकीय राजस्व में अभिवृद्धि करना आदि की चर्चा मिलती है। अतएव इनके कार्यों के उल्लेखों के आधार पर इनके अशुभ एवं शुभ कर्मों की उपर्युक्त पृष्ठभूमि के अतिरिक्त निम्न

वर्गीकरण के माध्यम से भी इनकी सामाजिक हैसियत का अन्दाजा लगाया जा सकता है। इसको अध्ययन की सुविधा की पुष्टि से हमने निम्नलिखित तीन वर्गों में विभक्त किया है-

1. घरेलू कार्यों में नियोजन।
2. इतर घरेलू कार्यों में नियोजन।
3. उत्पादन कार्यों में नियोजन।

१) घरेलू कार्यों में नियोजन-

विशुद्ध रूप से घरेलू कार्यों में रसोई घर से सम्बन्धित समस्त कर्म, मालिक की सेवा से सम्बन्धित कार्य तथा दूध आदि दुहने तथा बाजार से खरीददारी करने जैसे कार्य आते हैं। पूर्वमध्यकालीन साक्ष्यों के सूक्ष्म अध्ययन से यह ज्ञात होता है इस युग में दासियों से भोजन बनाने,[208] सब्जी काटने,[209] गाय, भैंस, बकरी, आदि दुहने,[210] दाल दलने,[211] मसाला पीसने,[212] गोबर से घर की लिपाई करने,[213] पानी भरने,[214] अतिथियों को खाना परोसने,[215] मालिक का बिस्तर लगाने,[216] पान खिलाने,[217] वेश्याओं का कार्य करने, आभूषण पहिनने में, मालिक मालकिन की मदद करने,[219] वस्त्रादि पहनाने,[220] कतिपय वर्जित सामानों की खरीददारी करने[221] के साथ प्रवेश द्वार व शौचालय की सफाई करने, उच्छिष्ट भोजन, विकृत मदिरा तथा मलमूत्र बाहर फेंकने,[222] सम्भोग सुख प्रदान करने[223] तथा डोली उठाने[224] जैसे कार्यों को सम्पन्न कराया जाता था। निश्चित रूप से इन कार्यों में शुभ एवं अशुभ दोनों ही कर्म सम्मिलित है लेकिन आनुपातिक दृष्टि से अशुभ कर्मो की संख्या उपर्युक्त तालिका में अधिक नहीं दिखायी पड़ती है। दास दासियों के उपर्युक्त वर्णन पूर्वमध्यकालीन ऐतिहासिक स्रोतों में मिलते हैं लेकिन पूर्वकालीन भारतीय समाज में भी दास दासियों से प्रायः ऐसे ही कार्य लिये जाते थे।

पूर्वमध्यकालीन साहित्यिक साक्ष्यों में दास दासियों के उपुर्यक्त नियोजन से सम्बन्धित कतिपय रोचक प्रसंग प्राप्त होते हैं। यदि शुक्राचार्य पत्नी को दासी के रूप में[225] चित्रित करने में संकोच का अनुभव नहीं करते तो सोमदेव भट्ट राजा को दासी के प्रेम में आसक्त दिखाता है।[226] वासुदेव हिण्डी में दासियाँ यदि मालिक

को कामोददीप्ति करती हुई प्रतीत होती है।[227] तो हेमचन्द्र तथा सोमदेव सूरि ने अपनी कृतियों में दासियों से सम्भोग एवं स्वच्छन्द आनन्द की प्राप्ति करते हुये मालिकों को चित्रित किया है।[228] बिल्हण ने यदि एक ओर दासी को राजा के साथ खेल खेलते हुये दिखाया है तो त्रिशष्ठि श्लाका पुरुषचरित दासियों से वेश्यावृत्ति कराकर धन कमाने को निन्दनीय बताते हुये इसे प्रतिबन्धित करने की बात करता है। कल्हण एवं हेमचन्द्र यदि दासी से पानी ढुलवाने का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं तो धरणि जाट दासी से पुत्र प्राप्त करते हुये गुणभद्र द्वारा दिखाया गया है। राजशेखर यदि दासी से मालिक का बिस्तर लगाने का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं तो सोमदेव भट्ट नल को अपनी दासी से जुआं खेलने में आनन्दातिरेक की अनुभूति प्राप्त करते हुये चित्रित करता है।[229] यदि नारद उनसे अशुभ कर्मो को करवाने की बात करते हुये पाये जाते है तो मेघातिथि, कल्लुक, अपराजितपृच्छा, स्मृतिचन्द्रिका, मिताक्षरा, दायभाग, अग्निपुराण आदि में दास दासियों के कतिपय अधिकारों की चर्चा भी मिलती है तथा ऐसे नियमों की व्यवस्था मिलती है। जिनके अतिक्रमण पर दण्ड की व्यवस्था निर्धारित थी। दासता से मुक्ति की अनेक सैद्धान्तिक व्यवस्थायें इस युग में विद्यमान थीं।

२) इतर घरेलू कार्यों में दास दासियों का नियोजन-

दासों के उपुर्यक्त घरेलू कार्यो में नियोजन के अतिरिक्त पूर्वमध्यकालीन स्रोतों में अनेक ऐसे विवरण मिलते हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि इस युग में दासों से केवल घरेलू कार्य ही नहीं लिये जाते थे; बल्कि अनेक अन्य कार्यों तथा धार्मिक गतिविधियों के सम्पादन में भी इनकी भूमिका होती थी कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे कार्यो में दान से लेकर[230] सेनापतित्व तक के कार्य[231] सम्मिलित थे, जिसमें संदेशवाहक, गुप्तचर, रक्षक, एवं कतिपय लोक-कल्याण के कार्य, शामिल थे।[232] राजकीय कार्यो में इनकी नियुक्ति शुभ एवं अशुभ दोनों कार्यों के लिये की जाती रही होगी। यथा दासों द्वारा राजमार्गो की सफाई यदि एक ओर राजकीय कार्यों का अशुभ कर्म था तो दासों को भाला, बरछी तथा तलवार के साथ रखवाली जैसा अति-महत्वपूर्ण कार्य सौंपना किसी भी तरह से अशुभ कर्म की कोटि में नहीं आ सकता। यदि दास मालिक की अनुपस्थिति में नीलामी जैसे कार्य तथा मालिक के

मुकदमों में गवाही देने का कार्य कर रहा हो तो उसे कैसे अशुभत्व का प्रतीक माना जा सकता है। एक ओर विमलसूरि[233] ने जैन मन्दिरों में दासियों का प्रमाण प्रस्तुत किया है तो दूसरी ओर कल्हण मन्दिर में नृत्य हेतु अन्त:पुर की 100 दासियों को संलग्न दिखाता है।[234] यही नहीं, कथासारित्सागर बौद्ध संघों में दास दासियों के प्रमाण प्रस्तुत करता है।[235] त्रिशाष्ठिश्लाका पुरुषचरित यदि कुबड़ी दासी को मन्दिर में पूजापाठ करते हुये दिखाता है।[236] तो कथासारितासागर में दासों को मानवीय करुणा के अत्यन्त उदात्त कृत्यों को दासों द्वारा सम्पन्न करते हुये भी दिखाया गया है।[237] यदि कर्पूर मंजरी विचक्षणा दासी की विद्वता के कारण उसे पृथ्वी पर देवी से तुलना करके महिमामण्डित करती है।[238] तो त्रिशाष्ठिश्लाका पुरुषचरित में एक ऐसी कथा मिलती है जिसमें दासी स्वयं को अधिक कीमत में बेचकर अपने गरीब प्रेमी को पढ़ाई के लिये पैसा देती है।[239] कभी-कभी दास-दासी अपने मकान अलग बनाकर रखते थे और अपने मालिक की सेवा से भी बंधे रहते थे। सोमदेवभट्ट एक ऐसी दासी की चर्चा करता है जो माधव ब्राह्मण के यहां रहती थी और वह अत्यन्त सभ्य एवं सुसंस्कृत थी। उसने एक अत्यन्त उच्च स्तर के किराये के श्रमिक देवदास, जो किसी समृद्ध व्यापारी के यहां नौकरी करता था, से विवाह कर लिया और दोनों अलग मकान बनाकर रहने लगे साथ ही अपने-अपने मालिकों के यहां अपने कार्य सम्पादित करने भी जाते थे। दासी इतनी दयालु थी कि पति की जान की कीमत पर उसने एक बार भूखे अतिथि को खाना खिला दिया। उसके बाद उसके पति की भी भूख के कारण मृत्यु हो गयी जिसके साथ वह भी सती हो गयी।[240] हेमचन्द्र एक ऐसे दास की चर्चा करता है जो एक ब्राह्मण द्वारा सम्पादित की जाने वाली यज्ञ में इस शर्त पर कार्य करने के लिये तैयार होता है कि वह यज्ञ में सभी छूटी हुई सामग्री को लेगा। इस प्रकार उस दास ने जो भी भोजन यज्ञ में प्राप्त किया उसे सारा का सारा बौद्ध भिक्षुओं में बांट दिया। इस पुनीत कार्य के परिणामस्वरूप वह दुबारा पहले एक देवता के रूप में स्वर्ग में पैदा हुआ। तत्पश्चात पृथ्वी पर राजा श्रेणिक के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। हेमचन्द्र के इस विवरण से ज्ञात होता है कि वह दास, जिसे केवल अशुभ कर्मों में ही लगाने की बात की जा रही हो, ऐसे महान कार्य भी करता था।[241] मानसोल्लास दासों को वेतन, दान एवं

उपहार आदि देने की बात भी करता है। जो उपर्युक्त परिस्थितियों में एक और महत्वपूर्ण कड़ी जोड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दास दासियों को घरेलू कार्यों की शुभत्व एवं अशुभत्व की सीमा से परे इतर घरेलू कार्यों में भी नियोजित किया जाता था। जिसमें अशुभ कर्म शायद अपवाद स्वरूप ही आता रहा होगा।

3) उत्पादन कार्यों में दास दासियों का नियोजन-

अधीतकाल में दास दासियों को उत्पादन के कार्यों में नियोजित करने के प्रमाण अपवाद स्वरूप नहीं हैं। इस सम्बन्ध में कतिपय इतिहासकारों की यह मान्यता है कि अकेले लेख पद्धति ही दासों को कृषि में नियोजित करने की बात करती है। लेकिन यदि पूर्वमध्यकाल के उपलब्ध अन्य स्रोतों में ये तथ्य ढूंढे जाय तो लिखनावली,[242] मानसोल्लास,[243] वृहत्संहिता,[244] त्रिशाष्ठिश्लाकापुरुषचरित[245] जैसे कतिपय साहित्यिक साक्ष्य दासों को उत्पादन कार्य में संलग्न बताते हैं। कतिपय अभिलेखीय साक्ष्यो में भी दासों के उत्पादन कार्य से जुड़े होने के प्रमाण मिल जाते हैं।[246] जहां पर दास व्यापार का जिक्र मिलता है। निश्चित रूप से दास व्यापार से होने वाली आय राजकीय स्रोत का महत्वपूर्ण कारक भी रही होगी।[247] लेख पद्धति[248] में दासों द्वारा निकाई,[249] कटाई तथा मड़ाई के अतिरिक्त जानवरों के चारे की व्यवस्था, खेत खलिहानों में काम करना, कृषकों को खेत में दूध, घी तथा मट्ठा पहुंचाना और हल चलाने आदि के प्रमाण मिलते हैं। यहां पर यह उल्लेखनीय है कि जब वैश्यों तक से हल चलवाने का कार्य पूर्वमध्यकालीन भारत में लिया जाता था तो दास उससे कैसे वंचित रहा होगा लिखनावली के आधार पर शूद्रदासों की व्यापकता तथा कृषि कार्यों में दास श्रम के लगाये जाने की बात कतिपय विद्वानों[250] ने स्वीकार की है जिसमें दास दासियों को कृषि कार्य में नियोजित करने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। त्रिशाष्ठिश्लाका पुरुषचरित में दासों को अत्याधिक वजन वाला समान ढोता हुआ दिखाया गया है।[251] जो निश्चित रूप से कृषि अथवा व्यापारिक माल से सम्बन्धित रहा होगा। मानसोल्लास बृहत्संहिता तथा वृहज्जातक में दासों की चर्चा नौकरों, प्रेष्यों तथा कर्मकरों के साथ मिलती है जिससे दासों के उत्पादन सम्बन्धी कार्यों में नियोजन से इन्कार नहीं किया जा सकता। यहीं पर यह भी उल्लेखनीय है कि इस युग में यद्यपि दासता से मुक्ति के अनेक विधान बनाये गये थे लेकिन वे सम्भवतः सैद्धान्तिक आदर्शों की परिधि से बहुत

कम ही निकल पाये और व्यावहारिक धरातल पर दासों को दासवृत्ति में रहकर मालिक के शोषण को बर्दाश्त करना पड़ता रहा होगा जिसमें शारीरिक शोषण से लेकर उनकी शक्ति संदोहन तक के सारे कार्य सम्मिलित थे।

दासों के कृषि कार्य में नियोजन के अतिरिक्त व्यापारिक गतिविधियों के बढ़ावा देने में भी देखा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वमध्यकाल तक आते-आते दास व्यापार एक व्यवस्थित आकार ग्रहण कर चुका था, तभी कभी तो अन्तःक्षेत्रीय दासी मण्डी, नगर के चौराहों पर दासों की नीलामी, दासों का आयात-निर्यात एवं बसरा तथा बगदाद की तर्ज पर भारतीय दास बाज़ारों का बनना पूर्वमध्यकालीन भारतीय व्यापार की एक विशिष्ट पहिचान थी।[252] अरब व्यापारियों ने यहां से भरपूर दास व्यापार किया और दासों को विनिमय का एक साधन भी बना लिया। इस दासों के व्यापार से होने वाली आय राजकीय राजस्व में अभिवृद्धि का भी एक कारक बनी होगी। व्यापारिक स्तर पर दासों के क्रय-विक्रय के ऐसे केन्द्रों एवं बाजारों के उदय के साथ-साथ दासता के उपभोगपरक नवीन आयाम भी विकसित हुये और दासों को पूर्वमध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में एक उपयोगी वस्तु माना जाने लगा जिनको बिना किसी हिचकिचाहट के इधर से उधर ऊँची-नीची कीमत पर बेजा जा सकता था। इस प्रकार दास पूर्वमध्यकालीन अर्थव्यवस्था के एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में प्रतिष्ठित हो गये होगें लेकिन इससे ऐसा अनुमान या निष्कर्ष निकालना भी गलत होगा कि दासता के इस नवीन आयाम के अस्तित्वमान हो जाने के कारण प्राचीन प्रतिमान लुप्त हो गये। वस्तुतः इस नवीन आयाम के साथ दासता के प्राचीन आयाम भी चलते रहे। उत्पादन कार्यो में दासों के नियोजन में इस युग में किसी आपेक्षिक गिरावट के प्रमाण नहीं मिलते क्योंकि इतनी मात्रा में दासों की उपलब्धता केवल घरेलू कार्यो में ही उनके समायोजन से सम्भव नहीं थी और सभी दासों की चाहत रखने वाले व्यापारी ऐसे उपभोगपरक महंगे दासों को खरीदने में केवल घरेलू कार्यों के लिये समर्थ भी न रहे होगें। इसीलिये उत्पादन कार्यो में उनकी पहले की भूमिका की तुलना में कोई विशेष अन्तर न आया होगा। एक प्रबल सम्भावना यह भी है कि दासों का उत्पादन कार्यो में नियोजन और कहीं

अधिक होता रहा हो लेकिन स्पष्ट विवरण के अभाव में वास्तविक स्थिति का संज्ञान न हो पा रहा हो क्योंकि पूर्वमध्यकालीन ऐतिहासिक स्रोत भण्डार के पास अर्थशास्त्र जैसा कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इस काल में तो धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का सृजन हुआ जिसमें अदृष्टार्थक प्रयोग ही ज्यादा मिलता है। यदि अर्थशास्त्र जैसा कोई ग्रन्थ इस युग में लिखा गया होता तो शायद दासों के इन कार्यों में नियोजन की बात और अधिक स्पष्ट रूप से मिल जाती। इस प्रकार इनके कार्यों के आधार पर दासता के ह्रास की बात नितान्त असंगत प्रतीत होती है। साथ ही यह निष्कर्ष निकालना कि दास केवल अशुभ कर्मों के लिये होते थे, साक्ष्य सम्मत नहीं प्रतीत होता। अतएव कार्यों के आधार पर भी उनके स्वरूप में ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति की बात नहीं की जा सकी। संख्यात्मक दृष्टि से तो ह्रास की बात करना नितान्त असंगत है ही।

-: 0 :-

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. शर्मा, रामशरण : पूर्वमध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन, दिल्ली 1975, पृ0 15 ।

2. अल्टेकर, ए0 एस0 द राष्ट्रकूटाज एण्ड देअर टाइम्स, पूना, 1939, पृ0 332-334

3. धुर्ये, जी0 एस0, कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, न्यूयार्क 1950, पृ0 57, 64, 96, 98 ।

4. शर्मा, रामशरण, शद्राज इन ऐशियन्ट इण्डिया, द्वितीय संस्करण, वाराणसी 1980, पृ0 68 ।

5. मिश्र, जयशंकर : ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी, 1968, पृ0 117

6. शर्मा, रामशरण, पूर्वो0, पृ0 15-16 ।

7. मेघातिथि और विश्वरूप, मनु0 3-67, 121, 156, 10-127 ।

8. मेघातिथि, मनु0 8-415 ।

9. मिश्र, जयशंकर : पूर्वो0 ।

10. वही।

11. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये-

    यादव, बी0 एन0 एस0, द एकाउन्ट्स ऑफ द कलि एज एण्ड द सोशल ट्रान्जीशन प्रगम एन्टीक्विटी टू द मिडिल ऐजज, द इण्डियन हिस्ट्रोरिकल रिव्यू, 1979. ।

12. सचाऊ, एडवर्ड, अलबेरुनीज इण्डिया, जिल्द-2, लंदन 1910, पृ0 1361

13. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

14. वही।

15. अर्थशास्त्र, 3.7 ।

16. झा एवं श्रीमाली : प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली 1981, पृ0 375

17. वही।

18. शर्मा, रामशरण : प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पटना 1992, पृ0 159 ।

19. बौधायन धर्मसूत्र, 2.2.80 ।

20. मनुस्मृति, 10.48 ।

21. मेघातिथि, मनु0, 10.98 ।

22. कुल्लूक, मनु0 10.98 ।

23. गौतम धर्मसूत्र, 726 ।

24. मिश्र, जयशंकर ग्यारहवीं सदी का भारत : वाराणसी, 1968, पृ0 117

25. बौधायन धर्मसूत्र, 1.5.101 ।

26. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये-

    शर्मा, रामशरण, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, दिल्ली, 1978 में 'मौर्यकालीन राज्य नियंत्रण नामक अध्याय।

27. वही।

28. शर्मा, आर0 एस0, पूर्वो0।

29. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये-

    ''फोर्स्ड लेबर इन ऐशियन्ट एण्ड अर्ली मेडीवल इण्डिया' द इण्डियन हिस्ट्रोरिकल रिव्यू, जिल्द 3, 1976. ।

30. वही।

31. द्विवेदी, लवकुश, स्लेबरी इन ऐशियन्ट इण्डिया अप्रकाशित शोध प्रबन्ध का अध्याय-3. ।

32. वही।

33. वही।

34. वही।

35. आर0 एस0 शर्मा ने एक स्थल पर यह दिखाया है कि मौर्यकाल में शूद्र वे समस्त कार्य करते थे जो यूनान में दास किया करते थे लेकिन सभी शूद्र दास नहीं थे। यह अन्तर्विरोधी कथन उनकी मानसिकता को उजागर करता है। विस्तृत विवरण के लिये देखिये- शर्मा, आर0 एस0 पूर्वो0।

36. राय, जी0 के0 पूर्वो0 ।

37. द्विवेदी, लवकुश, पूर्वो0 ।

38. यादव, बी0 एन0 एस0 सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया इन द ट्वेल्थ सेंचुरी ए0 डी0, पृ0 39 ।

39. वही।

40. वही।

41. वही।

42. अमरकोश, द्वारा उद्धत, यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

43. वही।

44. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

45. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

46. मेघातिथि, मनु पर टीका, जिल्द-6, पृ0 97 ।

47. शर्मा, बी0 एन0 सोशल लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया, दिल्ली 1966, पृ0 53

48. लघु विष्णु स्मृति, 59 ।

49. अत्रिसंहिता, 19 ।

50. सचाऊ, जिल्द-2, पृ0 162 ।

51. द्वारा उद्धत- यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

52. वही, पृ0 54 ।

53. शुक्रनीतिसार 2, पृ0 421 ।

54. द्वारा उद्धत- यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0, पृ0 43 ।

55. वही।

56. वही।

57. मंजुश्रीमूलकल्प, 45, 883, द्वारा उद्धत, जयसवाल, के0 पी0, इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ इडिया, पृ0 72 ।

58. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

59. मेघातिथि, 4.84 ।

60. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0, पृ0 43 ।

61. शर्मा, बी0 एन0, पूर्वो0, पृ0 54 ।

62. वही।

63. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0, पृ0 376 ।

64. वही।

65. वही।

66. वही।

67. वही।

68. द्वारा उद्धत- झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 ।

69. वही।

70. वही।

71. वही।

72. नारद पर असहाय की टीका, द्वारा उद्धत- झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 ।

73. द्वारा उद्धत- झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 ।

74. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये-

यादव, बी0 एन0 एस0, 'इम्मोबिलिटी एण्ड सब्जेक्शन ऑफ इण्डियन पीजेन्ट्री इन अर्ली मेडीवल काम्पलेक्स द इण्डियन हिस्ट्रोरिकल रिव्यू, जिल्द 1, 1974

75. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये-

राज, भारती, प्राचीन भारत में सामाजिक गतिशीलता, इलाहाबाद, 198

76. मनु पर मेघातिथि की टीका, द्वारा उद्धत झा एवं श्रीमाली पूर्वो0 ।

77. तुलनीय- झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0, पृ0 378 ।

78. लेखपद्धति, द्वारा उद्धत झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0।

79. वही।

80. वही।

81. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 ।

82. दृष्टव्य- यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

83. वही।

84. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0, पृ0 379 ।

85. वही।

86. बी0 एन0 एस0 यादव ने शूद्रों की योग्यताओं व अयोग्यताओं की चर्चा करते हुये मेघातिथि तथा वृहद्धर्भपुराण का साक्ष्य प्रस्तुत किया है जहां उनके अधि ाकारों की विस्तार से चर्चा की गयी है। विस्तृत विवरण के लिये देखिये- यादव पूर्वो0 पृ0 44 ।

87. मेघातिथि, 3.156 ।

88. हाजरा, आर0 सी0, स्टडीज इन द उप पुराणाज, जिल्द 2 कलकत्ता संस्कृत सीरीज, पृ0 446 ।

89. वही।

90. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 ।

91. काणे, पी0 वी0 धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, वर्ण नामक अध्याय।

92. वही, पृ0 122 ।

93. देखिये- द्विवेदी, लवकुश, (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) अध्याय 3, पृष्ठ, 64

94. अर्थशास्त्र, 3.13 ।

95. वही।

96. वही।

97. द्विवेदी, लवकुश पूर्वो0 ।

98. अर्थशास्त्र, 2.24, 1-3

99. द्विवेदी लवकुश पूर्वो0 ।

100. वही, 2.24, 102-13, 2.25, 2.27 ।

101. वही।

102. देखिये-

103. अर्थशास्त्र, 2.11 ।

104. वही।

105. वही 8.412 ।

106. वही, 8.413 ।

107. वही, 4.185 ।

108. वही, 8.414 ।

109. वही, 8.70 ।

110. वही, 8.167 ।

111. वही।

112. वही, 8.199 ।

113. वही, 8.414 ।

114. वही, 8.412 ।

115. याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय: श्लोक 157-158 ।

116. वही, श्लोक 166 ।

117. वही, श्लोक 240 पर मिताक्षरा टीका।

118. वही, श्लोक 183 ।

119. वही।

120. वही, श्लोक 182 ।

121. नारद स्मृति, 5.26-28 ।

122. द्वारा उद्धृत- चानना, डी0 आर0, स्लेवरी इन ऐनशियन्ट इण्डिया दिल्ली, 1960, पृ0 115 ।

123. वही।

124. द्वारा उद्धृत- काणे, पी0 वी0, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, लखनऊ, 1980, पृ0 174 ।

125. मनु0, 8.412-413 ।

126. स्मृति चन्द्रिका, देवण्णभट्ट, सम्पादक एल0 श्री निवासाचार्य द्वितीय भाग, मैसूर, 1916 तृतीय खण्ड, व्यवहारकाण्ड, पृ0 460-469 ।

127. वही, पृ0 461-462 ।

128. वही, पृ0 463-468 ।

129. वही।

130. विक आन्द्रे पूर्वो0 पृ0 30-34 ।

131. द्विवेदी लवकुश, 'पूर्वमध्यकालीन भारत में दासी, 'प्रोसीडिंग्स, ऑफ द पोजीशन एण्ड स्टेट्स ऑफ वीमेन इन ऐशियन्ट इण्डिया, जिल्द 1, वाराणसी, 1988, पृ0 300 ।

132. एण्डमण्ड रफिन ने युद्ध को दासों की आपूर्ति एवं प्राचीनतम स्रोत के रूप में चित्रित किया है। देखिये- रफिन, एण्डमण्ड, 'द पोलिटिकल इकॉनामी का स्लेवरी, नामक लेख जो कोलम्बिया विश्वविद्यालय के ई0 एल0 मैक्ट्रिक की पुस्तक स्लेवरी डिफेन्डेड द ट्यूज ऑफ द ओल्ड साउथ 1963 के पृ0 69-88 पर प्रकाशित है।

133. द न्यू इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, जिल्द 16, यू0 एस0 ए0, 1977, पृ0 854

134. द्विवेदी, लवकुश, 'पूर्वमध्यकालीन भारत में युद्ध दासता 'बुन्देलखण्ड के विशिष्ट संदर्भ में' अप्रकाशित शोध लेख, इसे बुन्देलखण्ड का इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व नामक संगोष्ठी, पं0 जे0 एन0 कालेज, बांदा, 1989 में प्रस्तुत किया गया था।

135. द्वारा उद्धत- डांगे, एस0 ए0 भारत- आदिम साम्यवाद से दास व्यवस्था तक का इतिहास, अनुवादक आदित्य मिश्र, दिल्ली, 1979, पृ0 98 ।

136. ऋग्वेद, 5.34, 6.22.101 पी0 वी0 काणे ने युद्धबन्दियों को दास माना है। देखिये- काणे, पी0 वी0, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द 2, भाग-1, पृ0 181-183

137. द न्यू इनसाक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पूर्वो0 ।

138. वही।

139. जैन, पी0 सी0, सोसियो- इकॉनोमिक एक्स्प्लोरेशन ऑफ मैडीवल इण्डिया फ्राम 800 टू 1300 ए0 डी0 दिल्ली, 1976, पृ0 260 ।

140. बुद्ध प्रकाश, ऑस्पेक्ट्स ऑफ मार्डन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, आगरा 1965, पृ0 105 ।

141. वही, पृ0 101 ।

142. इलियट एण्ड डाउसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, जिल्द-2, पृ0 230-231 ।

143. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

144. देखिये- मनुस्मृति, 8.4 तथा 8.15 पर मेघातिथि की टीका इसी को आधार बनाकर यह व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

145. विस्तृत विवरण के लिये देखिये- द्विवेदी, लवकुश का पूर्वोद्धत लेख।

146. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

147. द्विवेदी लवकुश, पूर्वो0 ।

148. वही।

149. वही।

150. विस्तृत विवरण के लिये देखिये- सचाऊ, ई0 अलबेरुनीज़ इण्डिया, जिल्द-2, अध्याय 71, बम्बई, 1964, पृ0 163 ।

151. वही।

152. स्मिथ, बी0 ए0, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड, 1957, पृ0 301

153. वही, पृष्ठ, 409 ।

154. इस सम्बन्ध में पी0 सी0 जैन ने दासों को अनियंत्रित संख्या को लेखपद्धति के 'अमुक' शब्द के उल्लेख के सहारे पुष्ट करने की कोशिश की है। पी0 सी0 जैन की मान्यता है कि इतने अधिक दास हुआ करते थे कि लेखाकार के लिये यह सम्भव नहीं था कि वह सारे दासों का नाम अंकित कर सके। इसीलिये उसने लेख पद्धति में 'अमुक' शब्द का प्रयोग करके इस कठिनाई से मुक्ति प्राप्त कर ली होगी। देखिये- जैन, पी0 सी0 पूर्वो0 पृ0 261

155. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये- द्विवेदी लवकुश का अप्रकाशित शोध प्रबन्ध अध्याय-3 ।

156. विन्क, आन्द्रे, पूर्वो0 पृ0 32 ।

157. वही।

158. वही, पृ0 7-24 ।

159. लेखपद्धति, सम्पादक- चिमनलाल डी0 दयाल एवं गजानन के0 श्री गोण्डेकर, बड़ौदा सेन्ट्रल लाइब्रेरी, 1925, पृ0 44-47 लेखपद्धति चतुष्पथ एवं पच्चमुखनगरो का इस संदर्भ में उल्लेख करती है जहां पर दासों को लाकर बेचा जाता था।

160. द्वारा उद्धत- शुक्ल, डी0 एन0, उत्तर भारत की राजस्व व्यवस्था, इलाहाबाद, 1984, पृ0 148 ।

161. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

162. वही।

163. लेखपद्धति, पूर्वो0 ।

164. गोपाल, लल्जन जी, द इकॉनोमिक लाइफ ऑफ नार्दन इडिया, दिल्ली, 1965, पृ0 71-72 ।

165. अर्थशास्त्र, 3.13 ।

166. मनुस्मृति, 8.415 ।

167. नारदस्मृति, 5.24-26 ।

168. हर्षचरित में बाणभट्ट ने पत्रलेखा को एक दासी के रूप में चित्रित किया है। विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य अग्रवाल, वासुदेवशरण, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, 1953. ।

169. गोडवहो, 697, पृ0 191 ।

170. पउमचरिय, 5.82.9 ।

171. मानसोल्लास, 28, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा, भाग-2, 6.560-61, पृ0 80 ।

172. शर्मा, आर0 एस0 शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ0 224 तथा यादव, बी0 एन0 एस0, 'द प्राब्लम ऑफ द इमर्जेन्स ऑफ फ्यूडल रिलेशन्स इन अर्ली इडिया, अध्यक्षीय सम्भाषण, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, बम्बई, सत्र, 1980, पृ0 20-24.

173. वही।

174. वही।

175. विस्तृत विवरण के लिये देखिये- यादव, बी0 एन0 एस0, 'कलियुग के वर्णन और समाज का प्राचीन काल से मध्यकाल में संक्रमण, इतिहास अंक 1, पृ0 66-99 तथा शर्मा, आर0 एस0 भारतीय सामन्तवाद, दिल्ली, 1973, पृ0 270-81

176. शर्मा, आर0 एस0, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ0 224 ।

177. वही।

178. वही।

179. वही।

180. वही, पृ0 225 ।

181. वही।

182. नारद, धर्मकोश, 1, भाग-1, पृ0 299 ।

183. कात्यायन, 350 इसके पहले ही मनु ने दास वर्ग की चर्चा कर दी है। देखिये मनु 4/185 ।

184. शर्मा, आर0 एस0 पूर्वो0 ।

185. मनु0 , 4.185 ।

186. कर्पूर मंजरी, 4, 174 ।

187. विक्रमांकदेव चरित, भाग-2, 9.87, पृ0 113 ।

188. लेखपद्धति पूर्वो0/ इसके अतिरिक्त लिखनावली से कृषि कार्य में नियोजन का प्रमाण मिलता है। विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य- नेगी, जे0 एस0 समलाइट

ऑन द इन्स्टीट्यूशन्स ऑफ स्लेवरी फ्राम द लिखनावली ऑफ विद्यापति, के० सी० चट्टोपाध्याय मेमोरियल वाल्यूम, इलाहाबाद, 1975, पृ० 95 ।

189. यादव, बी० एन० एस०, पूर्वो० पृ० 70 ।

190. वही, पृ० 69 ।

191. वही।

192. स्मृति चन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पूर्वो० ।

193. द्विवेदी, लवकुश, 'कौटिल्य अर्थशास्त्र में दास, कर्मकार, विष्टि और शूद्र, जर्नल ऑफ गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृति विद्यापीठ, जिल्द-41, जनवरी दिसम्बर, भाग-1-4, 1985, इलाहाबाद, 1988, पृ० 10 ।

194. चानना, डी० आर० पूर्वो०, पृ० 129-30 ।

195. सरन, के० एम० लेबर इन ऐन्शियन्ट इण्डिया, बम्बई, 1959, पृ० 60-62

196. शर्मा, आर० एस०, पूर्वो० ।

197. द्विवेदी, लवकुश, पूर्वो० ।

198. जैन, पी० सी० लेबर इन ऐशियन्ट इण्डिया, दिल्ली, 1971 पृ० 230 ।

199. अर्थशास्त्र 2.25 ।

200. वही, 2.24

201. वही, 2.25 आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2.4.9.10 दासों एवं कर्मकरों का एक साथ चित्रित करता है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि दोनों एक थे।

202. द्वारा उद्धत- चानना, डी० आर० पूर्वो०, पृ० 129-32 ।

203. द्वारा उद्धत- कांगले, आर० पी० कौटिल्य अर्थशास्त्र भाग-3, ए स्टडी, बम्बई, 1965, पृ० 170 ।

204. अर्थशास्त्र, 2.25 ।

205. वही।

206. लेखपद्धति, पृ0 45 ।

207. वही।

208. वही।

209. वही।

210 वही।

211. वही।

212. वही।

213. वासुदेव हिण्डी द्वारा उद्धत जैन जे0 सी0 पूर्वो0 पृ0 156 ।

214. कथासारित्सागर, 108.50, पृ0 511 ।

215. कर्पूरमंजरी, 4, पृ0 164. ।

216. त्रिशाष्ठिश्लाका पुरुषचरित, 9.252, पृ0 172 ।

217. यशास्तिलकचम्पू, 3.207, पृ0 298 ।

218. त्रिशाष्ठिश्लाका पुरुषचरित, पूर्वो0 ।

219. वही।

220. राजतरंगिणी, 8.137, पृ0 322 ।

221. नारद, पूर्वो0 तथा लेखपद्धति, पूर्वो0 ।

222. लेखपद्धति, पूर्वो0 तथा लिखनावली, पूर्वो0 ।

223. त्रिशाष्ठिश्लाका पुरुषचरित, पूर्वो0 वासुदेव हिण्डी, पूर्वो0 ।

224. लिखनावली, विद्यापति, पृ0 54 ।

225. शुक्रनीति, 4, लोकधर्म, 13, पृ0 239 ।

226. कथासरित्सागर, 56, 291, पृ0 290 ।

227. वासुदेव हिण्डी, 18, पृ0 219.26 ।

228. त्रिशाष्ठिश्लाका पुरुषचरित, 10.3, 430-40 तथा यशास्तिलचम्पू, पूर्वो0 ।

229. इन सभी प्रसंगों की चर्चा इसी अध्याय की पाद टिप्पणी 205-222 के अन्तर्गत मिल जाती है।

230. त्रिशाष्ठिश्लाका पुरुषचरित, 10.6 318-201 इस उल्लेख में दास द्वारा एक ब्राह्मण को यज्ञ में शामिल होने के लिये शर्त रखने की चर्चा भी की गयी है।

231. कर्पूरमंजरी, 4 पृ0 164 ।

232. श्रृंगारमंजरी कथा, पृ0 39 ।

233. पउमचरिय, जिल्द 6, भाग-1, 3.102 ।

234. राजतरंगिणी, 1.151, पृ0 11 ।

235. कथासरित्सागर, 18.113, पृ0 63 ।

236. त्रिशाष्ठिश्लाका पुरुषचरित, 10.12.427, पृ0 151 ।

237. कथासरित्सागर, 27-88-99-, पृ0 119 ।

238. कर्पूरमंजरी, 1 पृ0 24 ।

239. त्रिशाष्ठिश्लाका पुरुषचरित, 10.11, 489-92, पृ0 153 ।

240. कथासरित्सागर, पूर्वो0 ।

241. त्रिशाष्ठिकशलाक पुरुषचरित, 10.6.318-20 ।

242. मानसोल्लास- 1.303-4, पृ0 28 ।

243. लिखनावली, पृ0 54 ।

244. बृहत्संहिता, पूर्वो0 ।

245. त्रिशाष्ठिश्लाका पुरुषचरित, पूर्वो0 ।

246. मानसोल्लास, पूर्वो0 ।

247. द्वारा उद्धत- यादव, बी0 एन0 एस0, कलियुग के वर्णन और समाज का

प्राचीनकाल से मध्यकाल में संक्रमण पूर्वो0 पृ0 73 और पृ0 91, इस संदर्भ में प्रतीत होता है कि दासों को भी उत्पादन कार्यों में लगाया जा रहा होगा।

248. शुक्ल डी0 एन0, पूर्वो0 पृ0 151 ।

249. लेखपद्धति, पूर्वो0 ।

250. नेगी, जे0 एस0 पूर्वो0 ।

251. त्रिशाष्ठिश्लाका पुरुषचरित, 1.582, पृ0 21 ।

252. दास व्यापार से सम्बन्धित इस अध्याय में अन्यत्र तथा दासता को इस्लामी अवधारणावाले अंशों में अधिक विस्तार से लिखा गया है।

-: 0 :-

चतुर्थ अध्याय

स्त्रियाँ और सामाजिक परिवर्तन

चतुर्थ अध्याय

स्त्रियां और सामाजिक परिवर्तन

विश्व की विभिन्न संस्कृतियों के निर्माण में नारी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सामाजिक मान्यताओं में परिवर्तन के अनुरूप युग में नारी की स्थिति में वैदिक युग से लेकर पूर्वमध्ययुग तक अनेक उतार चढ़ाव आते रहे तथा उनके अधिकारों में तद्नुरूप परिवर्तन भी होते रहे हैं। यह सही है कि वैदिक युग में उनकी अवस्था अत्यन्त उन्नत और परिष्कृत थी किन्तु परिवर्तीकाल से इस स्थिति में परिवर्तन प्रारम्भ हो गया जो अवनति के रूप में बाद के कालों तक चलता रहा।

भारतीय समाज मूलतः एक पितृसत्तात्मक समाज माना जाता है, फिर भी स्त्रियां उसके एक अभिन्न अंग के रूप में ठीक उसी प्रकार से सदैव से जुड़ी रही हैं, जैसे रथ के दो पहियों में से एक पहिया यद्यपि कोई भी समाज उनकी अनदेखी करके नहीं चल सका है, फिर भी यह उतना ही सही है कि स्त्रियों को प्रायः प्रत्येक युग में विभिन्न विषम परिस्थितियों से संघर्ष करना पड़ा है। प्राचीन भारतीय सामाजिक परिवर्तन की मुख्य धारा में इन स्त्रियों की भी एक महत्वपूर्ण भूमिका थी, यही कारण है कि वैदिक काल की वह स्त्री जो अपने पति के शरीर का आभूषण थी, पूर्वमध्यकाल तक आते-आते दासी एवं वेश्या जैसे घृणित स्तर तक उतरने के लिये भी विवश हुई।[1]

यद्यपि यह थोड़ा बहुत परिवर्तन पूर्वकालीन समाज में भी था लेकिन आलोच्यकाल में यह काफी बड़े पैमाने पर दिखायी पड़ने लगा था। इस सामाजिक बदलाव के पीछे कुछ राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक सभी शक्तियां अपने-अपने स्तर से कार्य कर रही थीं। ये उत्तरदायी कारण प्रत्येक काल एवं देश में अपना प्रभाव डालते रहे। स्त्रियों के विशिष्ट संदर्भ में भारत का प्राचीनकालीन ढांचा प्रारम्भ से गुप्तों के काल तक अनेक परिवर्तनों से परिचित हो चुका था और ये परिवर्तन गुप्तोत्तरकाल से आगे भी जारी रहे यह बात अलग है कि गुप्तोत्तरयुगीन परिस्थितियां पूर्व युगों की अपेक्षा भिन्न थीं, परन्तु परिवर्तन तो हुआ ही अतएव आलोच्य संदर्भ में उन्हीं परिवर्तनकारी घटनाओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है जिसके प्रभाव के कारण स्त्रियों के विभिन्न पक्षों में परिवर्तन दिखायी पड़ता है और उनसे समाज की दिशा परिवर्तन हुई है।

पूर्वमध्ययुगीन नारी की स्थिति और सामाजिक परिवर्तन-

गुप्तों के पतन के पश्चात् भारत में एक ऐसे युग की शुरुआत हुई जिसमें विदेशी आक्रमणों का सिलसिला सा प्रारम्भ हो गया जिसका परिणाम यदि राजनीतिक क्षितिज पर भारत में मुस्लिम शासन की बुनियाद था तो सामाजिक क्षेत्र में भारतीय जाति प्रथा में अनेक जटिलताओं का समाविष्ट होना था। यह ध्यातव्य है कि ईसा की छठी शताब्दी से जहां एक ओर जातियों की संख्या में वृद्धि होने लगती है वहीं दूसरी ओर ब्राम्हणों और शायद शूद्रों में बाल-विवाह की और क्षत्रियों में सती प्रथा की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। साथ ही उच्च जातियों में नियोग और विधवा विवाह की प्रथा को एकदम अमान्य घोषित कर दिया जाता है जबकि अतीत में इनका खासा चलन था। यह विकास अच्छा था या बुरा यह एक अलग प्रश्न है, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि ईसा की छठी शताब्दी से भारत की सामाजिक संचरना में महत्वपूर्ण बदलाव आने लगा था, जिसके परिणामस्वरूप स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन आना स्वाभाविक ही था। नारी और सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से यदि हम पूर्वमध्ययुगीन समाज में नारी के स्थान पर विचार करें तो दो विचारधाराओं का अस्तित्व दिखायी पड़ता है। एक ओर नैतिकता और आदर्श की प्रतिमूर्ति दिखायी पड़ती है।

दूसरी तरफ नारी को शूद्रों की श्रेणी में रखकर कठोर हृदय वाली अविवेकी, बुराई का भण्डार कहा गया है।[2] परन्तु इस युग में सोमदेव भी हुये हैं जिन्होंने कहा स्त्रियां न तो अच्छी हैं न बुरी वे तो दूध के सदृश हैं जहां एक ओर विष का स्रोत है तो दूसरी ओर वे अमृतपूर्ण है।[3]

पुरातात्विक व साहित्यिक प्रमाणों से यह ज्ञात भी होता है कि धर्मशास्त्रकारों का एक वर्ग यदि उसे शूद्रों की श्रेणी में समेट रहा था तो दूसरा वर्ग उसके प्रति श्रेष्ठ विचार भी रखता था।[4]

प्राचीनकाल से ही परिवार में नारी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है वास्तविक अर्थों में नारी परिवार रूपी शरीर में रीढ़ की हड्डी के समान है जिसके बिना परिवार रूपी शरीर का संतुलन बनाये रखना अत्यन्त कठिन है।[5]

परिवार के सदस्यों के बीच सम्बन्ध स्थापना, गृह के निर्माण, संचालन और पालन में वह महत्वपूर्ण योगदान देती है इसी कारण से उसे ''गृह'' की सामग्री कहा गया है।[6] परन्तु पूर्वमध्यकाल में माता के रूप में तो नारी आदर का पात्र रही परन्तु पत्नी के रूप में उसकी स्थिति में गिरावट आयी। ''पतिव्रता'' नारी का धर्म बताते हुये नारी पर इतने अधिक कर्तव्यों का भार डाल दिया गया कि वह परिवार की सेविका मात्र बनकर रह गयी। यहां पर यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म के उदय पर जब स्त्री घर के सदस्यों की आज्ञा के बिना भिक्षुणी बनकर मठ में निवास करने लगी।[7] तब हिन्दू शास्त्रकारों ने परिवार को व्यवस्थित रखने के उद्देश्य से अनेक नियमों का विधान रखा था जिसका पुरुष वर्ग द्वारा भरपूर फायदा उठाया गया जिससे पूर्व काल की अपेक्षा इस युग में नारी की स्थिति में अनेक परिवर्तन आये।

पूर्वमध्ययुगीन नारी और समाज-

सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से नारी इस युग में दो रूपों में दिखायी पड़ती है राज प्रसाद अर्थात् धनी वर्ग की पत्नियां दाम्पत्य जीवन का आधार मानी जाती थीं। किसी भी समस्या का समाधान करने में पत्नी बराबर की भूमिका अदा करती थी राज्यश्री के विवाह के सम्बन्ध में प्रभाकरवर्धन ने अपनी पत्नी यशोमती से ग्रहवर्मा

की चर्चा की थी।[8] महारानी यशोमती राजा के विश्वास, धर्म, प्राण, प्रेम व सुख की भूमि थी।[9] एदिलपुर अभिलेख की चन्द्र देवी वर्मा में अर्थ, धर्म तथा काम तीनों का संगम था। वह अपने पति लक्ष्मणेन की मुख्य शक्ति थी।[10] बल्लाल सेन ने नौहाटी ताम्रपात्र में विजय सेन की पत्नी विलास देवी की तुलना लक्ष्मी तथा गौरी से की है।[11] इन उदाहरणों से ऐसा लगता है कि परिवार में पत्नी की स्थिति बहुत अच्छी थी परन्तु इसके साथ-साथ खजुराहो के लक्ष्मण मन्दिर की दृश्यावली में पत्नी की चोटी पकड़कर खींचते दिखाया है। जिससे ऐसा आभास मिलता है कि तत्कालीन समाज में स्त्रियों को कभी-कभी बलपूर्वक मारा पीटा एवं घसीटा भी जाता रहा होगा।[12] लेकिन यह तत्कालीन समाज का वास्तविक चित्र था ऐसा नहीं कहा जा सकता यह उसका एक पक्ष मात्र रहा होगा कथासरित्सागर में तो ब्राम्हणों द्वारा अकाल के समय अपनी पतिव्रता पत्नियों को त्याग कर भागने का विवरण मिलता है।[13] दशकुमार चरित में ऐसा चित्रण है कि पति ही पत्नी का देवता है यदि पति उसे त्याग दे तो उसका जीवन मृत्यु से भी अधिक संतापदायी है।[14] परन्तु इसके साथ हम इस बात से भी इन्कार नहीं कर सकते कि पूर्वमध्ययुग में नारी की दशा में सुधार के निमित्त अनेक परिवर्तन भी किये गये।

पूर्वमध्यकाल में यदि मेघातिथि ने पत्नी को पति के पैर दबाकर सेवक के समान सेवा करने की बात की तो उसने यह भी स्वीकार किया कि पति पत्नी के केवल शरीर भिन्न हैं। उन दोनों के अधिकार समान हैं। कार्यों में दोनों एक हैं अतः दोनों ही कानून द्वारा अपने अधिकारों की रक्षा कर सकते हैं। यदि पति पत्नी पर अत्याचार करे तो वह राजा को प्रार्थना-पत्र देकर अपने को अत्याचार से मुक्त कराने का प्रयास कर सकती थी।[15] जबकि प्राचीनकाल में अधिकांश धर्मशास्त्रों का कहना था कि स्त्री स्वतंत्रता के योग्य नहीं है।[16] पति गाली दे, पीटे तब भी हँसते रहना पतिव्रता नारी का धर्म माना जाता था।[17] विज्ञानेश्वर ने मेघातिथि के मत का समर्थन किया और कहा यदि पति गुणवती पत्नी को छोड़ दे या जानबूझकर सम्पत्ति का दुरुपयोग करे या उसे वापिस न दे तो पत्नी न्यायालय में जाकर अपने दुःखों को दूर कर सकती है।[18] मेघातिथि व विज्ञानेश्वर ने पत्नी के भरण-पोषण का भार पति पर डालते हुये कहा कि पत्नी पति से घृणा करे तब भी पति

को उसका भरण पोषण करना चाहिये।[19] यदि पति विदेश जाये तो जाने से पूर्व उसे पत्नी के भरण-पोषण का प्रबन्ध करना चाहिये।[20] इसके साथ ही मेघातिथि[21] ने यह भी स्वीकार किया है कि पति को पत्नी को डांटकर ही ठीक मार्ग पर लाना चाहिये, पर सम्भवतया उन्होंने यह व्यवस्था इसलिये की होगी कि नारी ज्यादा स्वेच्छाचारी नहीं बन सके और यदि कार्यों का बोझ स्त्री पर डाला भी गया तो इसलिये कि वह इतनी व्यस्त रहे कि पर पुरुष के बारे में ज्यादा सोंच भी न पाये।[22] पति को परमेश्वर मानने की धारणा का प्रतिपादन भी तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियां तथा विदेशी आक्रमणों की भयावहता के कारण की गयी होगी। क्योंकि मेघातिथि[23] व विज्ञानेश्वर[24] ने नारी को जो अधिकार दिये वह नारी की स्थिति में परिवर्तन का ही संकेत था। आलोच्य संदर्भ में पूर्वमध्यकालीन भारतीय सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में स्त्रियों की दशा का निष्पक्ष आंकलन प्रस्तुत किया गया है। इसके लिये स्त्रियों के विभिन्न पक्षों को अध्ययन का आधार बनाया गया है।

स्त्री और संस्कार-

प्राचीनकाल में व्यवस्थाकारों द्वारा सोलह संस्कारों का विधान व्यक्ति के शरीर को परिष्कृत और पवित्र बनाने के उद्देश्य से किया गया था जिससे वह वैयक्तिक और सामाजिक विकास के लिये उपयुक्त बन सके परन्तु यदि इन संस्कारों के संदर्भ में हम स्त्री समुदाय को देखें तो पूर्वमध्ययुग में मात्र विवाह संस्कार को ही उनके लिये महत्वपूर्ण माना गया है।[25] जबकि वैदिक युग में उपनयन संस्कार का विधान कन्या के लिये किया गया था और शिक्षा प्रारम्भ होने से पूर्व पुत्र की पुत्री का भी 'उपनयन संस्कार' किया जाता था।[26] इस युग में न केवल कन्या की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था बल्कि पुत्र की भांति ही वह ब्रम्हचर्य आश्रम में रहते हुये अध्ययन करती थी।[27] परन्तु उत्तरवैदिककाल में उनको गुरुकुल भेजने पर प्रतिबन्ध लगाया गया।[28] और सूत्रकाल तक आते-आते बाल-विवाह की प्रथा के उदय[29] के कारण स्त्री का उपनयन संस्कार एक औपचारिकता मात्र बन गयी। द्वितीय सदी तक इसे पूर्णतया बन्द कर दिया गया।[30] अब विवाह को ही उपनयन का विकल्प मान लिया गया। पूर्वमध्ययुग में भी एकमात्र विवाह संस्कार को ही स्त्री के लिये

महत्वपूर्ण माना गया परन्तु यहां यह उल्लेखनीय है कि इस युग में भी शंख जैसे उदारवादी विचारक हुये जिन्होंने वैदिक युग की भांति कन्या को पुत्र के समकक्ष रखा और उसके लिये भी संस्कारों की व्यवस्था की।[31] उनका तो यहां तक कहना था कि पुत्री को पुत्र के ही समान अशौच का पालन करना चाहिये तथा पिता की अन्त्येष्ठि करना और पिण्डदान करना चाहिये।[32] पिता के लिये एकोदिष्ट का आयोजन करने की सलाह भी उन्होंने दी है।[33] इसके साथ-साथ उन्होंने मंत्रोच्चारण में भी पुत्र तथा पुत्रियों को समान अधिकार दिया था।[34] यद्यपि इस तरह का विचार अपवाद मात्र ही था। अधिकांश इतिहासकार तो पुत्री को पुत्र के समान अधिकार देने की बात स्वीकार नहीं कर पाये थे और पूर्वमध्ययुग में भी सूत्रकाल से चले आ रहे विवाह-संस्कार को ही उपनयन का विकल्प माना गया।[35] जो कि स्त्री के संदर्भ में किया जाने वाला एक महत्वपूर्ण संस्कार था जिसके बाद वह जीवन में प्रवेश करती थी।

विवाह प्रकार वर्ण और सामाजिक परिवर्तन-

प्राचीनकाल से हिन्दू समाज में आठ प्रकार के विवाहों का विधान रखा गया था जिनका अस्तित्व पूर्वमध्ययुग में ही दिखायी पड़ता है।[36] विवाह के आठ पारम्परिक प्रकार में से चार प्रकार जिसके अन्तर्गत ब्रम्ह, दैव, आर्ष और प्राजापत्य आते हैं के विवाह सभी वर्गों के लिये थे और गान्धर्व एवं राक्षस विवाह केवल क्षत्रियों के लिये उपयुक्त थे जिसके उदाहरण पूर्वमध्ययुग में देखने को मिलते हैं[37] जैसे गाहड़वाल राजकुमारी संयोगिता का चाहमान शासक पृथ्वीराज तृतीय से विवाह राक्षस विवाह का ही एक ऐतिहासिक उदाहरण है।[38] जिसको श्री पी0 वी0 काणे ने गान्धर्व और राक्षस विवाह का मिश्रण बताया है।[39] क्योंकि इसमें कन्नौज के राजा की कन्या की सहमति भी थी। पूर्वमध्ययुग में धर्मशास्त्रकारों द्वारा गान्धर्व विवाहों की भी मान्यता प्रदान की गयी।[40] जबकि प्राचीनकाल के धर्मशास्त्रकारोंने इसे मान्यता नहीं दी थी क्योंकि धार्मिक विधान के अभाव में ऐसे विवाह द्वारा समाज के पूर्ण स्वेच्छाचारी बनने की आशंकाएं थीं। पूर्वमध्ययुग में राजकुलों में इस विवाह का प्रचलन काफी दिखायी पड़ता है। नारद की दृष्टि में तो गान्धर्व विवाह सभी वर्णों में पाया जाता है।[41] पैशाच विवाह और आसुर विवाह का प्रचलन समाज में दिखायी नहीं पड़ता। प्रशस्त विवाहों

में पूर्वमध्यकाल में प्रचलित विवाह सूची में ''प्राजापत्य'' विवाह की अधिकता दिखायी पड़ती है। शंख[42] एवं विष्णु[43] स्मृति में प्राजापत्य में कन्या को जल के साथ प्रदान करने का विधान है। इस विवाह में क्योंकि पिता वर का चयन करता था उससे समाज में बहुपत्नी प्रथाको बढ़ावा मिला और राजपूत वंश में तो प्रत्येक राजा की अनेक पत्नियां होने लगी पूर्वमध्ययुग में ब्रम्ह विवाह का भी प्रचलन था।[44] इस युग में ब्रम्ह और गान्धर्व विवाह के समन्वय के अनेक उदाहरण भी देखने को मिलते हैं जैसे चाहमान, शासक विग्रहराज चतुर्थ का तोमर राजकुमारी कोशलदेवी का विवाह[45] आर्ष और दैव विवाह इस समय प्रचलित नहीं थे।

पूर्वमध्ययुग में मुख्य रूप से गान्धर्व राक्षस, ब्रम्ह और प्राजापत्य विवाहों का अस्तित्व ही दिखायी पड़ता है। यद्यपि इस युग में स्मृतिकारों ने दो प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया।[46] जिसका समर्थन पूर्वकालीन अभिलेखों में भी मिलता है। जैसे असवर्ण और सवर्ण विवाह के अन्तर्गत अनुलोम व प्रतिलोम विवाह आते हैं। पूर्वमध्ययुग में भी प्राचीनकाल की भांति अनुलोम विवाह अर्थात उच्च वर्ग के पुरुष का अपने से निम्न व्रर्ण की कन्या के साथ विवाह समाज में प्रचलित था। सातवीं सदीके बंगाल के एक अभिलेख से भी ज्ञात होता है ब्राम्हण हरिश्चन्द्र ने ब्राम्हण कन्या के अतिरिक्त क्षत्रिय कन्या से भी विवाह किया।[47] धर्मपाल ने राष्ट्रकूट प्रमुख प्रबल की कन्या: रत्ना देवी से विवाह किया था।[48] इस प्रकार के विवाह दसवीं सदी तक समाज में विद्यमान रहे परन्तु ग्यारहवीं सदी में ब्राम्हणों को शूद्र कन्या से विवाह की मान्यता नहीं दी गयी जिसका प्रमाण अलबरुनी के इस कथन से भी मिलता है कि ब्राम्हण अपने वर्ण के अतिरिक्त अन्य कन्या से विवाह नहीं करते थे। क्योंकि ब्राम्हण की शूद्र पत्नी की सन्तान शूद्र मानी जाती थी।[49] यद्यपि पूर्वकालीन भाष्यकारों[50] ने अपने से नीचे वर्ण की कन्या के विवाह को मान्यता प्रदान की थी इसके बावजूद समाज में अनुलोम विवाह को हतोत्साहित किया जाने का कारण यह था कि वैदिक युग में वर्ण और जाति के बन्धन इतने कठोर नहीं थे जबकि पूर्वध्ययुग में जाति बन्धन में अत्याधिक कठोरता आ गयी थी। यही कारण है कि इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न सन्तान को सवर्ण विवाह से उत्पन्न सन्तान की तुलना में कम अधिकार दिये गये। बल्कि अनुलोम से उत्पन्न सन्तान को पिता की सम्पत्ति से बहुत कम

धन मिलता था।[51]

असवर्ण विवाह के अन्तर्गत अनुलोम व प्रतिलोम दोनों समाज में प्रचलित थे परन्तु धर्मशास्त्रकार इन विवाहों का प्रतिरोध भी कर रहे थे जिससे धीरे-धीरे असवर्ण विवाह की प्रथा का अन्त हो रहा था जैसा कि अरब यात्री इब्नखुर्दद्बा के विवरण से ज्ञात होता है कि कतिपय क्षत्रिय ब्राम्हणों को अपनी पुत्री दे देते थे परन्तु उनकी लड़कियां ले नहीं सकते थे।[52] कल्हण ने भी राजा संग्राम सिंह द्वारा सिंह द्वारा अपनी पुत्री का विवाह ब्राम्हण से करने पर उसका विरोध किया था कि इससे राजा के यश में कमी आती है।[53] मिताक्षरा के समय तक तो अनुलोम विवाह पूर्णतया बन्द हो गया था।[54]

पूर्वमध्ययुग में अनेक जातियों व उपजातियों के उद्भव के कारण जैसे-जैसे कट्टरता की भावना का उदय हुआ वैसे-वैसे विवाह सम्बन्धों में भी कट्टरता आयी और समाज में विवाह सम्बन्ध उपजातियों तक ही सीमित हो गये तथा सवर्ण विवाह को प्रोत्साहन मिला। कालान्तर में समाज में शुद्धता बनाये रखने के उद्देश्य से अन्तर्जातीय विवाह पूर्णतया बन्द हो गये जिससे सामाजिक सम्बन्ध पूर्णतया संकुचित हो गये। अलबरुनी ने लिखा भी है कि ब्राम्हण समाज काफी कट्टर हो चुका था वह अपनी जाति की कन्या को छोड़कर अन्य किसी से विवाह नहीं करते थे।[55] स्मृति-चन्द्रिका[56] मत्स्यपुराण[57] तथा नारद स्मृति[58] आदि सभी ने सवर्ण विवाह को असवर्ण विवाह की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जबकि वैदिक युग में इस तरह का कोई प्रतिबन्ध नहीं दिखायी पड़ता है।

बहुपत्नी प्रथा-

पूर्वमध्ययुग में वैवाहिक सम्बन्धों में आयी संकीर्णता के कारण नारी की स्थिति में एक परिवर्तन यह हुआ कि समाज में बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन हो गया क्योंकि अपनी जाति में विवाह करने के कारण सबको योग्य वर की तलाश रहती थी जिससे पुरुष वर्ग का महत्व अत्याधिक बढ़गया समाज में पुरुषों की यह प्रधानता उनकी स्वेच्छाचारिता के रूप में परिणित होने लगी और वाल्मीकि द्वारा स्थापित मान्यतायें लुप्त प्राय सी होने लगी यही कारण है कि बहुपत्नीकता पर कोई अंकुश नहीं लगा।

लेकिन बहुपति प्रथा पर अंकुश लगाया गया। इससे न केवल स्त्री के अधिकारों में कमी आयी बल्कि ईर्ष्या-द्वेष की भावना के कारण परिवार में अशांति भी फैली और बहुपत्नी के कारण स्त्रियों की परिवार में स्थिति और भी दयनीय हो गयी। बहुपत्नी प्रथा से एक परिवर्तन यह भी हुआ कि जो रानी सर्वाधिक योग्य होती थी वह महारानी कहलाने लगी जिससे अन्य स्त्रियों में ईर्ष्या एवं हीन बोध उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। भोज वर्मा के बेतवा ताम्रपात्र में उल्लिखित सामल वर्मा की अनेक पत्नियों में मलत्य देवी प्रमुख रानी थी[59] महेन्द्रपाल ने भी दो स्त्रियों से विवाह किये।[60] चन्देल शासक देवगण की दो पत्नियां थीं।[61] मदन वर्मा की तो बहुपत्नी थीं[62] नयन कली देवी, कोसल देवी, दाल्हण देवी, कुमार देवी, बांसती देवी ये सभी रानियां मदन वर्मा की पत्नियां थीं।[63] चाहमान शासक सीयक की दो पत्नियां थीं।[64] राज्यपाल की पामल्ल देवी और भौला देवी नामक दो पत्नियां थीं।[65] स्वयं चेदिराज गांगेयदेव की सौ पत्नियां थीं जिन्होंने उनके साथ अग्नि में प्रवेश किया था।[66] भारत भ्रमण पर आये अरब यात्री सुलेमान ने भी लिखा है कि शासकों पर कोई बंधन नहीं था। वे कई पत्नियां रखते थे।[67] इस प्रकार पूर्वमध्ययुग में अनेक पत्नी होना एक आम बात थी जिससे स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन आने प्रारम्भ हो गये थे। ऐसा नहीं है कि शास्त्रकारों का ध्यान इस बुराई पर नहीं गया परन्तु क्योंकि बहुपत्नी प्रथा राजघरानों में अधिक प्रचलित थी और शासक वर्ग पर इनका कोई नियंत्रण नहीं था जिससे इस बुराई का अन्त नहीं हो सका।

स्वयंबर प्रथा-

पूर्वमध्ययुगीन सामाजिक परिवर्तन की विशेषता स्वयंबर प्रथा भी थी। वास्तव में वर चुनने की स्वतंत्रता देना एक सम्पूर्ण जीवन यातना तथा आत्मपीड़ा से दूर रखना था। यद्यपि प्राचीनकाल से ही इस प्रथा का अस्तित्व समाज में दिखायी पड़ता है- जैसे राजा जनक का सीता स्वयंबर।[68] परन्तु पूर्वमध्ययुग में राजकुलों में इसका व्यापक रूप से प्रचलन हो गया नाडोल के शासक महेन्द्र की बहन दुर्लभ देवी ने स्वयंबर में ही अपना पति चुना था।[69] पूर्वमध्ययुग में वर चुनने की स्वतंत्रता देना स्त्री की दशा में उत्थान का परिचायक ही था परन्तु सम्पूर्ण समाज द्वारा इस प्रथा

को भी स्वीकार नहीं किया गया जैसा कि कादम्बरी के इन वचनों से स्पष्ट है कि मैंने इस विषय में कुमारियों के विरुद्ध स्वाधीनता का अवलम्बन कर निन्दा स्वीकार की विनय की अवहेलना की गुरुवचनों का उल्लंघन किया लोकापवाद की गणना नहीं की और स्त्रियों के सहज आभूषण लज्जा का परित्याग कर दिया इसलिये कादम्बरी किस प्रकार ऐसे विषय (विवाह) में प्रवृत्त हो।[70] यहां पर यह विचारणीय है कि यदि इस प्रथा को मान्यता नहीं दी तो उसके पीछे भी सम्भवतः एक कारण यह था कि अद्वितीय कन्या की लालसा में राजाओं के आपस में युद्ध हो जाते थे जिसका परिणाम जनता को भुगतना पड़ता था जैसा कि संयोगिता के स्वयंबर से स्पष्ट हो जाता है।[71] पृथ्वीराज और जयचन्द्र के आपसी मतभेद के कारण ही मुहम्मद गोरी भारत में अधिपत्य जमाने में सफल हो गया।[72] इस प्रकार इस प्रथा के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि पूर्वमध्यकाल में स्वयंबर जैसी प्रथा का अस्तित्व में आना स्त्रियों की स्वतंत्र स्थिति का परिचायक है।

विवाह की आयु -

प्राचीनकाल से पूर्वमध्ययुग तक जिस प्रकार अनेक सामाजिक संस्थाओं का उदय हुआ उसी प्रकार समय के साथ विवाह की आयु में अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। पूर्वमध्ययुग में स्त्री के विवाह की आयु के सम्बन्ध में दो धारणायें सामने आती हैं जहां एक ओर राज्यश्री व महाश्वेता है जिनका विवाह युवावस्था में हुआ था।[75] वहीं दूसरी ओर मेघातिथि ने आठ वर्ष की आयु में विवाह करने की सलाह दी है।[74] अलबरुनी के विरण से पता चलता है कि समाज में अधिकतर बाल-विवाह प्रचलित थे। उन्होंने लिखा है कि 12 वर्ष की अधिक उम्र की कन्या को विवाह की अनुमति नहीं थी।[75] कतिपय इतिहासकारों का यह मानना है कि पूर्वमध्ययुगीन समाज में बाल-विवाह को प्रोत्साहन दिये जाने का कारण धर्मशास्त्रीय व्यवस्था तथा रूढ़िवादिता थी। इस सम्बन्ध में डॉ0 अल्तेकर[77] की यह मान्यता है कि समाज में निम्न जातियों में वधू मूल्य निर्धारित था और उस मूल्य की प्राप्ति के लोभ में वे अपनी कन्या का विवाह पांच अथवा छः वर्ष की आयु में करते थे। बाद में उच्च वर्गीय जातियों ने इस प्रथा का अनुसरण किया और अपनी कन्याओं का विवाह अल्पायु में करना

प्रारम्भ कर दिया।

समाज में कई उपजातियों का उद्‌भव[78] होने के कारण भी वर निर्वाचन में कठिनाई का अनुभव होने पर उपयुक्त वर दिखाई देते ही लोग अपनी कन्या का विवाह कम आयु में ही करने लगे। सती प्रथा ने भी बाल-विवाह को प्रोत्साहित किया। पति की मृत्यु होने पर जब पत्नी के सती होने की प्रथा बढ़ने लगी तो उनकी सन्तान के असहाय होने की आशंका से पुत्री का विवाह अल्पायु में किया जाने लगा ताकि दूसरे परिवार में पहुंचकर सास, ससुर का स्नेह प्राप्त कर सके।[79] इस प्रकार अल्पायु में विवाह कर माता-पिता चिन्ता मुक्त हो जाते थे। समाज की आर्थिक स्थिति भी संतोषजनक थी, तथा संयुक्त परिवार का प्रचलन था। अतः लोग अपने पुत्र का विवाह उसके अर्थ उपार्जन के पूर्व ही कर देते थे।

उपर्युक्त समस्त कारणों में कुछ सत्यांश अवश्य हैं, परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य प्रमुख कारण तत्कालीन अशान्त राजनैतिक परिस्थितयां थीं। विदेशी जातियों के आक्रमण उत्तर पश्चिम भारत में होने लगे थे और धीरे-धीरे सम्पूर्ण देश में वे फैलते जा रहे थे। ये विदेशी हिन्दू समाज में सम्मिलित होने का प्रयत्न कर रहे थे। अतः उनका सामना करने के लिये जनसंख्या में वृद्धि कर समाज को सुदृढ़ बनाना अत्यन्त आवश्यक था फलस्वरूप बाल-विवाह को प्रोत्साहन दिया गया। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि इन म्लेच्छों की कुदृष्टि से कन्या के कौमार्य की सुरक्षा के लिये अल्पायु में ही उसका विवाह करना माता-पिता श्रेयस्कर मानते हों कारण कुछ भी हो बाल-विवाह के कारण नारियों की शारीरिक और मानसिक स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी।

स्त्रियों की सामाजिक मर्यादा को लेकर पूर्वमध्यकाल में कुछ ऐसी बातें प्रकाश में आयीं जो बाद की शताब्दियों में उसकी विशेषता बन गयी अल्पायु में विवाह और बहुधा यौवनारम्भ से पूर्व भी विवाहों का समर्थन होता था यह भी कहा जाता था कि विधवा न केवल पूर्ण ब्रम्हचर्य का जीवन व्यतीत करना चाहिये बल्कि उसके लिये श्रेयस्कर है कि वह अपने पति के साथ चिता में जलकर भस्म हो जाय।[80] अर्थात् सती हो जाय इस प्रकार अर्धात्काल तक आते-आते स्त्रियों के ऊपर तरह-तरह

की बातें आरोपित की जाने लगीं कभी उन्हें पर्दे में रहना सिखाया जाता था तो कभी पति की मृत्यु के पश्चात् सती हो जाना उच्च धार्मिक कर्तव्य बताया जाता था।[81] निश्चय ही ये प्रतिबन्ध उनकी पवित्रता और सुरक्षा को ध्यान में रखकर आरोपित किये गये थे जिसका एक प्रधान कारण विदेशियों का आक्रमण भी था।

सती प्रथा का परिवर्तित स्वरूप और सामाजिक परिवर्तन -

पूर्वमध्यकाल तक आते-आते स्त्रियों की स्थिति में सबसे बड़ा सामाजिक परिवर्तन सती प्रथा का प्रचलन था। भारतीय समाज में विशेषकर विदेशी आक्रमण के युग में अव्यवस्थाओं को बोलबाला बढ़ा था जिनकी ओट में स्त्रियों को सतीत्व की रक्षा के लिये जीवित अग्नि में प्रविष्ट होना एक ऐसे विकल्प के रूप में दिया गया, जैसे उनकी सुरक्षा के लिये और सारे शास्त्रीय या सामाजिक कवच समाप्त हो रहे हों। इस युग में सती प्रथा के प्रकाश में आने और उस पर शास्त्रीयता की मुहर लगाने के पीछे कुछ अन्य कारणों की भी चर्चा की गयी है- जैसे विधवा विवाह की स्वीकृति न प्रदान करना, उत्तराधिकार में पति की मृत्यु के बाद भी स्त्री को पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकारिणी न मानना, वैवाहिक सम्बन्धों में स्वच्छन्दता पर अंकुश लगाना तथा नियोग जैसी प्रथाओं को समाज में विधि सम्मत होने के बावजूद प्रचलित अवधारणा न बनने देना तथा वैवाहिक सम्बन्धों में जातिगत नियमों की कट्टरता एवं सामन्ती समाज का स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण इत्यादि।[82] इस सम्बन्ध में आर0 एस0 शर्मा[83] जैसे विद्वानों का यह मत है कि प्रारम्भिक मध्यकाल में जिस समय भारत में सामन्ती मूल्य विकसित हो रहे थे, पुरुषों के द्वारा स्त्रियों पर शासन करना और उनको चल सम्पत्ति समझना एक ऐसी मानसिकता थी कि सम्भवता इन्हीं कारणों से सती प्रथा का विकास हुआ होगा।

सती प्रथा के कारणों की ओर इंगित करते हुये डॉ0 काणे ने लिखा है[84] कि 'पूर्वमध्यकाल के आगमन तक इस प्रथा ने समाज में अपनी जड़े दृढ़ कर ली थीं। यथार्थ में सती प्रथा इस युग में वैधव्य दुख से त्राण पाने का साधन बन चुका था। उच्च कुलों में धार्मिक भावनायें दृढ़ होती जा रही थीं, परिणामस्वरूप दो प्रथाओं का जन्म हुआ। एक बाल-विवाह तथा दूसरा प्रेरित वैधव्य, इन दोनों

प्रथाओं ने विधवा वर्ग को जन्म दिया। नियोग प्रथा का समाज में विलोप होने तथा पतिव्रत्य की उदात्त कल्पना के कारण विधवाओं के लिये 'सती' जैसी क्रूर प्रथा का जन्म हुआ। डॉ0 काणे की यह भी मान्यता है कि जब सती प्रथा ने समाज में अपनी जड़ जमा ली तब निबन्धकारों[85] एवं टीकाकारों[86] ने भी इस पर बल देकर सतियों के लिये भविष्य के लिये भविष्य में मिलने वाले पुरस्कारों की चर्चा चला दी। कुछ स्मृतिकारों[87] ने इस धारणा का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया कि जो विधवा स्त्री अपने पति की चिता पर भस्म हो जाती है वह स्वर्ग में अनन्त सुख प्राप्त करती है। यह भी विश्वास दिलाया जाने लगा कि सती होने के पश्चात् पत्नी का पति से पुनर्मिलन होता है। अशिक्षित एवं अज्ञानी स्त्रियों ने स्मृतिकारों के भुलावे में आकर तथा स्वर्ग प्राप्ति के लोभ के वशीभूत होकर सती होना सहर्ष स्वीकार कर लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि सती प्रथा प्रचलित करने के पीछे एक अन्य कारण भी था। विधवाओं को कुछ आर्थिक अधिकार भी थे, भरण-पोषण का अधिकार तो प्राप्त था ही, पुत्रहीन विधवा का आजीवन भरण-पोषण का भार उठाना अथवा सम्पत्ति में से भाग देना आवश्यक था। विधवा स्त्री को 'सती' होने के लिये प्रेरित करने से अथवा उसके सती हो जाने से परिवार के लोग उक्त भार से मुक्त हो सकते थे।

गुप्त संवत् 191 (510 ई0) के एरण अभिलेख[89] में वर्णित गोपराज की पत्नी के सती होने का उल्लेख है। भारतीय इतिहास में सती प्रथा के इस साक्ष्य को प्रथम स्थान प्रदान किया गया है। पूर्वमध्ययुग का एक महत्वपूर्ण परिवर्तन राजघरानों में इस प्रथा के प्रचलन का व्यापक होना भी था। वाणभट्ट ने स्वकालीन समाज में विधवा दाह प्रथा की ओर संकेत किया है। कादम्बरी में महाश्वेता अपने प्रेमी पुण्डरीक के मरने पर उसका अनुगमन न कर पाने के कारण अत्यन्त आत्मग्लानि का अनुभव करती है। महाश्वेता अपने आपको पापिनी शुभलक्षण रहित, निर्लज्ज, कठिन प्रवृत्ति वाली, स्नेहरहिता, नृशंस, निन्दनीय, प्रयोजनरहित उत्पन्न हुई, निष्फल जीवनधारिणी, अनथा, निराधार और दु:खी बताती है।[90] इसी दु:ख और निन्दा से बचने के लिये यशोमती स्वयं अपने पति का मरण निश्चित जानकर अपने पति प्रभाकरवर्धन की जीवितावस्था में ही पुत्र एवं परिजनों द्वारा प्राय: रोके जाने पर भी मरण निश्चय

कर, सरस्वती नदी की किनारे अग्नि में प्रवेश कर गयी थी।[91] राज्यश्री भी अपने पति ग्रह वर्मा के मारे जाने पर अवसर मिलने पर विन्ध्यावटी के वनों में अनुमरण का यत्न करती है।[92] यही नहीं बाणभट्ट ने अपनी आलंकारिक शैली में अपमान साधन में अनुमरण प्रसंगों की बार-बार कल्पना की है, जो इस प्रथा के प्रचलन का संकेत करती है।[93]

हर्ष द्वारा रचित नाटक प्रियदर्शिका में विंध्यकेतु की विधवाओं के अनुमरण का उल्लेख है।[94] नागानन्द ने भी सहमरणोहात जीमूतवाहन की विधवा मलयवती के भावोद्रेक का वर्णन किया है।[95] भट्टनारायण के नाटक वेणी संहार (जिसकी कथावस्तु महाभारत युद्ध के आधार पर लिखी है।) में राक्षस पात्र द्वारा भीम दुर्योधन युद्ध में भीम की मृत्यु का मिथ्या समाचार देने पर युधिष्ठिर और द्रोपदी दोनों मूर्छित हो जाते हैं और द्रोपदी भीम का अनुगमन करना चाहती है।[96] वह युधिष्ठिर से क्षत्रिय नारी द्वारा पालनीय धर्म के अनुसार चिता प्रज्ज्वलन हेतु निवेदन करती है। ताकि वह भीम का अनुगमन कर सके,[96] जिसे इस ग्रन्थ में भारतीय नारियों के लिये उपयुक्त बताया गया है। वात्स्यायन ने वेश्या को अपने प्रेमी को प्रेमपाश में बांधे रखने के लिये प्रेमी से अनुमरण की बात कहते रहने का सुझाव दिया है।[97] इससे इस समय के अनुमरण का समर्थन मिलता है।

दसवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच उत्तर भारत की वीर क्षत्रिय और लड़ाकू जातियों की ही नहीं अपितु निम्न वर्ग की विधवा स्त्रियों ने भी पति का सहगमन किया। यद्यपि शूद्र वर्ग में विधवाओं द्वारा सती होने के उदाहरणों का अभाव दिखता है क्योंकि उनमें पुनर्विवाह की सामान्य रूप से मान्यता थी। इस काल में क्षत्रिय वर्ग में सती होने की घटनाओं का बाहुल्य मिलता है। सोमदेव ने कथा सरित्सागर की कतिपय कहानियों में विधवा स्त्री के चितारोहण का उल्लेख किया है। इनमें अयोध्या के वाणिक पुत्री रत्नावती द्वारा मनोवृत्त वर (चोर) को मृत्यु दण्ड दिये जाने पर मृत चोर का अनुगमन करना ओर कोशलाधिपति की पतिव्रता नारी अरुन्धती के पूर्वजन्म में अपने ब्राम्हण पति देवदास के साथ अनुमरण का दृष्टान्त महत्वपूर्ण है।[98]

इस प्रकार पूर्वमध्ययुग में यह प्रथा राजपरिवारों और क्षत्रिय कुलों तक सीमित न रहकर सर्व वर्ण व्यापी और विधवा के लिये 'एक मात्र विकल्प' बनने की ओर उन्मुख थी। विज्ञानेश्वर[99] ने इसे 'चाण्डाल पर्यन्त' 'सामान्य धर्म' बताया। लक्ष्मीधर[100] ने इसकी अनिवार्यता और विकल्पहीनता की पुष्टि के लिये अंगिरा को उद्धत किया है। ब्रम्हपुराण[101] भी अन्वारोहण को एक मात्र विकल्प मानता है, दूसरे देश में पति की मृत्यु होने पर पतिव्रता स्त्री उसकी पादुका हृदय पर रखकर पवित्र भाव से अग्नि में प्रवेश करे। लक्ष्मीधर[102] भी उपर्युक्त तथ्यों का समर्थन करते हैं। इस प्रकार सभी उक्तियों का पर्यालोचन करने से स्पष्ट है कि ब्राम्हण आदि सभी की पत्नियां जिन्हें अपने तथा अपने पति के फलों की विशेष आकांक्षा है, यदि वे गर्भवती नहीं है, उनके बच्चे बहुत छोटे नहीं है तो पति के साथ अथवा पति के पश्चात् अन्वारोहण की अधिकारिणी है। गरुड़पुराण[103] ने तो गर्भवती को प्रसव हो जाने तथा बालक के पालन-पोषण के बाद सती होने का निर्देश दिया है। लक्ष्मीधर की भांति अपरार्क[104] ने भी सती प्रथा को विकल्पहीन बताया है। यद्यपि पैठीनसि, विराट, अंगिरा और व्याघ्रपात ने ब्राम्हणी के सती होने को आत्मघात बताया है।[105] परन्तु इसका खण्डन अपरार्क[106] ने होशना को उद्धत करते हुये लिखा है कि ब्राम्हण का अनुगमन-निषेध 'पृथक चिन्ता' विषयक है। यही दृष्टिकोण मिताक्षरा[107] का भी है। वेदव्यास[108] ने स्पष्ट रूप से ब्राम्हणी के लिये अन्वारोहण का विधान प्रस्तुत किया है।

अलबरूनी और सुलेमान के विवरणों से इस कृत्य के प्रचलन का समर्थन प्राप्त होता है।[109] ब्राम्हणी विधवाओं के पति के शव के साथ जलने का भी समर्थन किया जाने लगा था। विवेचित काल में विधवा स्त्रियों द्वारा पति का अनुगमन करने के पीछे स्त्री का पतिव्रत आदर्श महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने लगा था। सम्भवतया पति को देवता तुल्य मानने की विचारधारा ने इसे और पुष्ट कर दिया था। इस काल के अभिलेखिक प्रमाणों से जिन विधवाओं के अपने पतियों के अनुगमन के प्रमाण मिलते हैं, उनमें राणुक की पत्नी सती सांवल देवी, ठाकुर गुहिल की सती, धोलपुर के चण्डमहासेन की मां सती कणहुल्ला, राणा मोतीश्वर की पत्नी सती हम्भरि देवी आदि का नाम लिया जा सकता है।[110]

कई मुस्लिम इतिहासकार सती प्रथा का उल्लेख करते हैं। सुलेमान[111] ने इस प्रथा को ऐच्छिक बताया है। वह एक विचित्र प्रथा का उल्लेख करता है जिसके अन्तर्गत राजा के कुछ साथी भी राजा की मृत्यु पर उसके साथ प्राणोत्सर्ग के लिये प्रतिबद्ध हो जाते थे। परन्तु किसी अन्य भारतीय साक्ष्य से इस प्रथा की पुष्टि नहीं होती, यद्यपि राजतरंगिणी[112] में राजा के साथ उसके अनुचरों के अनुगमन की सूचना दी गयी है। बिलादुरी[113] ने दाहिर की रानी और उसकी दासियों के जौहर का उल्लेख किया है। इस संदर्भ में अलबरूनी[114] का कथन निश्चय ही परिवर्तित दशा की ओर संकेत करता है। अलबरूनी दो विकल्पों, आजीवन वैधव्य धारण अथवा अन्वारोहण की बात करता है, परन्तु साथ ही अन्वारोहण को अधिक स्वीकार्य बताता है, क्योंकि विधवा के रूप में उसके साथ आजीवन बुरा व्यवहार किया जाता है, सुलेमान के विपरीत राजकुलों में प्रौढ़ अथवा बच्चों वाली स्त्रियों के अतिरिक्त विधवा स्त्री के लिये वह सती होना अनिवार्य बताता है।

राजेश्वर ने उत्तर भारत के राजपूतों में सती प्रथा के विशेष रूप से प्रचलन कर उल्लेख किया है।[115] चेदि राज्य में इस प्रथा के प्रचलन के प्रमाण मिलते हैं। डाहल के कलचुरि राजा गांगेयदेव की सौ रानियों के ज्वाला में प्राण परित्याग का संदर्भ महत्वपूर्ण है।[116] जबलपुर अभिलेख में भी इसकी पुष्टि होती है।[117] टीकाकार अभयदेव ने उन चालुक्य पुत्रियों के साहस की प्रशंसा की है, जो अपने पति के मरने पर अग्नि में प्रवेश कर जाया करती थी। पूर्वमध्ययुगीन साहित्य में सतीप्रथा सम्बन्धी उल्लेखों की बाहुल्यता इसके 'विकसित और परिमाणात्मक- परिवर्तित स्वरूप' का प्रमाण है। समय मातृका में उच्च कुलों में किसी स्त्री का वैधव्य धारण करना महा-अमंगल एवं अनर्थकारी कहा गया है। क्योंकि वैधव्य की दशा में शीलभंग आशंका बनी रहतीहै। साहित्यिक उदाहरणों से प्रतीत होता है कि कहीं-कहीं प्रशासन विधवा से सती न होने का आग्रह करता है। इस युग के कतिपय साहित्यिक ग्रन्थों में सती प्रथा को नारी का धर्म बताते हुये इसका आध्यात्मिक महत्व प्रतिपादित किया गया है। कथा सरित्सागर[118] के विभिन्न उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि सती प्रथा ऊपर के तीन वर्णों में व्याप्त थी। कल्हण कृत राजतरंगिणी[119] में भी सती

प्रथा तथा दासियों व सेवकों द्वारा अन्वारोहण के अनेक उदाहरण हैं। कलश की मृत्यु पर उसकी प्रेमिका कम्मा के सती न होने पर कल्हण ने टिप्पणी करते हुये लिखा है कि 'उसने सारी स्त्री जाति को कलंकित कर दिया। चम्पू रामायण[120] में दर्शित है कि कौशिल्या ओर मंदोदरी सती होने के लिये तत्पर थीं। पृथ्वीराजरासो[121] में विवृत है कि पृथ्वीराज के मंत्री कयमास की पत्नी उसके साथ सती हो गयी थी। उसमें कहा गया है कि, 'वे दम्पति अग्नि स्नान कर स्वर्ग में एक दूसरे से मिल गये। इसी ग्रन्थ में सतीप्रथा की चरम लोकप्रियता वर्णित की गयी है।

पूर्वमध्यकाल का एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह भी दिखता है कि सती नारी की स्मृति में सती स्तम्भ उत्कीर्ण कराने की प्रथा चल पड़ी। मध्य-प्रदेश में नालोद नामक स्थान में अनेक सती स्तम्भ प्राप्त हुये हैं।[122] मालवा में बडनगर झील में पश्चिमी किनारे पर अनेक सती स्तम्भ हैं।[123] इन स्तम्भों के निर्माण का स्त्रियों पर प्रभाव यह पड़ा कि वह अमर होने के लोभ में सती होने लगीं। वास्तविकता जो भी रही हो सती प्रथा के प्रचलन के पीछे मूलत: स्त्री की अज्ञानता ही दृष्टिगोचर होती है जिसका लाभ पुरुष वर्ग द्वारा बखूबी उठाया गया और पति के साथ भस्म होने को पतिव्रता नारी का धर्म बताया गया। इस युग में अनेक उदाहरण ऐसे हैं जिसमें नारी ने सती होने की अपेक्षा अपने पुत्र की देखभाल का बीड़ा उठाया जैसे सुगन्धा,[124] दिद्दा[125] आदि। परन्तु इसके सांथ-साथ पूर्वमध्ययुग में प्राचीनकाल की भांति अपनी इच्छा से नारी सती न हो ऐसी भी नहीं दिखायी देता। यह तो माना जा सकता है कि विधवा पर जो प्रतिबन्ध थे उसकी यातना भुगतने से तो अच्छा ही था कि नारी सती हो जाती परन्तु अलबरूनी[126] के कथन से यह भी पता चलता है कि रानियों की इच्छा हो अथवा न हो उन्हें सती होना ही पड़ता था। इससे यह ज्ञात होता है किस प्रकार सती प्रथा को मोक्ष परा का साधन बनाकर स्त्री की अज्ञानता का फायदा उठाया जा रहा था क्योंकि शिक्षा के अभाव में तत्कालीन नारी अंधविश्वासी भी हो गयी थी परन्तु जबरदस्ती सती होने के लिये मजबूर करना पूर्वमध्यकाल में स्त्री की दयनीय दशा का परिचायक ही है। वास्तविकता तो यह है कि यदि कुछ तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियां जैसे विदेशी आक्रमण आदि के

कारण स्त्री के सतीत्व की रक्षा के निमित्त यह व्यवस्था आवश्यक थी तो दूसरी तरफ रूढ़िवादिता के प्रभाव से स्त्री अछूती नहीं रही। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पूर्वमध्यकाल के आगमन तक इस प्रथा ने समाज में अपनी जड़ें अत्यन्त दृढ़ कर ली थीं। यथार्थ में सती इस युग में वैधव्य दुःख से त्राण पाने के साधन के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। उच्च कुलों में धार्मिक भावनायें दृढ़ होती जा थीं, परिणामस्वरूप दो प्रथाओं का जन्म हुआ। एक बाल-विवाह तथा दूसरा प्रेरित वैधव्य। इन दोनों प्रथाओं ने विधवा वर्ग को जन्म दिया। नियोग प्रथा का समाज में विलोप होने तथा पतिव्रत्य की उदात्त कल्पना के कारण विधवाओं के लिये ''सती'' जैसी क्रूर प्रथा का जन्म हुआ और इस प्रथा ने समाज में अपनी जड़ें गहराई के साथ जमा लीं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू समाज में विधवा नारी की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी। पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्री के सामने दो ही विकल्प रह जाते थे या तो वे पति के साथ सती हो जाये या फिर जिंदा रहकर कठोर नियमों का पालन करें[127] और यह नियम इतने अधिक कठोर थे कि अधिकतर नारियों ने सती होना ही उचित समझा जबकि प्राचीनकाल की ओर यदि हम दृष्टिपात करें, तो विधवा की स्थिति इतनी शोचनीय नहीं दिखायी देती क्योंकि उस काल के कुछ उदारवादी धर्मशास्त्रकारों ने न केवल स्त्री को पुनर्विवाह की छूट दी थी बल्कि उन पर पूर्वमध्यकालीन विधवा स्त्री की भांति कोई प्रतिबन्ध भी नहीं लगाया था।

पूर्वमध्ययुगीन शास्त्रकारों द्वारा दो विकल्प की व्यवस्था करने का एक कारण यह भी था कि विधवा का चरित्र और आचरण शुद्ध बना रहे और समाज का नैतिक व सामाजिक स्तर ऊँचा रहे। परन्तु पूर्वमध्ययुग में विधवाओं की स्थिति में अनेक परिवर्तन आये जिससे उनकी स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी। पूर्वमध्ययुग में विधवा स्त्री को अनेक कठोर नियमों का पालन करना पड़ता था। विधवा को पति की स्मृति में पवित्र जीवन बिताना पड़ता था। जैसा कि हारीत के कथन से भी स्पष्ट है कि विधवा को बाल संवारना छोड़ देना चाहिये, पान, सुगंधित वस्तुओं,

फूल, आभूषणों का प्रयोग नहीं करना चाहिये, अंजन नहीं करना चाहिये, इन्द्रियों का दमन करना चाहिये।[128] यदि विधवा संयम के जीवन नहीं बिताये तो राजा उसे पति के मकान से निकाल सकता था।[129] इससे यह स्पष्ट है कि पूर्वमध्ययुग में विधवा नारी की दशा कितनी शोचनीय हो गयी थी।

पूर्वमध्ययुग में स्त्रियों के सिर के मुण्डन का उल्लेख मिलता है। जबकि बाणभट्ट ने केशबन्धन का विवरण दिया है।[130] परन्तु यहां पर यह उल्लेखनीय है कि मिताक्षरा[131] तथा अपरार्क[132] विधवाओं के केशमुण्डन के सम्बन्ध में मौन है, जिससे ऐसा लगता है कि यह प्रथा 10वीं तथा 11वीं सदी में समाज में आयी होगी। कालान्तर में विधवायें अपना जीवन पतियों के सदृश मानकर उनके समान सिर का मुण्डन कराने लगी। पूर्वमध्ययुग में विधवा की स्थिति में यह परिवर्तन भी आया कि उसके दर्शन तक को अशुभ माना जाने लगा, तथा उन्हें समस्त उत्सवों से बहिष्कृत कर दिया गया। हर्षचरित से पता चलता है कि राज्यश्री के विवाह उत्सव पर राजकुल में चारो ओर सुहागन स्त्रियां ही दिखायी पड़ती हैं।[133] जिससे यह स्पष्ट है कि शुभ अवसरों पर विधवाओं की उपस्थिति को अमंगलकारी माना जाता था। बाल-विधवा को न केवल जिन्दगी भर सन्यासी का जीवन व्यतीत करना पड़ता था,[134] बल्कि उन्हें परिवार के सदस्यों के दुर्व्यवहार को भी झेलना पड़ता था।[135] इसलिये अलबरूनी ने भी लिखा है कि विधवा के रूप में वह जब तक जीवित है उसके साथ बुरा व्यवहार ही किया जाता है।[136] महेन्द्रपाल के पेहावा अभिलेख में भी विधवाओं की दयनीय स्थिति का मार्मिक वर्णन मिलता है।[137] इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल में विधवा स्त्री की दशा इस हद तक गिर गयी थी कि परिवार के सदस्य तक उनकी उपेक्षा करने लगे थे।

इस प्रकार पूर्वमध्यकाल में नारी का सर्वाधिक शोचनीय पक्ष वैधव्य था। देवी भागवतपुराण[138] में उल्लिखित है कि यदि कालवश पति परलोकगामी हो जाय तो स्त्रियां अनन्त दुःख पाती हैं, क्योंकि वैधव्य स्त्रियों के लिये मात्र दुःख और संताप का कारण होता है। इसी पुराण में एक स्थल पर किसी राजा की पुत्री मंदोदरी द्वारा वैधव्यता के भय से 'कौमार व्रत' धारण करने की इच्छा का उल्लेख है। नागानन्द[139]

में विवृत है कि ''तुम्हारी जैसी सुन्दर आकृति वैधव्य दुख का अनुभव नहीं कर सकती, महावीरचरित[140] में सूपणखा कहती है कि 'चिरकाल से विधवा हो जाने के कारण हमारा सांसारिक सुख खो गया है। अलबरूनी[141] ने भी विधवाओं की शोचनीय दशा का उल्लेख किया है। विधवा अशुभ और अभिशक्त के रूप में देखी जाती थी और उसे सती होने के लिये उकसाया जाता था।

धर्मशास्त्रकारों[142] ने वैधव्य के नियमों को अत्याधिक कठोर बना दिया। विष्णु[143] और ब्रम्हवैवर्त पुराण[144] को उद्धत करते हुये निर्णय सिन्धु का कथन है कि आजीवन ब्रम्हचर्य अथवा अन्वारोहण का विकल्प होना चाहिये। वह आगे कहता है कि कलियुग में स्त्रियों के लिये सहगमन के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है क्योंकि वह ब्रम्हचर्य को धारण करने में शक्तिहीन है। मदनरल[145] में उल्लिखित स्कन्दपुराण के अनुसार विधवा के लिये पलंग पर शयन, उबटन, सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग, प्राणों के कंठ तक आ जाने पर भी बैलगाड़ी पर चढ़ना, कंचुकी धारण करना, विकार उत्पन्न करने वाले वस्त्रों को धारण करना, ताम्बूल-पान, काजल, कांसे के पात्र में भोजन आदि निषिद्ध है।

स्पष्ट है कि विधवा स्त्री सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से हेय समझी जाती थी। देवी भागवतपुराण[146] में विधवा से उत्पन्न कन्या को पूजनादि के अनुपयुक्त माना गया है, वह अमंगलसूचक थी, और किसी भी उत्सव में (यथा विवाह) वह किसी भी प्रकार भाग नहीं ले सकती थी बचपन में विधवा होने के बावजूद भी उसे पूर्ण रूप से साध्वी रहना पड़ता था और सन्यासी की भांति जीवन-निर्वाह करना पड़ता था। धर्मशास्त्रकारों ने विधवा विवाह पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया था यही नहीं बल्कि विवेच्य काल के उत्तरार्द्ध से बाल विधवाओं, यहां तक कि वाग्दत्ता अक्षत योनि कन्या का पुनर्विवाह भी अमान्य और आगे चलकर कलिवर्ज्य घोषित कर दिया गया। इस प्रकार असामयिक वैधव्य से स्त्री समाज का त्रस्त और विघटनों-मुख होना स्वाभाविक था। छठीं शताब्दी से नियोग की प्रथा एक प्राचीन परम्परा मात्र रह गयी। इस युग में हरदत्त, धारेश्वर भोज आदि ने इसका अनुमोदन किया।[147] धारेश्वर भोज का उक्त अनुमोदन दाय भाग के संदर्भ में प्रस्तुत किया है, परन्तु

युगानुरूप परिस्थितियों में विज्ञानेश्वर, विश्वरूप, देवन्नभट्ट आदि ने इसका खण्डन किया[148] सम्बन्ध विच्छेद और पुनर्विवाह के अधिकार से भी वह वंचित कर दी गयी। उसका पुर्नभू होना निषिद्ध कर दिया गया। सातवीं सदी में ही चीनी यात्री ह्वेनसांग[149] ने विधवा के पुनर्विवाह को अप्रचलित बताया।

पूर्वमध्यकाल के अन्तिम चरणों और मध्यकाल के प्रारम्भ में कुछ धर्मशास्त्रकारों द्वारा विधवा के लिये मुण्डन की निन्दनीय प्रथा का आरोपण किया गया। अल्तेकर[150] ने इस प्रथा का प्रारम्भिक स्वरूप वेद व्यास स्मृति के इस कथन पर स्वीकार किया है कि ''यदि विधवा जीवित रहती है- (सती नहीं होती) तो उसे त्यक्त होकर तप से अपने जीवन को सुखा देना चाहिये। अल्तेकर ने त्यक्त केश का अर्थ मुण्डन से माना है परन्तु काणे ने त्यक्त केश शब्द के तीन अर्थ लिये हैं- केश श्रृंगार का त्याग करना, स्मृतियों के निर्देशानुसार दो अंगुल बाल काटे हों तथा केश का मुण्डन कर दिया हो।[151] स्कन्दपुराण में भी विधवा के मुण्डन की चर्चा की गयी है। इस संदर्भ में मदनरत्न में उद्धृत स्कन्दपुराण को निर्णयसिन्धु और धर्मसिन्धु ने उद्धृत किया है।[152] अल्तेकर ने इस प्रथा का प्रचलन 12वीं सदी से प्रचलित होना बताया है। यद्यपि 'राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स' में अल्तेकर ने लिखा है कि कोई मुस्लिम यात्री इस युग में विधवा के मुण्डन की चर्चा नहीं करता। टेवर्नियर की सूचना के आधार पर उन्होंने इस प्रथा का मात्र प्रचलन सत्रहवीं सदी के कुछ पूर्व से बताया है।[153] पूर्वमध्ययुग में स्त्री की दशा में हुये परिवर्तन में विधवा पुनर्विवाह को मान्यता नहीं प्रदान की जबकि प्राचीनकाल में वशिष्ठ तक ने बाल विधवा को पुनर्विवाह की अनुमति प्रदान की थी।[154] परन्तु मध्ययुग में बाल विधवा विवाह तक का विरोध किया गया। इस युग में त्याग व आदर्श को बहुत महत्व दिया गया और विधवा विवाह के विरोधी शास्त्रकारों ने इस मत का प्रतिपादन किया कि यदि बौद्ध भिक्षु व भिक्षुणियां इस आदर्श का पालन कर सकती हैं तो विधवा स्त्री क्यों नहीं।[155] मेघातिथि विधवा विवाह के कट्टर विरोधी थे।[156] अलबरूनी ने भी लिखा है कि विधवा स्त्री दूसरे पुरुष से विवाह नहीं कर सकती थी[157] यद्यपि कामसूत्र में कहा गया है कि कोई स्त्री ब्रम्हचर्य जीवन व्यतीत करने में स्वयं को असमर्थ

पाती है तो वह उस धनी व्यक्ति के पास जाय जो बिना किसी धार्मिक विवाह की औपचारिकता के उसे पत्नी के रूप में स्वीकार करे।[158] इस सुविधा से कुछ विधवा विवाह अवश्य हुये जैसे वास्तुपाल व तेजपाल की माता बाल विधवा थी जिनका पुनर्विवाह आशाराज के साथ हुआ[159] पर यह अपवाद मात्र ही कहा जायेगा। व्यवहार में विधवा पुनर्विवाह पूर्वमध्ययुग में समाज में नहीं होते थे। इस युग में प्राचीनकाल की भांति नियोग प्रथा को भी स्मृतिकारों ने अपनी स्वीकृति प्रदान नहीं की जिसका एक कारण सम्भवतः यह भी था कि प्राचीनकाल से ही यह प्रथा स्त्री को मान्य नहीं थी और पूर्व मध्यकाल में तो व्यवस्थाकारों द्वारा भी इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।[160]

इस प्रकार पूर्वमध्ययुग में विधवा स्त्री की स्थिति प्राचीनकाल की अपेक्षा अत्यन्त दयनीय हो गयी थी। प्राचीनकाल में पुनर्विवाह, नियोग जैसे अधिकार जो स्त्री को प्राप्त थे वे पूर्वमध्ययुग में स्त्री से न केवल छीन लिये गये बल्कि सती प्रथा जैसी कुप्रथा व अनेक कठोर नियमों का प्रावधान रखकर उनकी स्थिति को अत्यन्त दयनीय बना दिया गया। पूर्वमध्ययुग में स्त्री की दशा में जो उपरोक्त परिवर्तन हुआ सम्भवतः उसका कारण तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था अवश्य ही थी और विदेशी आक्रमणों के भय से समाज में अव्यवस्था न फैले इस कारण से विधवा स्त्री पर यह प्रतिबन्ध लगाये गये होगें पर इसके साथ इस बात में भी संदेह नहीं किया जा सकता है कि परिस्थितियों का फायदा उठाने में कट्टर व रूढ़िवादी व्यवस्थाकार भी पीछे नहीं रहे और धर्म के नाम पर विधवाओं पर इतने अधिक कठोर प्रतिबन्ध लगाये कि समाज में उनका कोई अस्तित्व हीं नहीं रहा, जिसके कारण ही पूर्वमध्ययुग में नारी ने जिन्दगी भर यातना भुगतने की जगह सती होना ही उचित समझा।

मर्या देत्तर नारी वर्ग का उदय और सामाजिक परिवर्तन -

पूर्वमध्ययुग में एक सामाजिक परिवर्तन मर्यादेत्तर नारी के वर्ग का उदय होना भी था। जिसके अन्तर्गत गणिकायें, देवदासियां, सेवावृत्ति में रहने वाली दासियां और अन्य व्यवसाय करने वाली स्त्रियां थीं। जिन्होंने समाज द्वारा ठुकराये जाने पर अपनी जीविका चलाने के लिये इन कार्यो को करना प्रारम्भ कर दिया।

पूर्वमध्ययुगीन समाज में गणिका (वेश्या) जैसी नारियों का उभर कर आना समाज का एक मुख्य परिवर्तन था।[161] पूर्वमध्ययुग में जब विधवायें कठोर तपस्यारत् व त्यागमय जीवन व्यतीत करने में असमर्थ रही तो समाज ने उन पर दुराचारिणी का आरोप लगाकर घर से निकाल दिया।[162] ऐसी स्थिति में इन स्त्रियों ने अपने जीवन-यापन के लिये वेश्यावृत्ति अपना ली। पूर्वमध्ययुग में इनकी असाधारण संख्या वृद्धि नारी की स्थिति में परिवर्तन का ही संकेत था क्योंकि प्राचीनकाल में विधवा स्त्री ऐसे व्यवसाय अपनाती कहीं नहीं दिखती। इस युग में न केवल विधवा स्त्री ने मजबूरीवश ये कर्म अपनाये, बल्कि कुछ बाल विधवायें ऐसी भी थीं कि जिन्होंने जीवन की आवश्यकताओं पर कठोर नियंत्रण व विरोध के कारण स्वेच्छा से भी यह कर्म अपनाया।[163] अलबरूनी ने पूर्वमध्ययुग में वेश्यावृत्ति के बढ़ते प्रभाव का एक कारण यह भी बताया कि इसे राजाओं द्वारा भी प्रोत्साहन दिया जा रहा था।[164]

पूर्वमध्ययुग के समाज में गणिका के स्थान के सम्बन्ध में दो धारणायें दिखायी पड़ती हैं एक तरफ समाज के वो लोग थे जो गणिका को अत्यन्त हीन दृष्टि से देखते थे।[165] उनको विश्वास के योग्य नहीं समझा जाता था।[166] कथासरित्सागर में सामान्य लोगों को गणिकाओं से बचने की शिक्षा दी गयी है।[167] परन्तु इसके साथ-साथ ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है जिससे यह स्पष्ट रूप से पता चलता है कि समाज में उनका स्थान कितना महत्वपूर्ण था। चार्तुगणी में धूर्तविट संवाद से भी विदित होता है कि उस युग में वेश्या का जीवन इतना प्रभावशाली था कि गोष्ठियों में इनके सम्बन्ध में चर्चा की जाती थी।[168] उदारचरित[169] तथा सदाचारिणी[170] गणिकाओं की महारानी व अन्य कुलीन स्त्रियों से तुलना की गयी है। मृच्छकटिक में वर्णित बंसतसेना उच्च चरित्र वाली गणिका थी।[171] रागमंजरी ने वेश्या जनोचित धर्म का त्यागकर समाज में सम्मान प्राप्त किया था। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि वे सभी कलाओं में पारंगत होती थी तथा उन्हें जनसंसद में भी स्थान प्राप्त था। शासक तथा कुलीन व्यक्तियों में भी वह सम्मानित थीं और धर्मविरुद्ध होते हुये भी इसे नीच कर्म नहीं माना गया था। परिस्थितिनुसार इस कर्म को भी समाज द्वारा मान्यता प्रदान करना स्त्रियों की दशा में हो रहे परिवर्तन को ही स्पष्ट करता है।

अधीतकाल में नृत्य कला गणिकाओं का पैतृक व्यवसाय माना जाने लगा।[172] प्रारम्भ में तो उच्च कुलों की स्त्रियां संगीत की शिक्षा ग्रहण करती थीं। बाल-विवाह की कुव्यवस्था के कारण स्त्रियों को न तो विवाह के पूर्व संगीत आदि की शिक्षा दी जा सकती थी और न ऐसा विवाह के बाद ही सम्भव था। अतः नृत्य व संगीत पर गणिका वर्ग का एकाधिकार हो गया। पूर्वमध्ययुग में गणिकाओं के सम्बन्ध में एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि वह राजकोष की आमदनी का साधन भी थी क्योंकि इन पर 'कर' लगाया जाता था।[173]

अधीतकालीन साहित्यिक साक्ष्यों में कुट्टनीतम का गणिकाओं के सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है जिसमें बूढ़ी वेश्या नवागता वेश्याओं को वेश्यावृत्ति से परिचित कराती है।[174] इस कुट्टनी के माध्यम से तत्कालीन समाज पर व्यंग करते हुये लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि वेश्यायें किस प्रकार से समाज का चरित्र हनन करती थीं और राजकीय चहारदिवारी में वह अमोद-प्रमोद का साधन होने के साथ राजकीय आय का श्रोत भी थी।[175] तत्कालीन समाज के अन्दर का यह दृश्य कुट्टनीतम् से बहुत स्पष्ट हो जाता है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस समय के समाज में ये मर्यादेत्तर नारियां अपनी मर्यादाओं में रहते हुये दूसरे लोगों को एक ओर इस कार्य से औरों को पृथक रहने का संदेश देती थीं तो दूसरी तरफ लोगों को पथभ्रष्ट भी करती थीं।

अधीतकाल में स्त्रियों का एक वर्ग धार्मिक प्रतिष्ठानों में अधार्मिक कृत्य में भी लगा दिखायी पड़ता है। यद्यपि उसे धार्मिकता की एक अत्यन्त ही मोटी चादर से ढका गया था विशेषकर दक्षिण भारतीय मन्दिरों में मिलने वाली यह प्रथा देवदासी प्रथा के नाम से प्रचलित हुई। प्रारम्भ में देवालयों में इनके औचित्य का अनुमोदन इस रूप में किया जाता था कि ये देवकन्यायें हैं और ये सर्वदा निश्पाप व निष्कलंक है।[176] और धीरे-धीरे धार्मिक संघो में बढ़ते हुये भ्रष्टाचार[177] ने जो इस युग की एक प्रमुख विशेषता थी, इन देवदासियों को यौन शोषण[178] तक के लिये विवश कर दिया और इसके पीछे तर्क यह दिया कि इनका उपभोग देवताओं के लिये किया जा रहा है। यही नहीं इन देवदासियों को दासी वृत्ति[179] में भी संलग्न देखा जा

सकता है। यह अधीतकालीन सामाजिक परिवर्तन धर्म संघों की आड़ में संस्थागत दासता[180] एवं वेश्यावृत्ति को समाज में स्थापित करने का एक उपक्रम था। इस प्रकार ईश्वर की पूजा तथा आराधना के लिये तथा उन्हें प्रसन्न करने के लिये मन्दिरों में नर्तकियों का होना आवश्यक है। इस विचारधारा ने 6वीं शती तक काफी जोर पकड़ लिया था। जिसके परिणामस्वरूप देवदासी वर्ग की उत्पत्ति हुई देवदासी वर्ग की उत्पत्ति ने स्त्रियों की स्थिति में एक बड़ा परिवर्तन किया क्योंकि धर्म के नाम पर प्रारम्भ की गयी इस प्रथा में विकृति आ गयी तथा शासक वर्ग इन देवदासियों का प्रयोग व्यक्तिगत आनन्द के लिये करने लगे थे। वैसे यह कहना तो कठिन है कि 6वीं शताब्दी से पूर्व मन्दिरों में देवदासियां रखी जाती थीं या नहीं विशाल नाट्य मण्डपों का नवीं शती में उपलब्ध होना[181] तथा विदेशी यात्री अलबरूनी के विवरण से इसकी पुष्टि होती है कि देवदासी प्रथा गुप्तकाल के पश्चात् विकसित हुई[182] जो स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन का संकेत था।

पूर्वमध्यकाल के समाज पर एक सूक्ष्म दृष्टि डालने पर स्त्रियों के संदर्भ में आर्थिक स्थिति में परिवर्तन के रूप में साम्पात्तिक विशेषाधिकार प्रदान करना स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। अधीतकाल के अधिकांश व्यवस्थाकारों[183] ने स्त्रियों के इस अधिकार की चर्चा की है। यद्यपि स्त्री को सम्पत्ति में अधिकार मिलना चाहिये इसके लिये प्राचीनकाल से कई धर्मशास्त्रकारों[184] ने जोर दिया था। वैदिक युग में पुत्री भाई के नहीं रहने पर सम्पत्ति की उत्तराधिकारी समझी जाती थी। परन्तु दूसरी सदी ई0पू0 में जब उनकी शिक्षा पर प्रतिबन्ध लगाया गया तो उसका प्रभाव सम्पत्ति विषयक अधिकार पर भी पड़ा जिससे आगे आने वाले धर्मशास्त्रकारों मनु,[185] गौतम,[186] वशिष्ठ[187] ने पुत्री के उत्तराधिकार की बात स्वीकार नहीं की। यहां पर यह उल्लेखनीय है कि कौटिल्य ने भी पुत्री के प्रति सदाशयता दर्शित करते हुये अभ्रात कन्या को उत्तराधिकारिणी घोषित किया चाहे उसे कम हिस्सा ही क्यों न मिले। याज्ञवल्क्य ने दृढ़तापूर्वक पुत्री के हित में अपने विचार प्रकट किये तथा निर्देश दिये कि पुत्र और विधवा के अभाव में पुत्री उत्तराधिकारिणी है। बृहस्पति[188] और नारद[189] ने यह तर्क दिया कि क्या पुत्री अपने पिता की पुत्र के समान संतान नहीं है फिर पुत्र

न होने पर उसे उत्तराधिकारिणी क्यों नहीं माना जा सकता। कात्यायन[190] ने तो स्पष्ट लिखा है कि पुत्र के अभाव में पुत्री का सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार है। अलबरूनी ने भी पुत्र के अभाव में पुत्री के उत्तराधिकार के नियम की पुष्टि की है। जीमूतवाहन[191] तथा विज्ञानेश्वर[192] दोनों शास्त्रकारों ने कन्या को पुत्र के चौथाई हिस्से की उत्तराधिकारिणी होने की बात की है। शुक्र के अनुसार यदि पिता अपने जीवनकाल में सम्पत्ति का बटवारा करे तो उसे निम्नलिखित अनुपात में सम्पत्ति का विभाजन करना चाहिये- पत्नी का भाग, प्रत्येक पुत्र का एक, भाग और पुत्री का आधा भाग इस प्रकार पूर्वमध्ययुग में पुत्री का सम्पत्ति पर अधिकार की बात पूर्ण रूप से स्वीकार कर ली गयी थी। पत्नी के संदर्भ में यदि हम सम्पात्तिक अधिकार को देखें तो प्राचीनकाल में पत्नी को चल सम्पत्ति समझा जाता था। अतः उसके स्वयं सम्पत्ति की स्वामिनी का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ऋग्वेद[194] से ज्ञात होता है कि पति अपनी पत्नी को जुएं में दांव पर लगा सकता था इसी आधार पर हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी शैव्या को बेचने को तैयार था। युधिष्ठिर ने भी द्रोपदी को जुएं के दांव पर लगा दिया था। यद्यपि युधिष्ठिर के इस कार्य की सबने प्रशंसा नहीं की थी।[195] कालान्तर में परिवार की सम्पत्ति पर संयुक्त स्वामित्व को स्वीकार किया गया; जिसके अनुसार पति की अनुपस्थिति में पत्नी परिवार के लिये धन व्यय कर सकती थी। याज्ञवल्क्य[196] ने पत्नी के अधिकारों को विस्तृत करते हुये कहा कि यदि पति अनुचित रूप से आज्ञाकारिणी, कुशल, वीर पुत्रों को जन्म देने वाली, मृदुभाषी हो तो पत्नी से विवाह विच्छेद लेते पति को उसे सम्पत्ति का तिहाई भाग देना चाहिये परन्तु समाज ने स्त्री के इस अधिकार को स्वीकार नहीं किया। इस युग में महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि जहां प्रारम्भिक स्मृतिकारों ने पत्नी को अपना अधिकार प्राप्त करने के लिये न्यायालय जाने की अनुमति नहीं दी थी।[197] वहीं विज्ञानेश्वर[198] ने यह व्यवस्था की कि यदि कोई पति अपनी गुणवती पत्नी को छोड़ दे, या जानबूझकर उसकी सम्पत्ति का दुरुपयोग करे, या उसे वापिस नहीं दे तो पत्नी न्यायालय में जाकर अपने दुःखों को दूर कर सकती है। परन्तु उसके साथ-साथ वह यह कहने में पीछे नहीं रहा कि पत्नी को पति की आज्ञा के बिना सम्पत्ति

व्यय करने का कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार सिद्धान्त में तो पत्नी को सम्पत्ति में अधिकार मिल गया था परन्तु व्यवहार में पति ही उसका पूर्ण स्वामी था वह अपनी इच्छानुसार इस धन का उपयोग नहीं कर सकती थी।

पूर्वमध्ययुग का एक परिवर्तन स्त्री धन के क्षेत्र का विस्तार होना भी था। सातवीं शताब्दी के बाद स्मृतिकारों[199] ने स्त्री धन में कुछ अन्य धनराशियां भी सम्मिलित कर दी जैसे देवल[200] ने निर्वाह के लिये मिले धन और आकस्मिक रूप से मिली धनराशियों की भी इसी धन में गणना की है। विज्ञानेश्वर[201] ने स्त्री धन में उस सभी सम्पत्ति को गिना है जो किसी स्त्री को उत्तराधिकार में मिली हो।

इस प्रकार स्त्री धन का क्षेत्र इतना व्यापक कर दिया कि उसमें सभी प्रकार से प्राप्त सम्पत्ति स्त्री धन में शामिल हो गयी, जबकि इस युग में यदि विज्ञानेश्वर[202] और देवल[203] जैसे धर्मशास्त्रकार हुये तो विश्वरूप और जीमूतवाहन[204] आदि भी थे जो स्त्री धन को सीमित रखना चाहते थे।

विधवा के सम्पत्ति विषयक अधिकार में परिवर्तन-

पूर्वमध्ययुग में सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन विधवा स्त्री की स्थिति में आया, जिसको इस काल में सम्पत्ति का अधिकार दिया गया। पुत्री व पत्नी दोनों के अधिकार की बात तो प्राचीनकाल से ही चल रही थी। परन्तु विधवा को सम्पत्ति का अधिकार देना अपने आप में पूर्वमध्ययुग में स्त्री की दशा में सुधार के निमित्त किया गया एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था। यद्यपि यहां पर विचारणीय है कि विधवा स्त्री को यह छूट देने के पीछे तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियां उत्तरदायी थीं; क्योंकि पुनर्विवाह, नियोग पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाने के बाद स्त्री के जीवन-यापन के लिये कुछ प्रतिबन्ध करना आवश्यक ही था। जबकि प्राचीनकाल में समाज में पुनर्विवाह के लिये कोई रोक नहीं थी तो सम्पत्ति के अधिकार की कोई आवश्यकता स्त्री ने महसूस भी नहीं की थी, पर जब अल्पायु में विधवा होने से लेकर ब्रम्हचर्य तक की कठिन सीढ़ियां पार करने के लिये विवश की गयी तो उनकी आजीविका के लिये आर्थिक अधिकार प्रदान करना धर्मशास्त्रकारों की विवशता रही होगी।

पूर्वमध्ययुग में विधवा स्त्री को सम्पत्ति में अधिकार मिलना चाहिये या नहीं इसके संदर्भ में धर्मशास्त्रकारों के मध्य मतभेद विद्यमान था।[205] नारद[206] कात्यान[207] और मालवा के राजा भोज[208] का मत था कि विधवा को किसी भी दशा में दाय नहीं मिलना चाहिये। नारद ने उत्तराधिकारी के अभाव में मृत व्यक्ति की सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार स्वीकार किया और विधवा को केवल भरण-पोषण के लिये धन प्रदान करने का निर्देश दिया है। जबकि दाय भाग[209] और मिताक्षरा[210] के अनुसार मृत पति के सम्पूर्ण धन को पुत्र के अभाव में विधवा प्राप्त करती रही हैं। यहां पर उल्लेखनीय है कि प्रारम्भिक धर्मशास्त्रकारों ने यह विचार व्यक्त किया कि विधवा को स्त्री धन के अतिरिक्त 2000/- से 3000/- पण तक की सम्पत्ति मिलनी चाहिये।[211]

जबकि कुछ ने विरोध करते हुये कहा कि स्त्री को केवल चल सम्पत्ति मिलनी चाहिये क्योंकि अचल सम्पत्ति पर पूर्ण परिवार का स्वामित्व होता है।[212] इस सम्बन्ध में सुधारवादी स्मृतिकारों [213] ने यह तर्क दिया कि परिवार की सम्पत्ति के पति व पत्नी संयुक्त स्वामी होते हैं। अत: विधवा को पति की सम्पत्ति अवश्य मिलनी चाहिये। याज्ञवल्क्य[214] ने तो विधवा माता और पुत्री को मृत पुरुष की आधी सम्पत्ति मिलने की बात की है।

हारीत[215] यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि युवावस्था में विधवा होने के बाद स्त्री कर्कशा हो जाती है, इसलिये उसे जीवन-यापन के लिये उचित अंश प्रदान करना चाहिये। अग्निपुराण[216] में जीवित पिता द्वारा अप्राप्त स्त्री धन वाली पत्नी को पुत्रों के बराबर अंश देने का प्रसंग है। इस पर पिता के मरने के बाद भी विधवा का ही अधिकार होता है। यदि विभाजन पिता के मरने के बाद पुत्रों द्वारा किया जाता है तो विधवा भी पुत्रों के बराबर अधिकार प्राप्त करती है। ऐसी विधवा जिसके बच्चे अल्पवयस्क हो या जिसके कोई समर्थ निकटतम सम्बन्धी न हो या वह अपने खराब स्वास्थ्य के कारण उसको रखने में असमर्थ हो तो राजा को इस तरह की विधवाओं की सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिये और उसका अपहरण करने वालों को चोरों की तरह दण्डित करना चाहिये।

10वीं से 12वीं सदी तक उत्तर भारत में भी पुत्रहीन व्यक्ति की विधवा स्त्री को पति की चल और अचल सभी प्रकार की सम्पत्ति का पूर्ण दायाधिकार मिल गया था। इस समय तक यह भी मान्यता प्रतिष्ठित हो चुकी थी यदि पति अपनी पत्नी को कोई धन देने के लिये प्रतिबद्ध होकर मरे तो उसके पुत्रों पर वह ऋणस्वरूप होता था जिसे वे प्रदान करते थे।[217] कथा सरित्सागर[218] में चरितवार्ता विधवा के मृत पति की सम्पत्ति के पूर्ण दायदी होने का उल्लेख है। इसी समय के विदेशी इतिहासकार अलबरूनी[219] ने इसका कोई उल्लेख नहीं किया। उसने परिवार के सदस्यों द्वारा विधवा स्त्री के भरण-पोषण करने का उल्लेख किया है।

विवेचित काल में दक्षिण पश्चिम भारत में विधवाओं को सम्पत्ति का अधिकार नहीं मिल सका था। धारा नरेश भोज[220] ने भी विधवा स्त्री के पति की सम्पत्ति पर अधिकार को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने नियोग अपनाने वाली विधवा को ही दायादी माना अन्य, को नहीं।

गुजरात में यह अधिकार 12वीं शताब्दी तक नहीं मिल पाया था।[221] एक नाटक में गुजरात के राजा कुमारपाल के पूर्व के राजाओं के विषय में यह लिखा है कि वे अपने निःसंतान प्रजाओं के मरने की प्रतीक्षा किया करते थे ताकि वे उनकी विधवा का धन ग्रहण कर सके। यह प्रचलन कुमार पाल के समय में भी बना रहा।[222]

राजपूतकाल में उच्च वर्ग में यदि विधवा के कोई पुत्र नहीं होता था तो राजा उसकी सम्पत्ति का अधिग्रहण करता था। कई जनजातियों उदाहरणार्थ- भील, बंजारा, नट, मीणा आदि में जहां स्त्रियों में पर्दा प्रथा नहीं थी और जो पति के साथ-साथ धनोपार्जन करती थीं, तथा स्वावलम्बी होती थीं, वहां सती प्रथा और सम्पत्ति अधिकार से वंचित करने की मान्यताएं नहीं प्रचलित हो पायी थीं।[223]

विज्ञानेश्वर[224] जो चालुक्य सम्राट विक्रमादित्य षष्ठ के न्यायाधीश थे, के विधवा स्त्री को दायादी स्वीकार करने के बाद दक्षिण भारत में यह विचारधारा तटस्थ हो गयी, जिसका समर्थन कुछ अभिलेखिक प्रमाणों से भी होता है। कर्नाटक से हस्तगत

12वीं सदी के एक लेख अभिलेख में विधवा को पुत्र के बाद सहउत्तराधिकारी बताया गया है। इसी प्रकार इसी समय के तंजौर जनपद से प्राप्त एक अन्य अभिलेख में भी पत्नी (विधवा) को पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बताया गया है।[225]

बारहवीं शताब्दी में बंगाल के महान विधिवेत्ता जीमूतवाहन[226] ने संतानहीन विधवा को उसके पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति का उत्तराधिकारी स्वीकार किया। उनका मत विज्ञानेश्वर से इस संदर्भ में प्रगतिशील था कि उन्होंने इसे मात्र विभक्त परिवार में ही नहीं अपितु संयुक्त परिवार में भी स्वीकार किया। जीमूतवाहन ने उन दोनों विचारधाराओं का उल्लेख किया है जो अपुत्रक पति के मरने पर सम्पत्ति को मातृगामी, पितृगामी या ज्येष्ठापत्निगामी मानते हैं या जो विधवा को भरण-पोषण मात्र का अधिकारी मानते हैं। उन्होंने इन दोनों का खण्डन किया और विस्तार से विधवा के पति की सम्पत्ति पर दायाधिकार की व्याख्या की है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पूर्वमध्ययुग में सम्पत्ति विषयक अधिकार स्त्री को प्रदान करना एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था। समाज की बदलती हुई परिस्थितियों में पुरुष के समान ही स्त्रियों को आर्थिक अधिकार प्रादन करने की आवश्यकता व्यवस्थाकारों ने महसूस की और अनेक विरोधों के बावजूद आंशिक रूप से अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। यद्यपि प्राचीनकाल में धर्मशास्त्रकारों ने स्त्रियों के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व पति और सम्बन्धियों पर डाला था, पर कालान्तर में जब संयुक्त परिवार में भरण-पोषण की व्यवस्था में कठिनाई उत्पन्न हुई तो उनके सगे सम्बन्धी भी विपत्तिकाल में स्त्री की सहायता करने से पीछे हटने लगे। इन विसंगतियों को ध्यान में रखते हुये पूर्वमध्ययुगीन व्यवस्थाकारों[227] ने स्त्री के साम्पत्तिक अधिकार की व्यवस्था की, जो शायद तत्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति को देखते हुये आवश्यक भी था। स्त्री धन को पर्याप्त महत्व मिलने के कारण कतिपय इतिहासकारों[228] ने यह मत व्यक्त करना प्रारम्भ किया कि पूर्वमध्यकाल में भारतीय आर्थिक दशा काफी सुदृढ़ हो गयी थी और सामाजिक रूप से स्त्रियों को उच्च सम्मानजनक स्थान प्राप्त होने लगा था। इसलिये उनकी अनदेखी नहीं की जा सकती थी। दूसरी तरफ विदेशी आक्रमणकारियों के बार-बार हमलों से

तत्कालीन समाज स्त्रियों को कठोर निगरानी में रखने का पक्षधर था, इसलिये वह उन्हें ऐसे साम्पत्तिक अधिकारों से मुक्त करना चाह रहा था; यह एक ऐसा प्रश्न है जो यद्यपि अनुत्तरित सा है। जो कुछ भी हो लेकिन पूर्वकाल की अपेक्षा पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज में यदि नारी की सामाजिक हैसियत में कुछ कठोर प्रतिबन्ध दिखायी पड़ते हैं तो आर्थिक क्षेत्र में उनकी मजबूत पकड़ का प्रमाण भी दिखायी पड़ता है। ऐसा लगता है कि परिवार में तो स्त्रियां अनेक अधिकारों से युक्त थी लेकिन सामाजिक दृष्टि से उन पर अनेक प्रतिबद्धतायें आरोपित कर दी गयी। अतएव पूर्वमध्यकालीन नारी एक ऐसे द्वैध में फँसी हुई दिखायी पड़ती है जो आर्थिक दृष्टि से तो अपेक्षाकृत सम्पन्न थी लेकिन सामाजिक दृष्टि से वह कई कुरीतियों में जकड़ी हुई थी।

अधीतकाल की नारी का दुहरा व्यक्तित्व उसकी सामाजिक हैसियत को देखने से भी मालूम होता है। एक वर्ग सम्पन्नता की चादर में लिपटा हुआ था दूसरा किसी के टुकड़ों का मोहताज था और दोनों स्थितियों में कोई पारस्परिक संतुलन नहीं दिखायी पड़ता। क्योंकि पूर्वमध्यकालीन समाज में स्त्री कई रूपों में विद्यमान थी, कहीं सैन्य संचालन करती तो कहीं वीर गति प्राप्त पति के साथ सती होती हुई दिखायी गयी है, कहीं विधवा के रूप में अपमानित जीवन व्यतीत करती थी, कहीं दासी के रूप में शुभ व अशुभ दोनों प्रकार के कार्य सम्पन्न करती थी। कहीं गणिका के रूप में राजदरबार की शोभा बढ़ाती हुई व कहीं वेश्या के रूप में समाज को पथभ्रष्ट करती हुई, तथा कहीं घूंघट में लिपटी हुई और कहीं पर उन्मुक्त अवस्था में दिखायी पड़ती है। इन सभी पक्षों का सूक्ष्मावलोकन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन सामाजिक परिवर्तन की मुख्य धारा में यदि पूर्वकाल की अपेक्षा इस युग में इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार दिखायी देता है तो सामान्य परिवारों में उनकी दयनीय स्थिति का भी बोध होता है। यदि बाह्य आक्रमण जैसी अव्यवस्थाओं के कारण इन्हें कठोर यातनापूर्ण जिन्दगी व्यतीत करनी पड़ती थी तो कहीं पर इन्हें व्यापारिक वस्तु के रूप में भी रखा गया। सामान्यतया स्त्रियों की स्थिति इस युग में अधिक अच्छी नहीं थी। अपवाद स्वरूप राजकीय परिवेश में रहने वाली स्त्रियां

आराम का जीवन व्यतीत करती थीं। पूर्वकाल की अपेक्षा पूर्वमध्यकालीन समाज स्त्रियों के लिये अनेक ऐसी धर्मशास्त्रीय मान्यताएं स्थापित करता दिखायी पड़ता है जिसको ऊपर से देखने पर बड़ा अच्छा लगता है लेकिन व्यावहारिक धरातल पर उसकी परिणति कुछ और ही दिखायी पड़ती है। आदर्श और यथार्थ का यह भेद स्त्रियों के संदर्भ में इस युग की एक प्रमुख विशेषता मानी जा सकती है जो तत्कालीन सामाजिक परिवर्तन की दिशा को निर्धारित करती है।

-: 0 :-

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पंचम संस्करण, पटना, पृ0 414-16 ।
2. ईश्वरी प्रसाद, भारतीय इतिहास, संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म तथा दर्शन : इलाहाबाद 1990, पृ0 393 ।
3. वही, पृ0 418-21 ।
4. वही।
5. तैत्तिरीय ब्राम्हण- 3.75 ।
6. सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी अधिदेवृष। - ऋग्वेद, 10.85.46 ।
7. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 446 ।
8. सिंह, पारसनाथ, हर्षकालीन समाज, वाराणसी, 1979, पृ0 42 ।
9. हर्षचरित, चतुर्थ उच्छवास, पृ0 201 ।
10. इंसक्रिप्शंस ऑफ बंगाल, जिल्द 3, पृ0 123 ।
11. मिश्र, उर्मिला प्रकाश, प्राचीन भारत में नारी, भोपाल, 1987, पृ0 72 ।
12. लक्ष्मण मंदिर, बायीं बालकनी की प्रदक्षिणा में अंकित दृश्य।
13. कथासरित्सागर, भाग-1, 1.3.12 ।
14. दशाकुमार चरित, पृ0 164 ।
15. मनु पर मेघातिथि की टीका, 9.1, 1.32 ।
16. मनु0, 9.3 ।

    पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।

    रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्रयमर्हति ।।
17. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0, पृ0 400 ।

18. याज्ञवल्क्य पर विज्ञानेश्वर की टीका, 2.32 ।

19. मेघातिथि, 1.70 ।

20. वही, 9.74 ।

21. वही, 8.29 ।

22. मेघातिथि, 9.76 ।

23. ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, दिल्ली, 1975, पृ0 1891 ।

24. वही।

25. मनु0 2.67, याज्ञ0, 1.113 ।

26. श्रीवास्तव, के0 सी0, भारत की संस्कृति तथा कला, इलाहाबाद, 1988, पृ0 129 ।

27. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0, पृ0 416-17 ।

28. श्रीवास्तव, के0 सी0, पूर्वो0, पृ0 1301 ।

29. गौ0 ध0 सू0, 18, 20, 30, बौ0 ध0 सू0, 4.10, 12-14. ।

30. मनु0, 2.67 ।

31. कथासरित्सागर, भाग-2, 8.4, 104 ।

32. मिश्र, उर्मिला प्रकाश, पूर्वो0, पृ0 63 ।

33. वही, पृ0 64 ।

34. वही, पृ0 64 ।

35. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 420 ।

36. शर्मा, बी0 एन0 सोशल लाइफ इन नार्दन इंडिया, दिल्ली, 1966, पृ0 131

37. शंख स्मृति, 4.3 ।

38. पृथ्वीराज विजय, जंगमकथा, पृ0 548-44 पद्य 5, 6, 7 ।

39. काणे, पी0 वी0 धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, लखनऊ 1963, पृ0 299

40. प्रियदर्शिका, 3, धर्मशास्त्र विहित एवं गांधर्वो विवाह :

41. मिश्र, उर्मिला प्रकाश, पूर्वो0, पृ0 54 ।

42. वही।

43. विष्णु स्मृति, 24.22 ।

44. मिश्र, उर्मिला प्रकाश, पूर्वो0 ।

45. वही।

46. मिश्र, उर्मिला, प्रकाश, पूर्वो0 ।

47. एपिग्राफिया इंडिका, 18, पृ0 95 ।

48. इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द 21, पृ0 255 ।

49. झा एवं श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली 1981, पृ0 381 ।

50. याज्ञ0 3.283 ।

मनु0 स्मृति, 31.4 ।

51. याज्ञ0, 1.88 ।

यदि स्वाश्चापरश्चैव विन्देरन्योषितो द्विजा।

तासां वर्णक्रमेण स्याज्ज्जपैष्ठ्य पूजा च वेश्मच।।

52. मिश्र, उर्मिला, प्रकाश, पूर्वो0, पृ0 57 ।

53. राजतरंगिणी, 7.10 ।

54. मिश्र, उर्मिला, प्रकाश, पूर्वो0, पृ0 56 ।

55. सचाऊ, एडवर्ड, अलबेरूनीज इडिया, भाग-2 लंदन 1910, पृ0 155-6 ।

56. काणे, पी0 वी0, पूर्वो0, पृ0 278 ।

57. म0 पु0, 30-18 ।

58. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 343 ।

59. इंसक्रिप्शंस ऑफ बंगाल, जिल्द 3, पृ0 15 ।

60. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 9, पृ0 324 ।

61. वही, जिल्द 1, पृ0 200 ।

62. मिश्र, उर्मिला, प्रकाश, पूर्वो0, पृ0 77 ।

63. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 9, पृ0 324 ।

64. वही, जिल्द 26, श्री सीपकस्य भार्ये प्रे।

65. वही, जिल्द 11, पृ0 61 ।

66. वही, जिल्द 12, पृ0 211 ।

67. नादवीं, एस0 ए0 पूर्वो0 पृ0 27 ।

68. रामायण, 1.66.67 ।

69. मिश्र, उर्मिला, प्रकाश, पूर्वो0, पृ0 58 ।

70. कादम्बरी, पृ0 522 ।

71. मिश्र, उर्मिला, प्रकाश, पूर्वो0, पृ0 59 ।

72. वही।

73. मिश्र, उर्मिला, प्रकाश, पूर्वो0, पृ0 60 ।

74. मनुस्मृति पर मेघातिथि की टीका, 9.4 ।

75. सचाऊ, एडवर्ड, पूर्वो0 पृ0 131 ।

76. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 342-43 ।

77. प्रसाद, ईश्वरी, पूर्वो0 पृ0 371-72 ।

78. वही।

79. वही।

80. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 436-37 ।

81. दक्ष स्मृति, 4.18, 19 ।

82. श्रीवास्तव, के0 सी0, प्राचीन भारत की संस्कृति, पृ0 305 ।

83. शर्मा, रामशरण, पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था पर प्रकाश, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1987,पृ0 31-39 ।

84. मिश्र, उर्मिला, प्रकाश, पूर्वो0, पृ0 105 ।

85. प्रसाद, ईश्वरी, पूर्वो0 पृ0 414-15 ।

86. वही।

87. दक्ष, स्मृति, 4-18-19 ।

88. श्रीवास्तव, के0 सी0 प्राचीन भारत की संस्कृति, पृ0 305 ।

89. फ्लीट, जे0 एफ0 गुप्ता इंसक्रिप्शंस, वाराणसी 1963, पृ0 9 ।

90. सिंह पारसनाथ, पूर्वो0, पृ0 44 ।

91. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0, पृ0 439-40 ।

92 प्रसाद, ईश्वरी, पूर्वो0, पृ0 414-15 ।

93. वही।

94. मिश्र, उर्मिला, प्रकाश, पूर्वो0, पृ0 100 ।

95. वही।

96. महाभारत, 95.65 ।

97. कामसूत्र, 6.2.53 ।

98. कथासरित्सागर, द्वितीय खण्ड, 10.2.31 ।

99. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0, पृ0 440-41 ।

100. वही।

101. वही।

102. वही।

103. प्रसाद, ईश्वरी, पूर्वो0, पृ0 415-16 ।

104. वही।

105. काणे0 पी0 वी0, पूर्वो0 भाग-1, पृ0 344 ।

106. वही।

107. मिताक्षरा, 1.86 ।

108. महाभारत, स्त्रीपर्व, 23.24 ।

109. सचाऊ, एडवर्ड, पूर्वो0, जिल्द-2, पृ0 155 ।

110. काणे, पी0 वी0, पूर्वो0, भाग-1, पृ0 344 ।

111. सचाऊ, एडवर्ड पूर्वो0, जिल्द-2, पृ0 155 ।

112. राजतरंगिणी, 5.226 ।

113. काणे, पी0 वी0, पूर्वो0 ।

114. सचाऊ, एडवर्ड, पूर्वो0 ।

115. प्रसाद, ईश्वरी, पूर्वो0 पृ0 414 ।

116. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0, पृ0 441 ।

117. वही।

118. कथा सरित्सागर, 10.58 ।

119. राजतरंगिणी, 7.103 ।

120. मिश्र, जयशंकर, 438-39 ।

121. वही।

122. आर्केलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोटर्स्, भाग-7, 1871-72, पृ0 136 ।

123. वही, भाग-10, 1874-75 एवं 1876-77 पृ0 75 ।

124. मिश्र, उर्मिला प्रकाश, पूर्वो0, पृ0 107. ।

125. राजतरंगिणी, 5.226.7 6.197 ।

126. सचाऊ, एडवर्ड, पूर्वो0, जिल्द 2, पृ0 155 ।

127. ओमप्रकाश, पूर्वो0, पृ0 124-25 ।

128. वही।

129. वही।

130. हर्षचरित, पंचम उच्छवास।

131. काणे, पी0 वी0, पूर्वो0, भाग-1, पृ0 333 ।

132. वही।

133. हर्षचरित, चतुर्थ उच्छवास, पृ0 240 ।

134. मिश्र, उर्मिला, प्रकाश, पूर्वो0, पृ0 108 ।

135. वही।

136. सचाऊ, एडवर्ड अलबेरुनी का भारत, तृतीय भाग-69, परिच्छेद, लंदन 1888 पृ0 191 ।

137. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 16, पृ0 246, पंक्ति 16 ।

138. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 435-36 ।

139. वही।

140. वही।

141. सचाऊ, एडवर्ड, अलबेरुनी का भारत, तृतीय भाग, 69, परिच्छेद, लंदन 1888, पृ0 199 ।

142. ओमप्रकाश, पूर्वो0, पृ0 124-25 ।

143. वही।

144. वही।

145. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0, पृ0 436 ।

146. प्रसाद, ईश्वरी, पूर्वो0 पृ0 412-13 ।

147. वही।

148. वही।

149. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0, पृ0 368 ।

150. प्रसाद, ईश्वरी, पूर्वो0, ।

151. वही।

152. स्कन्दपुराण, 4.55.75 ।

153. सचाऊ, एडवर्ड, पूर्वो0 ।

154. वशिष्ठ स्मृति, 1766 ।

155. मिश्र, उर्मिला, प्रकाश, पूर्वो0, पृ0 110 ।

156. वही।

157. सचाऊ, एडवर्ड, पूर्वो0 ।

158. कामसूत्र, 4.2 ।

159. प्रबन्ध चिन्तामणि, प्रकरण, 184, एनाल्स ऑफ द भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, 9.174 ।

160. मेघातिथि, 4.176 ।

161. मिश्र, उर्मिला, प्रकाश, पूर्वो0, पृ0 115 ।

162. दशकुमारचरित, उत्तर पीठिका, द्वितीय उच्छवास।

163. मिश्र, उर्मिला, प्रकाश, पूर्वो0, पृ0 ।

164. सचाऊ एडवर्ड, पूर्वो0 पृ0 202 ।

165. काव्यविलास, 4.12 ।

166. श्रृंगार छाट, ईश्वर प्रदत्त प्रणीत धूर्तव्रिट संवाद, श्लोक 31 ।

167. कथासरित्सागर, 10-57-176 ।

168. श्रृंगार हाट, भूमिका, पृ0 63 ।

169. कथासरित्सागर, 2.7 3.160 ।

170. वही।

171. मिश्र, उर्मिला प्रकाश, पूर्वो0 पृ0 116-17 ।

172. वही।

173. अर्किलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, एनुअल रिपोंटर्स 1908, 9, पृ0 119

174. राजशेखर ने कुट्टनीमतम नामक ग्रन्थ लिखकर तत्कालीन समाज पर अत्यन्त करारा व्यंग्य किया है। विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये- यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

175. पाण्डेय रामजी, पुराणों में वर्णित गणिकाओं की स्थिति, प्रोसीडिंग्स ऑफ द यू0 जी0 सी0 नेशनल सेमीनार ऑन पोजीशन एण्ड स्टेट्स ऑफ वूमेन एन ऐश्येन्ट इंडिया, वाराणसी 1988, जिल्द ।

176. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये- प्रसाद ए0 के0 देवदासीज इन कर्नाटक, प्रोसीडिंग्स ऑफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, बर्दवान सत्र 1984, पृ0 150-152 ।

177. द्विवेदी लवकुश प्राचीन भारत में दास प्रथा अप्रकाशित शोध प्रबन्ध इलाहाबाद, अध्याय-51 ।

178. वही।

179. वही।

180. वही।

181. वही।

182. वही।

183. ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, पृ0 131-37

184. वही।

185. मनुस्मृति, 9.185 ।

186. गौतम धर्मसूत्र, 28.21 ।

187. वशिष्ठ धर्मसूत्र 15.7 ।

188. बृहस्पति स्मृति, 15.35 ।

189. नारद स्मृति, 13.50 ।

पुत्राभावेतु दुहिता तुल्य संतानकारणात्।

190. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 423 ।

191. जीमूतवाहन, दायभाग, 11.24.1 ।

192. मिताक्षरा, 2.135 ।

193. ओमप्रकाश, पूर्वो0, पृ0 135 ।

194. वही, पृ0 13 ।

195. महाभारत, 2.86, 40, 2, 89, 17 ।

196. याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.76 ।

197. ओमप्रकाश, पूर्वो0 पृ0 132 ।

198. याज्ञवल्क्य पर विज्ञानेश्वर की टीका, 2.32 ।

199. ओमप्रकाश, पूर्वो0 पृ0 133 ।

200. देवल स्मृति, वृत्तिरामरण शुल्क लाभश्च स्त्रीधनभवेत् द्वारा उद्धत- ओम प्रकाश, पूर्वो0 ।

201. याज्ञवल्क्य पर विज्ञानेश्वर की टीका, 2.143 ।

202. वही।

203. ओम प्रकाश, पूर्वो0 ।

204. वही।

205. ओमप्रकाश, पूर्वो0, पृ0 136 ।

206. नारदस्मृति, 13.52 ।

207. कात्यायन उद्धत याज्ञवल्क्य पर विज्ञानेश्वर की टीका, 2.136 ।

208. ओमप्रकाश, पूर्वो0 ।

209. दायभाग, खण्ड 13 ।

210. मिताक्षरा, याज्ञ0, 2.136 ।

211. व्यास, अपरार्क, पृ0 752, द्वारा उद्धत ।

212. ओमप्रकाश, पूर्वो0 पृ0 136 ।

213. स्मृतिचंद्रिका में बृहस्पति, पृ0 667 ।

214. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.115, 2.123 ।

215. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 422.23 ।

216. वही।

217. वही, पृ0 424-25 ।

218. वही।

219. वही।

220. ओमप्रकाश, पूर्वो0 ।

221. वही।

222. वही।

223. वही।

224. विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा, याज्ञ0, 2.135 ।

225. मिश्र, उर्मिला प्रकाश, पूर्वो0 ।

226. जीमूतवाहन, दाय भाग, 11.2.4, ।

227. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0, पृ0 421.27 ।

228. ऐसे इतिहासकारों में आर0 एस0 शर्मा, डी0 एस0 झा0 तथा बी0 एन0 एन0 यादव जैसे लोगों के नाम लिखे जा सकते हैं। ।

229. राजतरंगिणी, 7.200, ।

-: 0 :-

पंचम अध्याय

सामन्तवादी प्रक्रिया का विकासात्मक स्वरूप और सामाजिक परिवर्तन

पंचम अध्याय

सामन्तवादी प्रक्रिया का विकासात्मक स्वरूप और सामाजिक परिवर्तन

ईसा की छठी और सातवीं सदी के दौरान राज्य व्यवस्था, समाज, अर्थव्यवस्था, भाषा, लिपि और धर्म के क्षेत्र में अनेक गम्भीर परिवर्तन हुये। इस अवधि में प्राचीन भारतीय जीवन के बहुत सारे महत्वपूर्ण वैशिष्ट्रियों के स्थान पर मध्यकालीन जीवन वैशिष्ट्रिय अपने आसन जमाते रहे। मोटे तौर पर ये परिवर्तन एक भिन्न प्रकार के समाज और अर्थतंत्र की ओर प्रस्थान का संकेत करते हैं। सामान्यतया इसे सामन्तवाद कह सकते हैं।

इस प्रथा के अधीन किसान भूमि से बंधे होते थे और भूमि के मालिक वे जमींदार होते थे, जो असली काश्तकारों और राजा के बीच की कड़ी का काम करते थे। किसान जमीन जोतने के बदले सामंतों को उपज और बेठबेगार के रूप में लगान अदा करते थे, इस प्रणाली का आधार आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था थी, जिसमें चीजों का उत्पादन बाजार में बेचने के लिये नहीं बल्कि मुख्यतः स्थानीय किसानों और उनके मालिकों के उपयोग के लिये होता था।

इतिहासकारों[1] का वह वर्ग जो भारतीय सामंतवाद की तुलना यूरोपीय सामंतवाद से करता है उनके अनुसार यह घटनाक्रम विश्व के इतिहास में वैसा ही है, जैसा

कि ईसा की छठीं सदी में रोमन साम्राज्य के पतन के बाद, वास्तविक सत्ता भूस्वामियों के हाथ में आने पर, यूरोप में हुआ था, उसी प्रकार भारत में राज्य और किसानों के बीच एक भूस्वामी वर्ग प्रमुख हो चला था और शासन का संचालन जो पहले राज्य द्वारा नियुक्त अमले करते थे, अब ये भूस्वामी लोग करने लगे थे। रोमन साम्राज्य और गुप्त साम्राज्य दोनों पर हूणों के आक्रमण हुये लेकिन परिणाम भिन्न-भिन्न निकले। रोमन साम्राज्य पर हूणों और अन्य कबीलों का दबाव इतना पड़ा कि किसानों को जान बचाने के लिये अपनी स्वतंत्रता भूस्वामियों के चरणों में समर्पित कर देनी पड़ी। लेकिन भारत में हूणों के आक्रमण का ऐसा परिणाम नहीं हुआ।

रोमन साम्राज्य के विपरीत प्राचीन भारतीय समाज में उत्पादन कार्य में दासों को किसी बड़े पैमाने पर नहीं लगाया गया। भारत में उत्पादन करने और कर चुकाने का मुख्य भार किसानों, शिल्पियों, वणिकों और कृषि मजदूरों पर रहा, जो वैश्य और शूद्र की कोटि में रखे गये। ऐसे इतिहासकारों[2] का यह मानना है कि इस व्यवस्था के विरुद्ध लक्षण समाज में दिखायी देने लगे थे, जिसके चलते सीधे उत्पादकों से कर वसूल करना राज्य के अधिकारियों के लिये कठिन हो गया। इसके विभिन्न कार्यकर्ताओं को पारिश्रमिक के तौर पर भूमि देने की परम्परा बड़े पैमाने पर चल पड़ी। आरम्भ में भूमिदान केवल ब्राह्मणों और मन्दिरों को दिया जाता था, ठीक वैसे ही जैसे यूरोप में चर्च को दिया जाने लगा।

रामशरण शर्मा[3] का यह मानना है कि भारत और यूरोप दोनों जगह ईसा की छठी सदी में नगर उजड़ने लगे थे। भारत और यूरोप दोनों स्थानों में कृषि का विस्तार हुआ। जिससे गांवों में बस्तियां फैलीं। भारत में भूमिदान प्रथा से इसे बल मिला जिसने भारत और यूरोप दोनों जगह समाज, कला, स्थापत्य और साहित्य को नई दिशा देने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।[4]

इसके विपरीत इतिहासकारों[5] का दूसरा ऐसा वर्ग भी है जिनका यह मानना है कि भारत में सामंतवाद का जो प्रचलित रूप था वह संसार के अन्य भागों में विद्यमान सामन्तवाद जैसा नहीं था। अतएव इस वर्ग के इतिहासकारों ने इसे अर्द्ध सामन्तवाद या सामन्तवादी कहना उचित समझा। इस सम्बन्ध में रोमिला थापर[6] का

यह मत है कि इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करना व्यर्थ में सतर्क रहने की कोशिश मात्र है, विशेषकर जब यह पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है कि सामन्तवाद का भारतीय रूप विश्व के दूसरे सामन्तवादी रूपों से मुख्य रूप में समान होते हुये भी कुछ रूपों में उससे भिन्न है। उदाहरण के लिये भारतीय सामन्तवाद में आर्थिक अनुबन्ध पर उतना बल नहीं दिया गया जितना यूरोपीय सामन्तवाद के कुछ रूपों में दिया जाता था।

इतिहासकारों[7] ने अनेक बार यह सवाल उठाया है कि सामन्तवाद समाज में एक ही बार प्रकट हुआ है या बदले हुये कलेवरों में कई बार सामने आया। भारत के सम्बन्ध में इसका उत्तर इस बात पर निर्भर है कि सामन्तवाद से हमारा तात्पर्य क्या है? यदि हम राजनीतिक सत्ता के विघटन और प्रशासन के विकेन्द्रीकरण को ही सामन्तवाद मान लें तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना से पूर्व सामन्तवाद कई बार आया लेकिन यदि हम सामन्तवाद को एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था के रूप में देखे जिसमें किसानों की जमीन और देह पर अपने उच्चतर अधिकारों के द्वारा श्रीमन्त वर्ग उपज का सारा अतिरिक्त हिस्सा हड़प लेता था और किसानों के पास उतना ही छोड़ता था जितना खा पहनकर वे उस वर्ग के लाभ के लिये आगे भी मेहनत मशक्कत करते रह सकें तो कहा जा सकता है कि यह चीज भारत में गुप्तकाल से पूर्व कभी नहीं आयी। ऋग्वैदिककाल में कबीलों के सरदार जिन्हें पुरोहितों का समर्थन प्राप्त था, मुख्यतः युद्ध में प्राप्त लूट के माल पर जीवन यापन करते थे। उत्तर वैदिक और वेदोत्तर काल में सरकार और पुरोहित किसानों से प्राप्त उपज के एक हिस्से और शूद्रों द्वारा की जाने वाली तरह-तरह की सेवाओं के बल पर फलते-फूलते रहे। मौर्य और मौर्योत्तरकाल में ईस्वी सन के प्रारम्भ तक वे मुख्यतः नकद राजस्व पर निर्भर रहे जो प्रजा से वसूल किया जाता था। राज्य ने बहुत बड़ी तादाद में सिक्के जारी किये थे इसलिये नकद अदायगी और वसूली अब आसान हो गयी थी। वे दासों और किराये के मजदूरों की सेवाओं का भी उपयोग करते थे। इन किराये के मजदूरों (कर्मकरों) की स्थिति भी प्रायः वैसी ही थी जैसी बेगार करने वाले मजदूरों की होती थी और ये उत्पादन

के काम में लगाये जाते थे।[8] लेकिन गुप्तकाल से शासक वर्ग के सदस्य प्रधानतः जमीन से होने वाले राजस्व पर निर्भर रहने लगे जो उन्हीं के लिये निर्धारित किया जाता था, और फिर आठवीं सदी से वे सीधे जमीन का उपभोग करने लगे। स्वभावतः गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद की पाँच सीढ़ियों में किसान और कारीगर जमीन से इस तरह बांध दिये गये जैसा पहले कभी नहीं हुआ था, क्योंकि अब जमीन तो सीधे पुरोहितों, मन्दिरों, सरदारों, सामन्तों और राज्याधिकारियों के नियंत्रण में थी और सर्वसत्ता सम्पन्न स्वामी वर्ग ने वैसी ही व्यवस्था कायम की जो उसकी स्वार्थ सिद्धि के लिये सर्वाधिक उपयुक्त थी। भूमिधर मध्यवर्ती लोगों की राजनीतिक और आर्थिक शक्ति जितनी सुदृढ़ इस काल में हुई उतनी पहले किसी भी काल में नहीं हुई थी। मुस्लिम सल्तनत की स्थापना से पूर्व के मध्यकाल को हम पुरातन सामन्तवाद का चरमोत्कर्षकाल कह सकते हैं। क्योंकि मुसलमानों ने यहां फिर से नकद अदायगी का चलन बड़े पैमाने पर शुरू कर दिया।[9] जिससे किसानों पर भूमिधर मध्यवर्ती लोगों का प्रत्यक्ष नियंत्रण बहुत ढीला पड़ गया।

पूर्वमध्यकाल का सारा राजनीतिक ढांचा भूमि अनुदानों के आधार पर खड़ा किया गया था, ओर धार्मिक तथा धर्मोत्तर दोनों तरह के भोक्ताओं का परम ध्येय यह बन गया था कि चाहे जैसे हो वे अपने प्रतिद्वन्दियों तथा किसान विद्रोहों का सामना करते हुये छोटे-छोटे सामन्त राज्यों का अस्तित्व बनाये रखें ताकि उनके हितों की रक्षा कर सकें लेकिन भारतीय सामन्तवाद भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से गुजरा। गुप्तकाल तथा बाद की दो सदियों में मन्दिरों और ब्राह्मणों को भूमि अनुदान दिया जाना प्रारम्भ हुआ और पालों, प्रतिहारों तथा राष्ट्रकूटों के राज्यों में ऐसे अनुदानों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती गयी और साथ ही उनके स्वरूप में भी बुनियादी परिवर्तन हुये। प्रारम्भिककाल में अनुदानभोगियों को केवल उपभोगाधिकार भी दिये जाने लगे। ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में अनुदानों का यह सिलसिला अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया और उत्तरी भारत अनेक छोटी-छोटी राजनीतिक इकाइयों में बंट गया। ये इकाइयां मुख्यतः धार्मिक तथा गृहस्थ अनुदान भोगियों के हाथों में थीं। जितकी सत्ता के साथ यूरोपीय सामन्त अपने-अपने ताल्लुकों (मैनर) का उपभोग करते थे

किन्तु पश्चिमी और मध्य भारत में वाणिज्य व्यापार के पुनरुद्धार, मुद्रा के बढ़ते हुये चलन और विष्टि की प्रथा के विलय के परिणामस्वरूप वहां पुरातन सामन्तवाद अपने चरम वैभव पर पहुंचकर ह्रासोन्मुख हो चला।[10]

सामन्तवाद का उद्‌भव और विकास -

प्राचीन भारत के किसी भी समाज पर कोई एक बिल्ला लगा देना सम्भव नहीं है, लेकिन पूर्वमध्यकाल को सामन्तवादी युग की सत्ता से विभूषित करने से पहले हमें इसके विकास के विविध चरणों पर नजर डालनी होगी। पहले पुरा पाषाण युग का खाद्य संग्राहक समाज था, तब उनकी जगह नवपाषाण युग और ताम्रपाषाण युग के खाद्य उत्पादक समाज बने। धीरे-धीरे किसान समुदाय विकास करते करते हड़प्पाई नगर समाजों के रूप में परिणित हो गयें। इसके बाद विकास की धारा कुछ रुकी और फिर अश्वारोही पशुपालक समाज बना। ऋग्वेद में जो एक प्रकार का सामाजिक ढांचा दिखायी देता है वह बहुत कुछ पशुचारक समाज में बदलकर कृषिमूलक समाज का है, लेकिन इसकी आदिकालीन कृषि अधिक उपज देने वाली नहीं थी इसलिये शासक लोग किसानों का दोहन करके कुछ अधिक प्राप्त नहीं कर सकते थे।[11] वर्ग विभाजित समाज वैदिकोत्तरकाल में पूरा-पूरा निखरा। इस सामाजिक ढांचे के मूलाधार थे शूद्रों सहित वैश्यों के उत्पादनात्मक कार्यकलाप। मोटे तौर पर यह सामाजिक व्यवस्था बुद्धकाल से गुप्तकाल तक भलीभांति चलती रही। इसके बाद कुछ आन्तरिक परिवर्तनों का दौर आया क्योंकि पूर्वमध्यकाल तक आते-आते सामाजिक व्यवस्थाओं ने भारतीय अर्थव्यवस्था को भी प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया था।

सामन्त शब्द का उल्लेख कौटिल्य[12] के अर्थशास्त्र में स्वतंत्र पड़ोसी के अर्थ में किया गया है। सर्वप्रथम अश्वघोष[13] ने (प्रथम शती में) बुद्धचरित में इस शब्द का प्रयोग जागीरदार के लिये किया है। गुप्तकाल से सामन्त शब्द का प्रयोग सामान्यत: इसी अर्थ में किया जाने लगा। सामन्तवाद का अंकुरण शक कुषाणकाल में हुआ तथा राजपूतकाल तक आते-आते यह समाज में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया। बी0 एन0 एस0 यादव[14] के अनुसार शक कुषाण युग में हमें सामन्तवाद के न केवल राजनीतिक अपितु सामाजिक तथा आर्थिक कारक भी स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं। जैन

ग्रन्थ[15] कालकाचार्य कथानक से पता चलता है कि शक सम्राट ''षाहानुषाहि'' कहे जाते थे तथा उनकी अधीनता में कई सामन्त (षाहि) होते थे। कुषाण सम्राटों की ''राजाधिराज'' उपाधि भी सामन्तवादी व्यवस्था की सूचक है। पश्चिमी भारत में शक शासकों में ''महाछत्रय'' तथा ''छत्रय'' की उपाधि प्रचलित थी। कालान्तर में गुप्त सम्राटों ने इन्हीं के अनुकरण पर ''महाराजाधिराज'' की उपाधि ग्रहण की। इस प्रकार गुप्तकाल तथा इसके बाद के राजनीतिक क्षेत्र में सामन्तवाद पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया।

सामन्तवाद के उद्‌भव के कारण-

भारत में सामन्तवाद के उद्‌भव तथा विकास के लिये राजनीतिक ''सामाजिक धार्मिक'' तथा आर्थिक परिस्थितियों ने उपयुक्त आधार प्रदान किये। वाह्य आक्रमणों के कारण केन्द्रीय सत्ता निर्बल पड़ गयी थी। चतुर्दिक अराजकता एवं अव्यवस्था फैल गयी। केन्द्रीय शक्ति की निर्बलता ने समाज में प्रभावशाली व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग तैयार किया जिन पर स्थानीय सुरक्षा का भार आ पड़ा। अव्यवस्था के युग में सामान्य जन अपनी जान-माल की सुरक्षा के लिये उनकी ओर उन्मुख हुये। उल्लेखनीय है कि इन्हीं परिस्थितियों में मध्यकालीन यूरोप में भी सामन्तवाद का अभ्युदय हुआ था। अरबो तथा तुर्कों के आक्रमण ने शक्तिशाली राजबंशो को धराशायी कर दिया फलस्वरूप उत्तर भारत में कई छोटे-छोटे राजबंशों का उदय हो गया। इससे सामन्ती प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला।

सामन्तवाद के विकास में प्राचीन भारतीय धर्मविजय की अवधारणा का भी योगदान रहा इसके अन्तर्गत विजेता सम्राट विजित राजा के राज्य को जीत लेने के पश्चात उस पर अपना अधिकार नहीं करता था अपितु उससे भेंट उपहार आदि प्राप्त करके विजित राजा को अपनी अधीनता में राज्य करने का अधिकार दे देता था। इस नीति को ग्रहण मोक्षानुगृह कहा गया है। विजित राजाओं को अपने सम्राट को सभी कर देनो पड़ते थे; उसकी आज्ञाओं का पालन करना पड़ता था तथा उसके प्रति निष्ठा सूचित करने के लिये राज्यसभा में उपस्थित होना पड़ता था। समुद्रगुप्त के[16] प्रयाग लिपि में सामन्तों के इन कर्तव्यों का उल्लेख मिला है। गुप्त सम्राटों की धर्म विजयी नीति के फलस्वरूप उत्तर भारत में विभिन्न सामन्तकुलों जैसे मौखरि,

परिवाज्रक, सनकानिक वर्मन, मैत्रक आदि का उदय हुआ इन वंशों के शासक महाराज की उपाधि धारण करते थे जबकि गुप्त सम्राटों को महाराजाधिराज कहा जाता था। गुप्त साम्राज्य के पतनोपरान्त कई सामन्त वंशों ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी तथा महाराजाधिराज बन बैठे। कुछ बड़े सामन्त अपने अधीन छोटे सामन्त रखने लगे जिससे यह प्रथा व्यापक आधार प्राप्त करने लगी। बाण[17] के हर्षचरित में भी चर्चा है कि हर्ष ने अपने महासामन्तों को अपना करद (कर देने वाला) बना दिया था। (करदीकृत महासामन्त)। सम्राट अधीन राजाओं की प्रजा से कर न लेकर उन सामन्तों से ही कर लेता था। गुप्तकाल तथा उसके बाद के शासकों की विजय का उद्देश्य अधिक से अधिक सामन्त तैयार करके उनसे कर आदि बटोरना हो गया। इस प्रवृत्ति ने भी सामन्तवाद को प्रोत्साहित किया।

सामन्तवाद के विकास में आर्थिक कारक भी सहायक सिद्ध हुये, इसके सामाजिक आर्थिक कारक शक-कुषाण युग में स्पष्ट होने लगते हैं इस समय ग्रामों में ग्रामपतियों का एक सम्पन्न वर्ग उठ खड़ा हुआ जिसकी अधीनता में निर्धन किसानों का एक वर्ग था इसके साथ ही विदेशी जातियों ने कुलीन शासक वर्ग का स्थान ग्रहण कर लिया। इस प्रकार स्वामी सामन्त सम्बन्धों का विकास हुआ किन्तु कुषाण युग की आर्थिक प्रगति ने सामन्ती मनोवृत्ति पर अंकुश लगाया तभी उसका प्रभाव व्यापक नहीं हो सका। गुप्तकाल के पश्चांत् राजनीतिक उथल-पुथल के वातावरण में व्यापार वाणिज्य का पतन हुआ। 600-1000 ई0 के मध्य हमें व्यापारिक संघों की मुहरें नहीं मिलती तथा सिक्के मिश्रित धातु एवं भद्दे आकार-प्रकार के मिलते हैं। इससे सूचित होता है कि इस समय वाणिज्य पर आधारित अर्थव्यवस्था का पतन हो गया था। अहिछत्र,[18] कौशाम्बी जैसे नगरों की खुदाई और ह्वेनसांग के विवरण से प्रमाणित होता है कि उत्तर भारत के अनेक नगर वीरान हो चुके थे। नगरीय जीवन में ह्रास के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था मुख्यत: भूमि और कृषि पर निर्भर हो गयी। कृषि के प्रति समाज का दृष्टिकोण बदलने लगा। इसकी झलक हमें तत्कालीन ग्रन्थों में मिलती है जहां कृषि को सभी वर्णों के सामान्य व्यवसाय के रूप में निरूपित किया गया है। ''वृद्धहारित''[19] में इसे सभी वर्णों का ''सामान्य धर्म'' बताया गया है। (कृषिस्तु

सर्व वर्णानाम् सामान्यों धर्म उच्यते)।[20] पराशर स्मृति में उल्लिखित है कि कलियुग में कृषि सभी वर्णों का समक्ष व्यवसाय बन जायेगी। भूमि तथा कृषि के प्रति इस परिवर्तित दृष्टिकोण के फलस्वरूप विभिन्न वर्णों के लोगों ने अधिकाधिक भूमि प्राप्त करने का प्रयास किया।

इस प्रकार समाज में भू-सम्पन्न कुलीन वर्ग का आविर्भाव हुआ। बहुसंख्यक शूद्र तथा श्रमिक जीविका के लिये उनकी ओर उन्मुख हो गये। भू-स्वामियों को अपने खेतों पर काम करने के लिये श्रमिकों की आवश्यकता थी। अतः उन्होंने उनका अधिकाधिक उपयोग किया। आर्थिक परिवर्तन की इस प्रक्रिया ने सामन्तवाद के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। 11-12वीं सदी में आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार हुआ। उस समय व्यापार वाणिज्य के पुनरुथान के प्रमाण मिलते हैं। किन्तु जैसा कि प्रो० यादव[21] ने स्पष्ट किया है। ''यह आर्थिक विकास भारत में सामन्तवाद की गति को नहीं रोक सका, अपितु सामन्तवाद ने ही अपने को तत्कालीन आर्थिक परिवेश के अनुकूल बना लिया।''

सामन्तवाद के विकास में शासकों द्वारा प्रदत्त भूमि तथा ग्राम अनुदानों का प्रमुख योगदान रहा है। मौर्योत्तरकाल, विशेषतया गुप्तकाल से शासन की एक प्रवृत्ति ब्राह्मण तथा अधिकारियों को भूमिदान में दिये जाने की हुई। जो भूमि ब्राह्मणों को दान में दी जाती थी उसे ''ब्रह्मदेव'' कहा गया है। महाभारत, धर्मशास्त्र तथा पुराणों में ऐसे दान की प्रशंसा की गयी है[22] तथा इसे लोक और परलोक में पुण्य प्राप्ति का साधन बताया गया है। भूमिदान सम्बन्धी[23] सर्वप्रथम उल्लेख शक सातवाहन लेखों में मिलता है। शक शासक ऊषावदात के लेखों में उसके द्वारा दिये गये ग्राम तथा भूमिदान की चर्चा है। सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि के जन लेख[24] से पता चलता है कि उसने बौद्ध भिक्षुओं को ग्राम दान में दिये थे। राज्य दान ग्राहकों को दान में दी गयी भूमि से प्राप्त आय देने के साथ-साथ उन्हें वहां के प्रशासन तथा न्याय का भी अधिकार दे देता था। किन्तु दूसरी शती तक इस प्रकार के अनुदानों की संख्या सीमित थी तथा राज्य अब भी अपने कुछ साधनों पर अधिकार रखता था।

गुप्तकाल से हम भूमि सम्बन्धी अनुदानों में वृद्धि पाते हैं। इस काल से दान में दी गयी भूमि में स्थिति चारागाहों, खानों, निधियों, विष्ट (बेगार) आदि राजस्व के समस्त साधनों की दानग्राही को सौंप देने की प्रथा प्रारम्भ हो गयी। नरेश प्रवरसेन द्वितीय[25] (पांचवीं शती) की चमक प्रशस्ति से इसकी सूचना मिलती है। आर0 एस0 शर्मा[26] जिन्होंने सामन्तवाद के उदय तथा विकास का गहन अध्ययन किया है कि मायन्ता है भारत में सामन्तवाद का उदय राजाओं द्वारा ब्राह्मणों और प्रशासनिक तथा सैनिक अधिकारियों को भूमि तथा ग्राम दान में दिये जाने के कारण हुआ। पहले ये अनुदान केवल ब्राह्मणों को ही धार्मिक कार्यों के लिये दिये जाते थे। यद्यपि प्रो0 शर्मा इन्हें ही सामन्तवाद के उत्कर्ष का प्रमुख कारण[27] निरूपित करते हैं, किन्तु जैसा कि प्रो0 यादव ने बताया है कि- ''ब्राम्हणों को दी गयी भूमि जो मुश्किल से एक गांव से अधिक रही होगी। राजनीतिक सामन्तवाद का स्थायी आधार नहीं हो सकती थी विशेषकर ऐसे समय में जबकि दानग्राही धार्मिक तथा बौद्धिक प्रयोजनों में संलग्न रहे हों।'' इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि सामन्तवाद के विकास में धर्मेत्तर अनुदानों का ही हाथ रहा है, धार्मिक अनुदानों का नहीं और यह स्पष्टत: गुप्तोत्तरयुगीन प्रवृत्ति थी।

हर्षकाल तथा उसके बाद से प्रशासनिक और सैनिक अधिकारियों को उनकी सेवाओं के बदले में भूमिखण्ड दिये जाने की प्रथा सर्वमान्य हो गयी और राजपूतकाल में तो सामन्तवाद अपने उत्कर्ष की सीमा पर पहुंच गया। राजपूत राज्यों की विभिन्न जागीरों के स्वामी सामन्त होते थे। उन्हें विशेष अधिकार और सुविधायें प्राप्त थीं। सामन्तों की विभिन्न श्रेणियां थीं। कुछ बड़े सामन्त अपने अधीन कई छोटे सामन्त रखते थे। वे अपने अपने अधिकार क्षेत्रों में राजाओं जैसी सुख-सुविधाओं का ही उपभोग करते थे। जिन लोगों को भूमि अनुदान में मिली उससे सम्बन्धित समस्त अधिकार भी उन्हें प्राप्त हो गये। वे इसे अपनी पैतृक सम्पत्ति मान बैठे तथा राजा की अनुमति के बिना ही उन्होंने उसे अपने समर्थकों के बीच बांट देने का अधिकार स्वयं अपने हाथों में ले लिया। वे भूमि पर बिना काम किये ही काफी आमदनी प्राप्त करने लगे। उत्तर भारत में भूमि के साथ ही साथ कृषकों तथा

बटाईदारों को भी हस्तान्तरित कर दिया जाता था। उन्हें स्पष्ट निर्देश था कि वे भूमि छोड़कर किसी अन्य स्थान में न जाय। इस प्रकार समाज में ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती गयी जिन्हें भूमि से दूसरे के श्रम पर पर्याप्त आय प्राप्त होने लगी। राजपूतकाल में सामन्तों के छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये जो अपनी शक्ति और प्रभाव बढ़ाने के लिये परस्पर संघर्ष में उलझ गये। इन्होंने व्यापार वाणिज्य को हतोत्साहित किया तथा आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन दिया। सामन्त तथा उसके अधीनस्थों के अपने-अपने क्षेत्रों में व्यस्त रहने के कारण प्रबल स्थानीकरण की भावना का विकास हुआ तथा सामाजिक गतिशीलता अवरुद्ध हो गयी।

भूमि अनुदान के उद्‌भव से समाज में परिवर्तन-

अंततः जिस चीज ने प्राचीन भारतीय समाज को मध्यकालीन समाज में रूपान्तरित किया वह है भूमि अनुदान की प्रथा। विभिन्न शासकों द्वारा जारी किये गये अधिकार-पत्रों से ज्ञात होता है कि पुरोहितों और पुजारियों को भूमिदान पुण्य अर्जित करने के लिये दिये जाते थे, किन्तु वस्तुतः इसके पीछे युगजनित विवशता का बहुत बड़ा हाथ था। यह विवशता कलियुग की देन थी जिसका वर्णन पुराणों तथा कुछ अन्य ग्रन्थों में किया गया है।

इस युग की परिस्थितियों ने भूमिदान की प्रथा को प्रोत्साहन दिया और भूमिदानों ने समाज के विभिन्न क्षेत्रों में परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त किया। दरअसल यह सामाजिक शक्तियों की अन्त:क्रिया का अच्छा उदाहरण है जो हमेशा परिवर्तन को जन्म देता है, चाहे वह परिवर्तन शुभ हो या अशुभ। अब हम इस पर विचार करें कि भूमिदानों ने परिवर्तन को किस प्रकार बढ़ावा दिया।

भूमि अनुदान प्रथा सामंती अर्थव्यवस्था का आधार बनी और इसी ने अंततः प्राचीन भारत को मध्यकालीन भारत का रूप दिया। इस प्रथा का जन्म क्यों हुआ ? भूमिदान पत्रों से पता चलता है कि दान के द्वारा राजा पुण्य अर्जित करना चाहते थे और मन्दिर, महन्त और पुरोहितों जैसे ग्रहीताओं को धार्मिक कृत्यों के लिये साधनों की आवश्यकता थी। किन्तु इससे पूरी सच्चाई का पता नहीं चलता। जान पड़ता, इस प्रथा का उद्‌भव प्राचीन समाज व्यवस्था के आर्थिक आधार पर आये

गम्भीर संकट से हुआ। इस समय के वर्ण विभाजित समाज में वैश्य कहलाने वाले किसान तथा शूद्र कहलाने वाले श्रमिक उत्पादन में लगे रहते थे। राज्याधिकारियों द्वारा वैश्यों से वसूल किये गये करों से राजा अपने महल का खर्च चलाता और सिपाहियों को वेतन देता था, पुरोहितों को दान दक्षिणा से धन्य करता था, और वणिकों तथा बड़े-बड़े शिल्पियों से अपने लिये ऐशो इशरत और जरूरत की चीजें खरीदता था। किन्तु तीसरी चौथी सदियों के पुराण[27] इस बात का विलाप करते हैं कि विभिन्न वर्ण या सामाजिक वर्ग अपने-अपने धर्म यानी निर्धारित कर्तव्यों से विमुख हो गये हैं। वे कहते हैं कि निम्न वर्णों के लोगों ने उच्च वर्णों का स्थान प्राप्त कर लिया है और अपने कर्तव्यों को त्याग दिया है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने कर देना और श्रम के रूप में सेवा करना बन्द कर दिया। इससे वर्णशंकर कर स्थिति उत्पन्न हुई। वर्ण की मर्यादाओं पर इस लिये प्रहार किये गये कि उत्पादन में लगे आम लोग भारी करों और वसूलियों के बोझ से परेशान थे, और राजा इन्हें कोई संरक्षण देने को तैयार नहीं थें। पुराणों[28] के तीसरी-चौथी शताब्दियों में लिखे अंशों में इस स्थिति को कलियुग कहा गया है, और जान पड़ता है, कलियुग की यह स्थिति दक्कन तथा मध्य भारत में पैदा हुई, जहां अभी ब्राह्मण संस्कृति की जड़े ठीक से जम नहीं पायी थीं।

इस संकट से उबरने के लिये कई उपाय किये गये। लगभग इसी काल की कृति मनुस्मृति[29] का परामर्श है कि वैश्यों तथा शूद्रों को अपने-अपने धर्म से विमुख नहीं होने देना चाहिये; हो सकता है, इस सुझावों के अनुरूप वर्ण-धर्म की रक्षा के लिये दण्ड का प्रयोग किया गया हो। किन्तु इस स्थिति के निराकरण का अधिक महत्वपूर्ण उपाय यह था कि पुरोहितों तथा राज्याधिकारियों को दान दक्षिणा तथा वेतन-पारिश्रमिक पैसे या जिंस के रूप में नहीं दिया जाये, बल्कि भूमिदान द्वारा दिया जाये। इस प्रथा के कारण दान में दिये क्षेत्रों में करों की उगाही तथा शांति-सुव्यवस्था का दायित्व अनुदान भोगियों के सिर चला जाता था। वे सरजोर किसानों से मौके पर ही निबट सकते थे। इस प्रथा के कारण गैर-आबाद जमीन में खेती-बारी भी शुरू हो सकती थी। इसके अतिरिक्त विजित जनजातीय क्षेत्रों में ब्राह्मणों को बसाकर लोगों को अनुशासित किया जा सकता था और उन्हें राजा की

आज्ञा का पालन करने तथा करों की अदायगी का धर्म सिखाया जा सकता था।

यद्यपि ब्राह्मणों को भूमिदानों का वितरण उनकी धार्मिक तथा आध्यात्मिक सेवाओं के प्रतिदान स्वरूप दिये जाते थे, तथापि इन दानों के फलस्वरूप अनेक सुरक्षित राजनीतिक गढ़ खड़े हो गये, जिनमें सरकारी अमले भी पैर नहीं रख सकते थे। पूरी सम्भावना है कि धर्मेत्तर भोगियों को भी अनुदान में राजस्विक अधिकार दिये जाते होगें, यद्यपि इसके बहुत स्पष्ट प्रमाण प्रारम्भ में नहीं मिलते। कुल मिलाकर हमें गुप्तकाल में जो राज व्यवस्था देखने को मिलती है वह मौर्यकालीन राज-व्यवस्था से बहुत भिन्न है। मेगस्थनीज की इंडिका,[30] कौटिल्य के अर्थशास्त्र[31] के दूसरे तथा तीसरे अधिकरणों और अशोक के अभिलेखों[32] से मालूम होता है कि राज्य के अधिकारी करों का निर्धारण और वसूली करते थे, बेगार का प्रबन्ध करते थे, खानों, खेती-बारी आदि की व्यवस्था संभालते थे और अमन-चैन कायम रखते थे। सम्भवतः राज्य की ये सारी गतिविधियां उसके मध्य गंगा के मैदान वाले केन्द्रीय प्रदेशों तक ही सीमित थी। किन्तु परवर्तीकाल में इन तमाम दायित्वों और अधिकारों का परित्याग पहले ब्राह्मणों के और फिर अन्य लोगों के हक में किया जाने लगा।

ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों की सोपानबद्ध वर्ण व्यवस्था कम से कम गुप्तकाल तक कायम रही, और ऐसा भी नहीं कि वह केवल कर्मकांडी वर्गीकरण रहा हो। समस्त सामाजिक तथा आर्थिक विधानों में इस व्यवस्था का पालन किया जाता था। पूर्वमध्यकाल में क्षत्रियों का स्थान राजपूतों ने ले लिया। ऋग्वेद में राजस्व[33] शब्द का उल्लेख हुआ है और फिर वैदिक ग्रन्थों में इसका जिक्र बार-बार किया गया है। किन्तु धर्मसूत्रों द्वारा प्रतिपादित वर्णव्यवस्था में एक प्रकार से उसका स्थान क्षत्रिय ने ले लिया। मध्यकाल में हमें राजन से जुड़ा एक सामाजिक वर्ग देखने को मिलता है। क्षत्रियों के स्थान पर राजपूतों या राजपुत्रों का प्रतिष्ठित हो जाना एक नई बात मानी जा सकती है। सामंतीकाल में युद्ध का महत्व बहुत बढ़ गया। देसी, आदिवासी, हिन्द-आर्य तथा मध्य एशियाई, इन विभिन्न मूलों के अलग-अलग योद्धाओं और शासकों का उदय हुआ। यहां तक कि कुछ ब्राह्मणों ने भी शस्त्र धर्म अपना लिया। तब सबके संयोग से एक नये सामाजिक वर्ग का उदय हुआ,

जो काम तो क्षत्रियों का करता था किन्तु राजपूतों के नाम से जाना जाता था। इसका मतलब यह नहीं कि क्षत्रिय के वर्ग और क्षत्रित्व का महत्व समाप्त हो गया। क्षत्रिय और राजा इस काल में भी एक-दूसरे के पर्याय माने जाते थे। उच्च क्षत्रिय राजाओं ने पूर्वमध्यकाल के राजवंशों में स्वयं को लोक-प्रतिष्ठित बनाने के लिये सूर्यवंश और चन्द्रवंश की संतति होने का दावा किया। कल्पित वंशवृक्ष तैयार करना इस युग की उल्लेखनीय विशेषता बन गयी। वंश वृक्ष रचना को वस्तुतः पृथक शास्त्र का रूप दे दिया गया। लोगों को लगातार अंध-विश्वासपूर्ण कपोलकल्पित आख्यानों की घुट्टी पिलाई जाती रही। जिसमें सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओं के अतिमानवीय पराक्रमों का बखान होता था। अतः रामायण, महाभारत तथा पुराणों में इन आख्यानों को स्थायी रूप से सुरक्षित कर दिया गया।

कृषि की उन्नति तथा सामाजिक संघर्ष के कारण शूद्रों के चरित्र में बदलाव आया। अनुदान की भूमि से लगान तथा अन्य लाभों की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक था कि अनुदान भोगी उसमें खेती-बारी करवायें। इत्सिंग (सातवीं सदी ई0)[34] के विवरण से ज्ञात होता है कि जिन मठों के पास जमीन थी वे उसमें नौकरों तथा अन्य लोगों से खेती करवाते थे। बैल और खेत मठों की ओर से दिये जाते थे, जिसके बदले सामान्यतः उन्हें उपज का छठां हिस्सा मिलता था। हमें मालूम है कि परम्परागत रूप से राज्य को भी यही हिस्सा मिलता था। लेकिन मठों की तरह राज्य काश्तकारों को बैल नहीं देता था। जमीन जोतने-बोने वाले लोग शायद मौर्य राज्य के बड़े-बड़े कृषि फार्मों में काम करने वाले दासों एवं मजदूरों की तरह नहीं थे। दरअसल वे पट्टेदार थे और भूस्वामी को उपज का एक अंश दिया करते थे। हुआनत्सांग[35] ने शूद्रों को किसान कहा है, जिससे प्रकट होता है कि वे जमीन से सिर्फ कोड़ते-कमाते ही नहीं थे, बल्कि अस्थायी तौर पर उसके कब्जेदार होते थे। आरम्भिक धर्मशास्त्रों, कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा अन्य ग्रन्थों में शूद्र मुख्यतः भूमिहीन श्रमिकों के रूप में दिखायी देते हैं, जिनसे उच्च वर्गों के लोग मजदूरों के तौर पर खेती बारी का काम करवाते थे। राजस्व का मुख्य स्रोत चूंकि भूमि थी और शूद्र भूमिहीन थे। इसलिये उन पर 'कर' नहीं लगाया जाता था। कौटिल्य[36] ने शूद्रों का उल्लेख कृषक के रूप में किया है जो राज्य द्वारा बसायी नई बस्तियों में ही रहते थे।

हुआनत्सांग के अलावा शूद्रों को काश्तकार बनाने वाला सबसे पहला व्यक्ति सातवीं सदी का भाष्यकार असहांय है।[37] स्पष्टतया सातवीं सदी तक बहुत सारे लोगों को, जिनमें अधिकतर शूद्र थे, अस्थायी पट्टे के रूप में जमीन दी जा चुकी थी। यह बात खासकर उत्तरी भारत के पुराने आबाद इलाकों में देखने की मिलती है, और कुछ दृष्टियों से यूरोप के दासों को कृषिदासों के रूप में रूपान्तरण से इसका साम्य देखा जा सकता है। मध्य-प्रदेश में शूद्र, दास तथा खेतिहर मजदूर कैसे और क्यों, पट्टेदार तथा काश्तकार बन गये, इसका उत्तर उस काल में उत्पादन सम्बन्धों में आये संकट से देखा जा सकता है, जिसे कलियुग की संज्ञा दी गयी है।

जनजातीय इलाकों में किसान धार्मिक दानभोगियों, विशेष रूप से ब्राह्मणों के नियंत्रण के अधीन हो गये, जिन्हें पांचवीं छठीं सदियों से बड़े पैमाने पर अनुदान दिये जाने लगे। जमीन के साथ बटाईदारों के हस्तान्तरण का सबसे पुराना उदाहरण आंध्र से प्राप्त तीसरी सदी के पल्लव दान-पत्र[38] में मिलता है, किन्तु जान पड़ता है इस प्रवृत्ति का जोर छठीं सदी से बढ़ा जब उड़ीसा तथा दकन जैसे पिछड़े और पहाड़ी प्रदेशों में जारी किये गये दान-पत्रों में बटाईदारों तथा किसानों को विशेष रूप से यह निर्देश दिया जाने लगा कि वे दान क्षेत्र का त्याग नहीं करे। बाद में यह प्रथा मध्य-प्रदेश में भी फैल गयी। यहां से प्राप्त सातवीं सदी[39] के दो दान-पत्रों में जो समुद्रगुप्त के नाम से जाली तौर पर तैयार किये गये थे, शिल्पियों तथा किसानों से कहा कि वे दान किये गये गांवों का त्याग करके 'कर-मुक्त' गांवों में न जायें। परवर्तीकाल में यह प्रथा काफी आम हो गयी। अब दान में दिये गये गांव, जनता समृद्ध धन-जन सहित सप्रतिवासी कहलाने लगे। इन कारणों से इस काल में अवरुद्ध अर्थव्यवस्था के लिये मार्ग प्रशस्त हुआ।

शिल्पियों को छोटे-बडे भू-स्वामियों की सेवा के लिये उनके साथ बांध दिया गया तथा शिल्पियों के भरण-पोषण के लिये दोनों फसलों की कटनी के समय साल में दो बार उन्हें वृत्ति दी जाने लगी। सम्भवतः यह प्रथा सातवीं सदी के आसपास फैल गयी। सातवीं सदी से ही उपर्युक्त दो दान-पत्रों में अनुदत्त गांवों में रहने वाले करदाता शिल्पी तथा किसानों को स्पष्ट रूप से अनुदान भोगियों के साथ बांध दिया

गया। ऐसे किसानों की गतिशीलता पर लगे प्रतिबन्धों के कारण इन्हें कृषिदास माना जा सकता है। बाद में ऐसे बहुत से उदाहरण सामने आने लगते हैं खास तौर से उड़ीसा और पूर्वी मध्य-प्रदेश में। समुद्रगुप्त से सम्बन्धित दोनों जाली दानपत्र नालन्दा तथा गया जैसे विकसित क्षेत्रों में शिल्पियों के बंधुआपन के साक्षी हैं। हो सकता है शिल्पियों को कटनी के समय जिन्सों के रूप में अदायगी की जाती रही हो या यह भी सम्भव है कि उनके गुजारे के लिये उन्हें थोड़ी बहुत जमीन दे दी जाती रही हो। इस प्रथा को, सामाजिक मनोवैज्ञानिकों ने जजमानी की संज्ञा दी है जो विद्वज्जगत में काफी लोकप्रिय हो गयी है।

गुप्तोत्तरकाल में केन्द्रीय सत्ता के निर्बल होने के कारण सामन्तवादी प्रथा का उदय हुआ। भारत जो प्राचीनकाल में केन्द्रीय सत्तान्तर्गत था अब छोटे-छोटे भागों में बंट गया तथा स्थानीय शक्तियों का केन्द्रीय अंग बन गया। अनेक प्रान्तपति उच्चाधिकारी तथा दानग्राही ही बड़े-बड़े भूखण्डों के भूपति हो गये। भू-सम्पत्ति राजा की परिधि में हटकर इन्हीं सामन्तों के हाथो में कैद हो गयी इसी कारण गुप्तोत्तरकाल में भूमि व्यवस्था में अनेक परिवर्तन भी दृष्टिगत होने लगे। यद्यपि सामन्तवादी प्रवृत्ति के अभ्युदय में आने से इस प्रवृत्ति में अनेक परिवर्तन आने प्रारम्भ हो गये थे।

कुछ राजनीतिक एवं प्रशासनिक प्रवृत्तियों के कारण मौर्योत्तरकाल और विशेषकर गुप्तकाल से राज्य व्यवस्था सामन्तवादी ढांचे में ढलने लगी। इनमें सबसे महत्वपूर्ण प्रवृत्ति ब्राह्मणों को भूमिदान देने की थी। धर्मशास्त्रों महाकाव्यों[40] के उपदेशात्मक अंशों और पुराणों में दिये गये धर्मदेशों ने इस प्रवृत्ति को पुण्यकार्य के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। महाभारत के अनुशासन पर्व[41] में इसकी महिमा का गुणगान पूरे एक अध्याय में किया गया है। मौर्यकाल से पूर्व के प्रारम्भिक साहित्यें[42] में कौशल एंव मगध के शासकों द्वारा ब्राह्मणों को ग्राम अनुदान का उल्लेख मिलता है। ई0पू0 प्रथम शती में आन्ध्र सातवाहनों के काल में महाभोजों, महासेनापतियों, महारथियों के उद्भव की चर्चा मिलती है।[43] सातवाहन शासकों के ई0पू0 प्रथम शती के शिलालेख[44] में अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर उपहार स्वरूप ग्राम अनुदान का उल्लेख है।

ईसा की दूसरी सती में सातवाहन शासक गौतमी पुत्र शातकीर्ण ने बौद्ध भिक्षुकों को अपने ग्राम अनुदान में देकर अनेक प्रशासकीय अधिकारों का पहली बार परित्याग

किया। इसमें राज्य की सेना द्वारा उस भूमि में प्रवेश वर्जित था तथा उस भूमि के व्यवस्था द्वारा हस्तक्षेप न करने का पूर्ण आदेश परिलक्षित होता है। चौथी एवं पांचवी शताब्दी[45] के भूमिदानों में संग्रहीत सम्पत्ति के उपयोग के अधिकार का प्रयोग किया जाता था। स्पष्ट है कि प्रशासक द्वारा अपनी सम्प्रभुता का समर्पण कर दिया गया।

भूमि अनुदानों से ब्राह्मण सामंतों का उदय और सामाजिक परिवर्तन-

गुप्तकाल में भूमि अनुदानों से ब्राह्मण सामन्तों का अस्तित्व प्रकट हुआ जिसका प्रयोग राज्य हित में किया जाता था। भूमिदान करने वाले दाताओं की मंशा चाहे जो रही हो किन्तु ऐसे अनुदानों का परिणाम यही हुआ कि देश में प्रचुर आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति से सम्पन्न एक जबरदस्त मध्यवर्ती वर्ग खड़ा हो गया। जैसे-जैसे भूमिधर ब्राह्मणों की संख्या बढ़ती गयी उनमें से कुछ लोग धीरे-धीरे पुरोहिताई का काम छोड़कर अपना ध्यान मुख्यतया: अपनी भूसम्पत्ति की व्यवस्था पर केन्द्रित करने लगे ऐसे ब्राह्मणों के लिये सांसारिक कामकाज धार्मिक कर्तव्यों से अधिक महत्वपूर्ण हो गये लेकिन ब्राह्मणों को भूमिदान देने का सबसे बड़ा नतीजा यह निकला कि शासन तंत्र पर से केन्द्र का वह सक्षम और व्यापक नियंत्रण जिसके लिये मौर्यों का राज्य प्रसिद्ध था, गुप्तकाल से लुप्त होने लगा और उसका स्थान सत्ता का विकेन्द्रीकरण लेने लगा। अब तक शान्ति सुव्यवस्था कायम रखने और प्रतिरक्षा का प्रबन्ध करने के साथ-साथ कर उगाहने राज्य के लिये बेठ-बेगार की व्यवस्था करने, खानों और कृषि का नियमन करने की सारी जिम्मेदारी राज्याधिकारियों पर थीं, किन्तु अब इन कर्तव्यों के निर्वाह का दायित्व धीरे-धीरे पुरोहितों के हाथों में चला गया।

इस प्रकार गुप्त राजाओं और हर्ष के समय में भी भूमि अनुदानों के ग्रहीताओं को प्रशासनिक और राजस्व विषयक अधिकार देने की जो प्रक्रिया शुरू हुई वह बाद के राजाओं के समय में भी चलती रही। गुप्त राजाओं ने खुद बहुत कम अनुदान दिये थे, पर मध्य भारत के उनके सामन्तों या अधीनस्थ सरदारों ने बहुत से गांव दान किये। लेकिन पाल शासनकाल में साधारणतया राजा स्वयं ही अनुदान दिया करता था। इसका सबरो पहला उदाहरण धर्मपाल[46] है उसने उत्तर बंगाल में अपने सामन्त

नरायण वर्मन द्वारा शुभस्थली में संस्थापित नन्न नारायण मंदिर को चार गांव दिये। इस अनुदान के असली भोक्ता वे लाट ब्राह्मण पुरोहित और मन्दिर के अन्य सेवक थे जिनका उल्लेख अनुदान भोगियों के रूप में किया गया है।[47] फिर लगभग 993 ईस्वी[48] में महीपाल ने बौद्धों को धार्मिक प्रयोजनों के लिये उत्तर बंगाल (पदमुक्ति) में तीन गांव और कुछ जमीन जिसका उपयोग पहले कैवर्त लोग करते थे, उन्हीं शर्तों पर दान की। ईश्वरघोष ने जो शायद तृतीय विग्रहपाल का सामन्त था, दक्षिण बंगाल में चंदार के किसी ब्राह्मण को एक गांव दिया।[49] एक अन्य पाल सामन्त भोज वर्मन ने पूर्वी बंगाल में 11वीं सदी के अन्त में अथवा 12वीं सदी के प्रारम्भ में किसी समय मध्य-प्रदेश के एक पुरोहित को एक भूक्षेत्र अनुदान स्वरूप दिया।[50] चंद्रो ने भी जो कदाचित पूर्वी बंगाल में पालों के सामन्त थे, कई अनुदान दिये। श्री चन्द्र ने एक अनुदानपत्र में धार्मिक प्रयोजनों से कई भूक्षेत्र दान किये।[51] भोज के पुत्र और उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल ने छपरा जिले में जो उन दिनों श्रावस्ती मुक्ति में पड़ता था, एक ब्राह्मण को पूरी आय के साथ एक गांव दान किया।[53] 931 में महीपाल ने भी बनारस में एक गांव एक ब्राह्मण को इन्हीं शर्तों के साथ दान किया।[53] द्वितीय महीपाल ने ग्वालियर में एक मन्दिर को एक गांव लगभग इन्हीं शर्तों पर दान किया।[54]

ऐसा प्रतीत होता है कि पालों और प्रतिहारों की तुलना में राष्ट्रकूट राजाओं ने ब्राह्मणों और मन्दिरों को अधिक गांव दिये। इसके प्रमाण हमें उनके शासनकाल के आरम्भ से ही मिलते हैं। 753-54 में दंतिदुर्ग ने कोल्हापुर के इलाके में एक ब्राह्मण को बसा बसाया गांव दान किया। उसने उसे भूमि कर अधिकारियों को यदा-कदा दिये जाने वाले शुल्क आदि तमाम प्रचलित कर वसूल करने और दशापराध दण्ड के अधिकार प्रदान किये थे।[55] 806-7 में तृतीय गोविन्द ने नासिक के इलाके में एक ब्राह्मण को उपर्युक्त अधिकारों के साथ एक गांव दान में देते हुये उनमें चाटों और भाटों का प्रवेश भी वर्जित कर दिया।[56] 871 में अमोघवर्ष[57] ने कुछ ब्राह्मणों को एक गांव इन्हीं अधिकारों के साथ दान किया। इस प्रकार तृतीय गोविन्द के समय से ब्राह्मणों को पहले से अधिक अधिकारों के साथ अनुदान देने का जो सिलसिला

शुरू हुआ वह लगभग एक सदी तक चलता रहा। उसी वंश के एक-दूसरे चालुक्य सामन्त द्वितीय अवनिवर्मन ने राज्याधिकारी की अनुमति से उसी देवता के नाम उन्हीं शर्तों पर एक अन्य गांव दान किया।[58] 914 ई0 में पूर्वी कठियावाड़ के एक चाप सामन्त धरणी वराह ने एक शिक्षक को जिन शर्तों पर उक्त चालुक्य सामन्त ने ग्राम अनुदान दिया था, उन्हीं शर्तों पर एक अन्य गांव पुरस्कार में दिया।[59] 946 में एक चाहमान, सामन्त के अनुरोध पर उज्जैन के शासक माधव ने सूर्य मन्दिर को एक गांव दिया।[60] 959 में अलवर में प्रतिहारों के एक गुर्जर सामन्त द्वारा दिये गये अनुदान का उल्लेख है। उसने एक मठ के गुरू और एक के बाद एक जो लोग उसके शिष्य होते उनके नाम एक गांव दान किया।[61] उपर्युक्त उदाहरणों से यह प्रकट होता है कि धार्मिक अनुदान देने की प्रथा प्रतिहार राजाओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासित क्षेत्रों में उतनी मजबूत नहीं थी जितनी कि उनके अधीनस्थ सामन्त राजाओं के इलाके में थी।

राष्ट्रकूट राजाओं के मण्डलेश्वरों और सामन्तों ने भी धार्मिक अनुदान दिये। 821 में राष्ट्रकूटों की ही गुजरात शाखा के कक्कर्कराज सुवर्णवर्ष ने धार्मिक शिक्षकों को एक क्षेत्र सदा के लिये दान कर दिया। उसमें नियमित और अनियमित सिपाहियों तथा राज कर्मचारियों का प्रवेश वर्जित था।[62] 863 में उसी घराने के तृतीय ध्रुव ने एक ब्राह्मण को ऐसी ही शर्तों के साथ एक गांव दान किया।[63] इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि तत्कालीन समाज में सामन्त वर्ग इतना शक्तिशाली हो गया था कि अधिकांशतया अपने प्रभु की अनुमति के बिना ही गांव दान देते थे और यदाकदा तो वे अपने प्रभु को अपने बनवाये मन्दिरों को ग्राम अनुदान देने को भी बाध्य कर देते थे। कभी-कभी वे अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा के बल पर स्थानीय व्यापारियों को भी अपने बनवाये मन्दिरों को ग्राम अनुदान देने को भी बाध्य कर देते थे।

बुन्देलखण्ड के चंदेल राज्य अधिकारियों को दिये गये अनुदान[64] हमें धंग के शासनकाल (902-1002) में मिलता है। इसके अनुसार राजा ने ब्राह्मण भट्ट

में सामान्यता दिये जाते थे। 1187 में परमदीन ने सेनापति कल्हण के पुत्र ब्राह्मण सेनापति अजयपाल को एक पग भूमि अनुदान में दी। गाहडवाल राजाओं ने जो अनुदान दिये उनमें सबसे अधिक अनुदान महापुरोहित जागुक या जागू शर्मा तथा उसके पुत्र प्रहलाद शर्मा को प्राप्त हुये। जागू शर्मा मदनपाल और उसके उत्तराधिकारी गोविन्द चन्द्र के शासनकाल में भी महापुरोहित के पद पर बना रहा। राज्य में इसका अच्छा खासा रुतबा था, क्योंकि अनुदान पत्रों में जिन राज्याधिकारियों का उल्लेख हुआ है उनमें महापुरोहित का स्थान सबसे ऊपर है।[65]

इस प्रकार पूर्वमध्ययुग में भूमिदान तथा उससे उत्पन्न सामन्तीय व्यवस्था ने समाज के अनेक पहलुओं को प्रभावित किया क्योंकि भूमि के असमान वितरण एवं सैनिक शक्ति ने अनेक पहलुओं को प्रभावित किया अनेक सामन्तीय ओहदों का सृजन किया जो पारम्परिक वर्ण नियमों को भेदते हुये जन जीवन में व्याप्त होते जा रहे थे।

सामन्ती दर्जे, वर्ण और सामाजिक परिवर्तन-

भूमिदानों और उप सामन्तीकरण के फलस्वरूप व्यापक स्तरपर भूमि तथा सत्ता का असमान वितरण हुआ, और ऐसे सामाजिक समूहों और दर्जों का जन्म हुआ जो तद्युगीन वर्ण व्यवस्था से मेल नहीं खाते थे। मध्ययुगीन स्मृतियों में तो इस नई वस्तुस्थिति की ओर ध्यान नहीं दिया गया। किन्तु वास्तुकला[66] की कई रचनाओं में जन्म पर आधारित वर्ण विभाजन तथा भूमि एवं सत्ता पर आश्रित वर्गभेद के बीच एक सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इसका प्रारम्भ बराहमिहिर[67] की रचना से हुआ। इसने विभिन्न वर्गो के शासकों तथा चारों वर्णों के लिये भी अलग-अलग आवासों का विधान किया है। पूर्वकाल की रचनाओं में इस विषय पर केवल चार वर्णों पर ही ध्यान रखकर विचार किया गया है। पूर्वमध्यकालीन रचना मयमत[68] का विधान है कि चक्रवर्ती राजा का आवास ग्यारह मंजिला होना चाहिये, द्विजात का नौ मंजिला नृप या साधारण राजा का सात मंजिला वैश्यों तथा सैनिक अगुओं का चार मंजिला, शूद्रों का एक से लेकर तीन मंजिला तक और सामन्त प्रमुख आदि का पांच मंजिला। इस प्रकार इस आवास योजना में चारो वर्णों के अतिरिक्त विभिन्न दर्जों के शासकों तथा सामन्तों का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा गया

है। जैसे हमें बृहत्संहिता में देखने को नहीं मिलता।

इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि कुछ रचनाओं में वर्णों की ओर ध्यान न देकर केवल सामन्ती प्रभुओं या श्रीमंतों का ही ख्याल रखा गया है। भट्ट भुवनदेव (11वीं सदी) की कृति अपरजितपृच्छा[69] में नौ वर्गों के सामन्तों के आवासों के आकार-प्रकार निर्धारित किये गये हैं। इन नौ वर्गों में महामण्डलेश्वर, माण्डलिक, महासामन्त, सामन्त और लघुसामन्त शामिल है। इसमें निचली श्रेणियों के कुछ व्यक्तियों के उपर्युक्त आवासों का निर्धारण किया गया है। ठेठ सामन्ती दरबार का वर्णन करते हुये इसमें आठ सोपानबद्ध श्रेणियों के सामन्तों की उपस्थिति का उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार[70] महाराजधिराज परमेश्वर की उपाधि से विभूषित सम्राट के दरबार में 4 मण्डलेश्वर 12 माण्डलिक, 16 महासामन्त, 32 सामन्त, 160 लघुसामन्त तथा 400 चतुर्दिक होने का विधान है। इनसे नीचे के सभी राजपुरुषों को राजपुत्र कहा गया है। इस कृति में यह भी बताया गया है कि लघुसामन्त की आय 5,000, सामन्त की 10,000 और महासामन्त की 20,000 होनी चाहिये। यह स्पष्ट नहीं है कि सामंतों की इन विभिन्न श्रेणियों में केवल क्षत्रिय ही शामिल है या अन्य वर्णों के लोग भी लेकिन मानसार[71] नामक समकालीन रचना से जान पड़ता है कि कम से कम कुछ सामंती दर्जे ऐसे अवश्य थे जिनमें सभी वर्णों के लिये स्थान था। इस रचना के 42वें अध्याय में अवरोह क्रम में शासक वर्ग की नौ श्रेणियों का वर्गीकरण किया गया है। सबसे ऊपर चक्रवर्ती आता है, जबकि सबसे नीचे की दो श्रेणियां प्रहारकों और अस्त्रग्राहियों की है। इसमें शासको या सरदारों के अलग-अलग दर्जो के अनुसार नौ प्रकार के सिंहासनों का भी वर्णन किया गया है। इस रचना[72] में महत्व की बात यह है कि तत्कालीन सामंती व्यवस्था में प्रहारक तथा अस्त्रग्राही, ये दो सैनिक दर्जे किसी भी वर्ण का व्यक्ति प्राप्त कर सकता था। यद्यपि अस्त्रग्राही का दर्जा सबसे निम्न था, तथापि यह 500 घोड़े, 5,000 हाथी 50,000 सैनिक 500 सेविकाएं और एक रानी रखने का हकदार था। इस प्रकार इस रचना में वर्ण के विचार का स्पष्ट रूप से त्याग कर दिया गया है और भूमि, कृषि उत्पाद तथा सत्ता के वितरण की नई प्रणाली के अनुरूप जो सामाजिक एवं

राजनैतिक संगठन उभर रहा था, उसके लिये आधार प्रस्तुत किया गया है।

सामंती श्रेणी-विन्यास का प्रतिबिम्ब धर्म के क्षेत्र में भी देखा जा सकता है। इस काल में पूर्वोत्तर भारत में बौद्ध धर्म का वज्रयान सम्प्रदाय काफी लोकप्रिय था। इसके देवकुल की कल्पना चतु:स्तरीय पिरामिड के रूप में की गयी थी, जिसके तले पर पचास बोधिसत्व आसीन थे। इन बोधिसत्वों के ऊपर ज्ञात मानुषी या मर्त्य बुद्ध अवस्थित थे, जिनके ऊपर पांच ध्यानी या समाधिस्थ बुद्ध विराजमान थो। इस देवकुल के शीर्ष पर सर्वोच्च सत्ताधारी के रूप में प्रतिष्ठित वस्त्राभूषणों से सज्जित वज्रसत्व प्रतिष्ठित किये गये थे।[73] स्पष्ट है कि यह पूरी कल्पना देव समाज के श्रेणी विन्यास को उजागर करती है, जिसमें बौद्ध देवताओं के चार सोपान दिखाये गये है।

भूस्वामी श्रीमंतो के उच्च वर्गो की पृथक पहचान स्थापित करने के लिये सत्ता के अनेक बाह्य चिन्हों तथा प्रतीकों का उपयोग किया गया है। दकन में उन्हें भूमिदान देने के साथ विशेष सम्मान चिन्ह प्रदान किया जाता था, जिसे वे अपने ललाट पर धारण करते थे। देश में सामंतों को सामान्यत: चँवर, छत्र, घोड़े, हाथी, पालकी, आदि दिये जाते थे। उनमें से सबसे प्रबल व्यक्तियों को पंचवाद्यो के उपयोग का अधिकार दिया जाता था।[74] यह विरल विशेषाधिकार था जिसका उपयोग सामान्यत: राजा ही कर सकता था। चक्रवती महासामंत तथा सामंत को सिंहद्वार बनाने का अधिकार था जो छोटे सामंतों को प्राप्त नहीं था। मालूम होता है सामाजिक रुतबे के ये तमाम चिन्ह वर्ण का खास ख्याल किये बिना प्रदान किये जाते थे। जो लोग अपनी भूसम्पत्ति का या लगान वसूली के कारण ऊँची सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति का उपभोग कर रहे थे उन्हीं को सामाजिक उच्चता के इन प्रतीकों[75] का उपयोग करने का अधिकार था।

मध्यकाल में शिल्पियों तथा व्यापारियों को भी ऐसे सामंती विरुद दिये जाते थे, जिनसे उनके सैनिक तथा प्रशासनिक दर्जो का बोध होता था। सेनवंशी राजा विजयसेन के देवपारा अभिलेख[76] से ज्ञात होता है कि वारेन्द्र के शिल्पियों के प्रधान शूलपाणि को राणक की उपाधि प्राप्त थी। नि:संदेह इससे उसके सामाजिक रुतबे में इजाफा हुआ होगा। ठाकुर, राऊत नायक, चौधरी आदि उपाधियाँ केवल क्षत्रियों

या राजपूतों को ही प्राप्ति नहीं थी, बल्कि ये वैश्यों, कायस्थों तथा भूमिदान प्राप्त करने और सैनिक दायित्वों का निर्वाह करने वाले अन्य जातियों के लोगों को भी प्रदान की जाती थी। यही कारण है कि आज भी ब्राह्मणों, राजपूतों, कायस्थों तथा नाइयों जैसी अन्य तथाकथित निम्न जातियों में भी ठाकुर पदवी का चलन देखने को मिलता है।

पूर्वमध्यकाल में छोटे-बड़े राजाओं द्वारा बराबर दिये जाने वाले भूमिदानों के दास्तावेजों के लिये लिपिकों की जरूरत पड़ी जिससे कायस्थ जाति का जन्म हुआ। भूमिदानों के प्रलेख तैयार करने तथा भूमि और गांव एवं दान किये जाने वाले राजस्व की निरन्तर बढ़ती मदों का विवरण रखने के लिये बड़ी संख्या में लिपिक तथा पटवारी भर्ती करने की जरूरत पड़ी। गुप्तकाल में भूमि के विभाजन के कानून बने, जिससे भूमि का विखण्डन आरम्भ हुआ। इसलिये अलग-अलग भूमिखण्डों से सम्बन्धित जानकारी (तफसीले) रखना आवश्यक हो गया। सीमा विवाद स्मृतियों का प्रमुख विषय बन गया, लेकिन इन विवादों के निबटारे के लिये हर भूमिखण्ड का सही विवरण रखना आवश्यक था। इसके अलावा उप-सामंतीकरण के कारण एक ही भूमिखण्ड में हकों के चार-चार, पांच-पांच दावेदार खड़े हो सकते थे। कोई देश के अधिपति के नाते उस पर हक जताता तो कोई अधिपति के सामंत की हैसियत से, कोई उपसामंत के नाते अपना अधिकार जताता तो कोई वास्तविक जोतदार के रूप में[77] इसलिये विवादों का प्रसंग न उठने देने और उठने पर उनको निबटारा करने के लिये गांव और भूमि से सम्बन्धित प्रलेख बहुत सावधानी से तैयार करके रखने की जरूरत पैदा हुई।

यह सारा काम लिपिकों के वर्ग द्वारा किया जाता था। इन लोगों के लिये ''कायस्थ'', ''करण'', ''करणिक'', ''अधिकृत'', ''पुस्तपाल'', ''चित्रगुप्त'', ''लेखक'', ''दिविर'', ''धर्मलेखिन'', ''अक्षरचण'', ''अक्षरचन्द्र'', ''अक्षपटालिक'', ''अक्षपटिलाधिकृत'' आदि तरह-तरह की संज्ञाओं का प्रयोग किया जाता था। बिहार और उत्तर प्रदेश के कुछ कायस्थों में ''आखौरी'' की उपाधि, जिसका सम्बन्ध अक्षर से है अभी भी ''करण'' और ''करणिक'' का उपाधि के रूप में प्रयोग बंगाल, बिहार, उड़ीसा, और

पश्चिम भारत के कायस्थों में पाया जाता है। जिस प्रकार वैदिक काल में सोलह प्रकार के पुरोहित ब्राह्मणी के एक ही वर्ग में शामिल थे उसी प्रकार प्रारम्भ में लगभग एक दर्जन किस्म के लिपिक और पटवारी कायस्थों के एक ही समूह में समाविष्ट थे। कालानतर में सभी प्रकार के पटवारी कायस्थ कहे जाने लगे। आरम्भ में उच्च वर्गों के पढ़े-लिखे लोग ही कायस्थों या लिपिकों के रूप में भर्ती किये जाते थे। कल्हण की कृति[78] से मालूम होता है कि शिवरथ नामक ब्राह्मण को कायस्थ अधिकारी के रूप में नियुक्त किया गया था। एक अन्य स्रोत[79] से मालूम होता है कि पितृकुल से ब्राह्मण मूलवाला लोकनाथकरण भी कायस्थ था। किन्तु विभिन्न वर्णों से भरती किये गये लिपिकों ने धीरे-धीरे अपने मूल वर्णों से अपना रोटी-बेटी का सम्बन्ध तोड़ लिया और अपने सारे सामाजिक रिश्ते-नाते को अपनी नई बिरादरी के दायरे तक ही सीमित कर लिया। इसका मतलब यह हुआ कि अपने परिवार के दायरे के बाहर किन्तु एक ही समूह के अन्दर वे सजातीय वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने लगे। जब ब्राह्मणों के सामने वर्ण व्यवस्था में कायस्थों के लिये उचित स्थान निर्धारित करने की समस्या उपस्थित हुई तो वे बहुत दुविधा में पड़े। उन्हें जो समाधान सूझा वह यह था कि उन्होंने कायस्थों को शूद्रों तथा द्विजों दोनों से जोड़ दिया। कायस्थों के उद्भव के विषय में धर्मशास्त्रों की व्यवस्था स्पष्ट न होने के कारण अंग्रेजी राज्य में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने उन्हें शूद्र करार दे दिया, लेकिन इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने उन्हें ब्राम्हण बताया।

पेशेवर शिक्षित जाति के रूप में कायस्थों के उदय से स्वभावतः लेखकों और लिपिकों के रूप में ब्राह्मणों के एकाधिकार पर आंच आई। मध्य प्रदेश में चन्देल तथा कलचुरि शासकों के और कर्नाटक एवं उड़ीसा के राजाओं के मंत्री कायस्थ थे।[80] स्वभावतः यह बात ब्राह्मणों को खटकने लगी, क्योंकि ऐसे उच्च पदों पर अब तक अधिकतर उनकी ही नियुक्ति होती चली आ रही थी। कायस्थों से उनकी नाराजगी का कारण यह भी था कि भूमिदानों के प्रलेख कायस्थ ही रखते थे, जबकि इन दोनों का उपभोग करने वाले मुख्यतः ब्राह्मण थे। लिपिकों और पटवारियों की हैसियत से कायस्थ ब्राह्मणों के लिये, जो प्रमुख दानभोगी वर्ग थे, बहुधा परेशानी पैदा करते

होगें। इसलिये ब्राह्मणीय रचनाओं में कायस्थों को कभी अच्छी दृष्टि से नहीं देखा गया है। यद्यपि उनका प्रथम उल्लेख चौथी सदी में ही स्मृतिकार याज्ञवल्क्य[81] की रचना में हुआ है, लेकिन तब भी उन्हें प्रजा पीड़क ही कहा गया है। बारहवीं शताब्दी तक कायस्थ निन्दा की प्रवृत्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच चुकी थी। कल्हण[82] की कृति राजतरंगिणी का यह एक प्रिय विषय है और बाद की कई रचनाओं में किचिंत फेरबदल के साथ इस निन्दा प्रकरण को दुहराया गया है।

उत्तरी भारत के देहाती इलाकों में गांवों में प्रधानों और प्रतिष्ठित लोगों के एक नये वर्ग का उदय हुआ। ये लोग महत्तर कहलाते थे। इन्हें भूमि के दान और सौदों की सूचना देना जरूरी होता था ये गांव की जमीन के अच्छे खासे हिस्से के मालिक होते थे, और स्पष्ट ही गांवों की व्यवस्था के लिये जिम्मेदार होते थे। सन् 920 के आसपास की हरिषेणचार्य[83] की कृति बृहत्कथाकोश से ऐसा आभास मिलता है कि गांव के चारागाहों पर महत्तरों का अधिकार होता था, जिसकी शर्त यह थी कि वे शासक को हजार घड़े घी दे। इस समृद्ध वर्ग में जिसका उल्लेख गुप्तकाल से मिलने लगता है, विभिन वर्गो और जातियों के लोग शामिल होते थे, और यद्यपि हर गांव में महत्तरों के पास काफी जमीन जायदाद होती थी, तथापि इनमें से सबका कर्मकांडी दर्जा समान नहीं होता था इस उपाधि के आधुनिक रूप, जैसे महतो, मेहता, महथा, महरोत्रा, मेहतर आदि ऊँची-नीची सभी जातियों में देखे जा सकते हैं। इन परिवारों की सम्पन्नता में समय समय पर उतार चढ़ाव आते रहे होगें लेकिन इसके बावजूद यह माना जा सकता है कि इसमें से कम से कम कुछ के मध्यकालीन पूर्वज गांवों के प्रधान थे और काफी सुखी सम्पन्न थे। यही बात पश्चिमी भारत के ''पट्टकिलो'' के बारे में भी कही जा सकती है। ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों के अभिलेखों[84] में उनका उल्लेख हुआ है और वे हमेशा एक ही जाति के लोग नहीं हुआ करते थे। उनके आधुनिक बंशज पाटिल या पटेल भी एक ही जाति के नहीं हैं। इसी प्रकार मध्यकालीन दकन में दान में भूमि तथा प्रशासनिक एवं राजस्विक अधिकार प्राप्त करने वाले गावुंड लोग भी किसी एक जाति के नहीं थे और कर्नाटक में गौड़ या गौड़ा कहे जाने वाले उनके

आधुनिक वंशज शूद्र माने जाते थे। कर्नाटक के अभिलेख[85] में शावुंड को सत् शूद्र बतलाया गया है।

वैश्यों की अवनति और शूद्रों का उत्थान-

इस प्रकार प्रशासन से जुड़े विभिन्न श्रेणियों के भूस्वामियों के उदय से वर्ण व्यवस्था में बदलाव आया। इस बदलाव का कारण यह भी था कि वैश्यों तथा शूद्रों की पारस्परिक स्थिति में भी परिवर्तन आ चुका था। गुप्तकाल तक तो शूद्र मुख्यतः दासों, शिल्पियों तथा खेतिहर मजदूरों के रूप में दिखायी देते हैं लेकिन उसके बाद वे कृषकों के रूप में वैश्यों का स्थान ले लेते हैं। ह्वेनसांग[86] ने स्पष्टतया इस बात का उल्लेख किया है कि शूद्र किसान हैं। अलबरूनी[87] को वैश्यों और शूद्रों में कोई खास फर्क नजर नहीं आया दोनों एक ही शहर या गांव में साथ-साथ रहते थे और एक दूसरे के घर आते-जाते थे। स्कन्द पुराण में शूद्रों को अन्नट अर्थात् अन्न देने वाला तथा गृहस्थ कहा गया है। हेमचन्द्र कृत[88] अभिधान चिन्तामणि में किसानों और कायस्थकारों को ''कुटुम्बिन'' कहा गया है। बहुत सम्भव है कि आजकल के बिहार और उत्तर प्रदेश की कुर्मी तथा महाराष्ट्र की कुनबी जातियां इन्हीं की वंशज हों।[89]

ईस्वी सन् के आरम्भ से ही स्मृतियों[90] में वैश्यों को लगभग शूद्रों जैसा दर्जा दिया जाने लगा। ''भूस्पर्श'' या ''भूमिस्पर्श'' कहलाने के कारण यह स्पष्ट है कि वे मुख्यतः किसान थे। छठीं सदी तक वे किसानों के रूप में अपनी पहचान खो बैठे। स्कन्दपुराण[91] की भविष्यवाणी है कि कलियुग में वणिको का पतन होगा, उनमें से कुछ लोग तेली और धान ओसाने वाले (तडुंलकारिणः) बन जायेगें, कुछ राजपूतों के यहां शरण लेगें, और शेष लोग सभी वर्णों के यहां। ग्यारहवीं सदी तक तो वे कर्मकाण्ड और वैधानिक, दोनों रूपों में शूद्र माने जाते रहे, जिसका पता अलबरूनी के इस कथन से चलता है कि वेद का पाठ करने पर वैश्य तथा शूद्र दोनों को जीभ काटकर दंडित किया जाता है। फाहियान उनके द्वारा दी जाने वाली दक्षिणा की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। किन्तु गुप्तरोत्तरकाल में व्यापार के ह्रास के कारण उनकी हालत बिगड़ गयी। इस बात के काफी विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध हैं कि

आठवीं सदी से बंगाल में वाणिज्य, व्यापार का क्षय होने लगा, जिससे व्यापारियों के महत्व में कमी आयी। प्रोफेसर नीहार रंजन राय[92] ने इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय अवतरण की ओर ध्यान दिलाया है। सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन के शासनकाल में व्यापारियों के शुक्रध्वज नामक झंडे के फहराये जाने के प्रसंग में एक लेखक विलाप करता है- "कहाँ गये वे वणिक जो किसी समय तुझे बुलन्दी पर लहराते थे ? अब तो तेरा उपयोग हल या खूंटे की तरह किया जाता है।" व्यापार के ह्रास के साथ स्वभावतः व्यापारियों की स्थिति में भी गिरावट आयी।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि उत्तर भारत में मुसलमानों के आगमन से पूर्व के मध्यकालीन समाज में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये। भूमि, कृषि उत्पाद तथा सैनिक शक्ति के असमान वितरण से ऐसे सामंती दर्जों का जन्म हुआ, जिनमें वर्णों का कोई ध्यान नहीं रखा गया था। खास तौर पर उच्चतर तथा शिक्षित लोगों के स्तर पर, बार-बार भूमिदान देने तथा भूसम्पत्ति का बार-बार विभाजन होने से कायस्थ नामक नये शिक्षक वर्ग का जन्म हुआ, जिसका स्थान वर्ण व्यवस्था में स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया जा सका। जो ब्राह्मण क्षत्रिय का काम भी करते थे वे ब्रह्मक्षत्र कहलाये। शूद्रों के काश्तकार बन जाने तथा वैश्यों की शूद्रों के रूप में अधोगति होने से वर्ण व्यवस्था में और भी बदलाव आया। इसका परिणाम यह हुआ कि बंगाल तथा दक्षिण भारत में नवस्थापित ब्राह्मण व्यवस्था में मुख्य रूप से ब्राह्मण और शूद्रों को ही स्थान दिया गया। सबसे उल्लेखनीय प्रवृत्ति जातियो की संख्या में भारी वृद्धि की थी। ब्राह्मण, कायस्थ और क्षत्रिय या राजपूत जातियों की संख्या में वृद्धि हुई है लेकिन सबसे ज्यादा बढ़ोत्तरी शूद्रों की जातियों की संख्या में हुई। वर्ण संकर जातियों की संख्या में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि हुई। इसी तरह अस्पृश्य जातियों की गिनती में भी काफी इजाफा हुआ। इन सामाजिक परिवर्तनों के पीछे सामन्ती स्थानीयतावाद की प्रबल भावना काम कर रही थी, जिसे भूमि के प्रति गहरे लगाव पर आश्रित संकुचित इकाइयों से बल मिला। इसके अलावा देश विजयों तथा ब्राह्मणों को दिये गये भूमिदानों के माध्यम से ब्राह्मण व्यवस्था में कबायली लोगों का समाहार भी सामाजिक परिवर्तनों में सहायक हुआ।

सामन्तवाद के परिप्रेक्ष्य में भूमि व्यवस्था का ऐतिहासिक सर्वेक्षण और सामाजिक परिवर्तन-

गुप्तोत्तरकाल में केन्द्रीय सत्ता के निर्बल होने के कारण सामन्तवादी प्रथा का उदय हुआ। उत्तर भारत जो प्राचीनकाल में केन्द्रीय सत्तान्तर्गत था, अब छोटे छोटे भागों में बट गया तथा स्थानीय शक्तियों का केन्द्रीय अंग बन गया। अनेक प्रान्तपति, उच्चाधिकारी तथा दानग्राही ही बड़े-बड़े भूखण्डों के भूपति हो गये। भूसम्पत्ति राजा की परिधि से हटकर इन्हीं सामन्तों के हाथो कैद हो गयी। इसी कारण गुप्तोत्तरकाल में भूमि व्यवस्था के विषय में अनेक परिवर्तन दृष्टिगत होने लगे। यद्यपि सामन्तवादी प्रवृत्ति का अभ्युदय गुप्तकाल के पूर्व हो चुका था।

मौर्यकाल से पूर्व के प्रारम्भिक साहित्य[93] में कौशल एवं मगध के शासकों द्वारा ब्राह्मणों को ग्राम अनुदान का उल्लेख मिलता है। ई0पू0 प्रथम शती में आन्ध्र सातवाहनों के काल में महाभोजों महासेनापतियों, महारथियों के उद्भव की चर्चा मिलती है सातवाहन शासकों के ई0पू0 प्रथम शती में सातवाहन शासक गौतमी पुत्र शातकर्णी ने बौद्ध भिक्षुकों को अपने ग्राम अनुदान में देकर अनेक प्रशासकीय अधिकारों का पहली बार परित्याग किया इसमें राज्य की सेना द्वारा उस भूमि में प्रवेश वर्जित था तथा उस भूमि के व्यवस्थापन में राज्य की पुलिस एवं कर्मचारियों का हस्तक्षेप निषिद्ध था।[94] पांचवीं शताब्दी ई0 के भूमि अनुदानों में आय के भूमिगत समस्त स्रोतों का हस्तान्तरण एवं पुलिस और प्रशासनिक व्यवस्था द्वारा हस्तक्षेप न करने का पूर्ण आदेश परिलक्षित होता है। चौथी एवं पांचवीं शताब्दी के भूमि अनुदानों में दानग्राही द्वारा भूमि में दबी हुई समस्त सम्पत्ति और ग्रामों की संग्रहीत सम्पत्ति के उपयोग के अधिकार का प्रयोग किया जाता था। स्पष्ट है कि प्रशासक द्वारा अपनी सम्प्रभुता का समर्पण कर दिया गया।

गुप्तकाल में भूमि अनुदानों[95] से ब्राह्मण सामन्तों का अस्तित्व प्रकट हुआ जिसका प्रयोग राज्यहित में किया जाता था। अशोक के काल में जनपद आहारों में विभक्त किये गये थे जिसका अर्थ है भोजन भूस्वामियों के लिये। सातवाहनकालीन प्रशासनिक इकाइयों द्वारा राजस्व का उपभोग किया जाता था। गुप्तकाल एवं उत्तर गुप्तकालिक

कलचुरि शासकों के लेखों[96] द्वारा क्षेत्रों के राजस्व के उपभोग की प्रथा के प्रचलन के साक्ष्य मिलते हैं। गुप्तकालीन गांव के मुखिया को अर्द्धसामन्त का स्तर मिला हुआ था। इसका कार्य मौर्यकालिक कृषि अधीक्षक के कार्य की तरह अपने अन्न भण्डारों को भरने था। कामसूत्र[97] से अभिज्ञात होता है कि गांव का मुखिया स्त्रियों को खेतों पर काम करने के साथ ही साथ सूत कातने के लिये भी विवश कर सकता था। सामन्तवादी प्रवृत्तियों के विकास के कारण व्यापार ह्रासोन्मुखी हो चला था। सिक्कों के अभाव के कारण वस्तुओं की क्रय शक्ति क्षीण हो चुकी थी।

गुप्तकाल के बाद सामन्तवादी प्रवृत्तियों में काफी नये तथ्य उभरे अनुदान में बिना जुती हुई कृषि भूमि का दिया जाना तथा कृषकों का स्थानान्तरण होने लगा। शासक असैनिक एवं आपराधिक प्रशासन की ओर से विमुख होने लगे थे। प्रतिहार एवं पाल राजाओं की अपेक्षा राष्ट्रकूट राजाओं द्वारा मन्दिरों एवं ब्राह्मणों को अधिक भूमि अनुदान में दी गयी और अधिग्रहणकर्ता को समग्र प्रशासनिक अधिकार भी दिये गये। पल्लव राजाओं द्वारा भी अपने सेनाध्यक्षों के नाम पर नामित ग्रामों को ब्राह्मणों को दान दिया गया। मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था के प्रमुख तत्व इस प्रकार से थे-

1. राजकीय एवं सामुदायिक भूमि पर व्यक्तिगत भूस्वामियों का विकास।
2. उप सामन्तों द्वारा कृषकों को भूमि से बेदखल कर दिया जाता था और उन्हें नि:शुल्क श्रम हेतु विवश किया जाता था।
3. व्यापारिक गतिविधियों के अवसान के कारण सिक्के कम प्रचलित हुये और आत्मनिर्भर आर्थिक व्यवस्था अस्तित्व में आयी।

राजस्व राजकीय अधिकारियों एवं विशिष्ट भूस्वामियों के पास आने लगा, जिसके कारण उपसामन्तों के एक अन्य वर्ग का अभ्युदय हुआ। इस वर्ग की परम्परा सामान्यत: चलने लगी, जिसका उल्लेख चालुक्य शासकों के अभिलेखों[98] में प्राप्त होता है। यह सामन्त अनिवार्यत: राजदरबार में उपस्थित होते थे और किसी भी परिवर्तन हेतु राजा की अनुमति लेनी होती थी। इन सामन्तों को उपाधियों और सामन्ती महत्व के विभिन्न

प्रतीकों के प्रयोग की अनुमति थी। छोटे सामन्त, राजा, सामन्त, राणा, ठाकुर व भोक्ता आदि कहे जाते थे। शासक के प्रति यह उत्तरदायी होते थे सामन्तों के सैनिक दायित्व राज्यों में परस्पर युद्ध के दौरान अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप सामन्तवादी पद्धति का सैनिक स्वरूप सबल और शक्तिशाली बन गया।

इस प्रथा के कारण राज्य के राजस्व में कमी आयी। राज्य विविध इकाइयों में विभाजित हो गया। इसलिये सामन्त ग्रामीणों का शोषण करने लगे और वे अपना उत्पादन स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप करने लगे। अतिरिक्त उपज से कृषकों को कुछ भी नहीं प्राप्त होता था क्योंकि सामन्त उनसे अधिक भाग की मांग करते थे। इसलिये उस समय कम से कम पैदावार करना उपयुक्त समझा गया था इस कारण गांवों का विकास स्थिर हो गया और व्यापार की परिधि में बाधा पड़ी सामन्तों के कर निर्धारण के नियम बहुत अधिक थे और उनमें अर्थ शोषण की प्रवृत्ति निहित रहती थी यह सामन्त अतिरिक्त धन से अपने विशाल प्रासादों का अलंकरण किया करते थे और मन्दिर निर्माण कराते थे उत्पादन एवं उत्पादन प्रक्रियायें उनकी ओर से पूर्णतः उपेक्षित थीं। सामन्तों की संख्या में वृद्धि से कृषको में भूराजस्व के अतिरिक्त अन्य कर भी देना पड़ता था। प्राचीनकाल में केन्द्रीय सरकार द्वारा सार्वजनिक कार्यों में अपने राजस्व के कुछ भाग व्यय किये गये किन्तु सामन्तों ने इस प्रकार के लाभों के लिये अतिरिक्त कर लगाये। जिससे कृषकों की आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ गयी।

जहां एक ओर सामन्तवादी प्रथा से कुछ हानियां हुई वहीं दूसरी ओर इस प्रथा से कुछ लाभ भी हुये जैसे सामन्तवाद के विकास के कारण केन्द्र को प्रशासित नौकरशाही की आवश्यकता नहीं रह गयी। सामन्तों द्वारा राजस्व एकत्रित करने से पुरोहितों, सेनाध्यक्षों एवं प्रशासकों पर होने वाले व्यय की पूर्ति हो जाती थी। राजा और जनता के मध्य यह सामन्त शक्तिशाली माध्यम बन गये थे। सामन्तवादी व्यवस्था में स्थानीय तत्वों को प्रोत्साहन मिला किन्तु इतना होने के बाद भी विकेन्द्रित शासन प्रणाली से समाज के निम्नतम स्तर के लोगों को कोई लाभ नहीं हुआ। ग्रामीण अपने गांवों तक ही सीमित थे, जिससे अनेक उपजातियां विकसित हुई। व्यापारिक

गतिविधियां बिल्कुल शिथिल हो गयी थीं। जाति पंचायत का अविर्भाव हुआ और अनेक उपजातियां तकनीकी व्यवसायों से जुड़ी। जाति व्यवस्था अत्यन्त जटिल हो गयी थी। स्तरीय भूस्वामियों के कारण अनेक जातियों का विकास हो गया था। इन परिवर्तनों से वैश्यों और शूद्रों की स्थिति में भी परिवर्तन हुआ। ब्राह्मणों में अनेक उपजातियां विकसित हुई। पिछड़े हुये प्रदेशों का कृषि कार्य विभिन्न शूद्र जातियों के साथ सम्पृक्त कर दिया गया। कुछ उपजातियों ने आर्थिक आवश्यकतानुसार अपने व्यवसाय परिवर्तित कर दिये। राजपूतों के उदय का कारण भी कतिपय विद्वानों[99] अर्थव्यवस्था को ही ठहराया है। ऐसे विद्वानों की नजर में राजपूतों के उदय के पीछे भूमिदान की प्रक्रिया ही उत्तरदायी थी। दान की गयी भूमि को प्राप्त करने वाले के अधिकारों में अन्तर था जहां यदि एक बड़ा जागीरदार अपने राजा की अनुमति के बिना भूमिदान देने का अधिकार रखता था वहीं दूसरा छोटा जागीरदार भूमिदान राजा की अनुमति के बिना नहीं कर सकता था। इस प्रकार आर्थिक दशा से उच्च सामन्त समय आने पर अपनी राजनीतिक सत्ता भी स्थापित करने लगे। गुजरात व राजस्थान में प्रारम्भिक राजपूत वंश के उदय के पीछे यही कारण विद्यमान था। बारहवीं सदी की रचना अपराजितपृच्छा[100] से पता चलता है कि राजपूत वर्ग में अधिकांशतः छोटे भूमिधर सरदार ही शामिल थे, जो एक या इससे अधिक गांवों के निवासी होते थे। उत्तर गुप्त युग में जाति प्रथा की बढ़ती हुई कठोरता के कारण समाज में इनका विशिष्ट वर्ग बन गया।

सामन्तवादी प्रवृत्तियों के विकास के कारण वैश्यों की स्थिति में परिवर्तन-

पूर्वमध्यकाल में सामन्तवादी प्रवृत्तियों के विकास के कारण एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि वैश्यों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी और पांचवीं सदी तक जो वर्ग अत्यन्त सुखी व सम्पन्न दिखायी पड़ता था, वही वैश्य वर्ग उत्तर गुप्तकालीन व्यापारिक ह्रास एवं सामन्तवादी प्रवृत्तियों के उदय के कारण शूद्रों की स्थिति तक पहुंचने के लिये विवश हो गया। वस्तुतः पूर्वमध्यकालीन भारतीय सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में मार्क्सवादी इतिहासकारों ने बड़ी चतुराई से नगरों के पतन एवं व्यापारिक

गतिविधियों के ह्रास को दिखाकर वह दिखाने का प्रयास किया कि यह सब सामन्तवादी प्रवृत्तियों के अस्तित्व में आने के कारण हुआ। इनकी नजर में पूर्वमध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था शूद्रों के हाथ में केन्द्रित हो रही थी और कुछ शूद्र पूर्वकाल की दासता से मुक्त होकर बेगार की स्थिति में पहुंच गये थे। जिन्हें अर्द्धदास कहा जा सकता है ये अर्द्धदास अपने बेगार श्रम के माध्यम से आर्थिक गतिविधियों पर खर्च होने वाले धन को बचाकर सामन्तों की झोली भरते थे। जिसका परिणाम यह होता था कि अर्थव्यवस्था अवरुद्ध होती थी और सामन्त शाही जटिल स्वरूप ग्रहण करती जा रही थी। ऐसे में अर्थव्यवस्था के पूर्ववाहकों की स्थिति दयनीय होना स्वाभाविक ही है यहां पर यह भी उल्लेखनीय है कि ग्यारहवीं, बारहवीं सदी में जब व्यापार और वाणिज्य की स्थिति में पुनः सुधार हुआ तब वैश्यों की भी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ। इनमें से कुछ तो भूसम्पदा के स्वामी बन गये तथा गुजरात में तो ये इतने समृद्ध हुये कि इनकी गणना सामन्त वर्ग के अन्तर्गत की जाने लगी।

पूर्वमध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था वैश्यों के आपेक्षिक अध:पतन का संदर्भ प्रस्तुत करती है। जिसका दूरगामी परिणाम शूद्रों पर ही पड़ता था क्योंकि यदि वैश्य वर्ण अपनी तीसरी सीढ़ी से थोड़ा सा भी विचलित होगा तो चौथी सीढ़ी पर बैठा हुआ सामाजिक वर्ग ही उसका उपभोग करेगा। अधीतकाल तक आते-आते शूद्रों के शोषण की प्रवृत्ति में बढ़ोत्तरी हुई जैसा कि आर0 एस0 शर्मा[101] व बी0 एन0 एस0 यादव[102] जैसे अनेक इतिहासकारों की मान्यता है कि पूर्वमध्यकाल में सामन्तवादी प्रवृत्तियों के जोर पकड़ने के कारण कृषकों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी क्योंकि इनसे कर वसूली के साथ-साथ बेगार भी लिया जाने लगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस युग में आकर शूद्रों को बेगार श्रम का भागीदार बनाया गया।

पूर्वमध्यकाल के जीवन में मन्दिर महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे- विशेष रूप से दक्षिण भारत में, जहां वें सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों के केन्द्र बन गये। कहने की जरूरत नही कि मन्दिर तथा विहार भूमिदान पर आश्रित थे। पांचवी शताब्दी से भूमिधर मन्दिरों की संख्या में भी वृद्धि हुई और इन्हीं मन्दिरों ने आगे चलकर मठों का रूप ले लिया। यद्यपि अधिकांश भूमिदान ब्राह्मणों के ही

नाम से दिये जाते थे। किन्तु कुछ मन्दिरों के नाम से भी अवश्य दिये जाते थे। छठीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में मध्य भारत में पिष्टपुरी देवी के मन्दिर को दो भूमि अनुदान दिये गये।[103] उसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मौखरि सरदार अनंतवर्मन ने गया जिले में एक सुखी और समृद्ध आबाद गांव भवानी देवी को दान किया।[104] बंगाल में छठी शताब्दियों में गोविन्दस्वामी मन्दिर[105], श्वेतवराहस्वामी[106] मन्दिर और कोका मुख स्वामी[107] मन्दिर को जमीन के टुकड़े दान किये गये। भूमिधर मन्दिरों और विहारों के उदय और विकास में एक बात बहुत सहायक सिद्ध हुई, वह थी धार्मिक तथा शैक्षणिक प्रयोजनों के लिये राजाओं द्वारा अग्रहारों का दान किया जाना। छठी शताब्दी के परवर्ती गुप्त राजा दामोदर गुप्त को एक सौ अग्रहार स्थापित करने का श्रेय दिया जाता है।[108] इसका मतलब यह हुआ कि धार्मिक तथा शैक्षणिक केन्द्र चलाने के लिये ब्राह्मणों को 100 गांव दान किये गये। सातवीं आठवीं शताब्दियों में भी ब्राह्मणों के मन में गुप्तकालीन अग्रहरि अनुदानों की स्मृति बनी हुई थी और उन्होंने समुद्रगुप्त का नाम जोड़कर कम से कम दो जाली अनुदानपत्र तैयार कर लिये।[109] वाणभट्ट ने सातवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में हर्षचरित में ऐसे नकली अग्रहरिकों का उल्लेख किया है जिनका कथित अनुदानों पर कोई वैध अधिकार नहीं था।[110] ह्वेनसांग कहता है कि नालंदा बिहार का खर्च उसको दान किये गये लगभग सौ गांवों के राजस्व से चलता था।[111] और ऐसा प्रतीत होता है कि इत्सिंग के समय तक अनुदान में दिये गांवों की संख्या लगभग 200 तक पहुंच गयी।[112] भूमि अनुदान की प्रथा के कारण ये मन्दिर और विहार अनेकानेक छूटों और रियायतों का उपयोग करने वाले अर्ध स्वतंत्र इकाइयां बन गये और कालक्रम से यही मन्दिर और विहार मध्ययुगीन मठों के रूप में सामने आये। इन मठों की श्री सम्पदा के कारण ही तुर्क आक्रमणकारियों ने इन्हें ढूंढकर लूटा।

भूमिदान की प्रथा को पुण्य कार्य मानते हुये पालों ने भी अनेक धार्मिक अनुदान दिये। इसका सबसे पहला उदाहरण धर्मपाल है उसने उत्तर बंगाल में अपने सामन्त नारायण वर्मन द्वारा शुभस्थली में संस्थापित नन्न नारायण मन्दिर को चार गांव दिया।[113] देवपाल ने नालंदा विहार को ऐसी ही शर्तो पर पांच गांव दान में दिये।[114]

फिर लगभग 993 ई0 में महिपाल ने बौद्धों को धार्मिक प्रयोजनों के लिये उत्तर बंगाल में तीन गांव और कुछ जमीन जिसका उपयोग पहले कैवर्त लोग करते थे दान में दिया।[115] सम्भव है और भी धार्मिक अनुदान दिये गये हों, लेकिन जितने के विवरण उपलब्ध है उतने से ही स्पष्ट हो जाता है कि बंगाल और बिहार में ब्राह्मण, बौद्ध विहार और शैव मन्दिर इस काल में जबरदस्त भूस्वामी वर्ग के रूपमें सामने आये इन्हें विस्तृत आर्थिक सुविधाओं के साथ-साथ काफी प्रशासनिक शक्ति भी प्राप्त थी। परिणामत: एक ओर तो राजाओं किसानों के आर्थिक अधिकार कम होते जा रहे थे, और दूसरी ओर राजा के हाथों से प्रशासनिक सत्ता निकलती जा रही थी।

इसी काल में प्रतिहार राजाओं ने उत्तरी भारत में बहुत से गांव दान में दिये। 836 ई0 में प्रथम भोजदेव ने का कान्यकुब्ज मुक्ति के कालंजर मण्डल में एक पुराना अग्रहार फिर से दान किया।[116] द्वितीय महिपाल ने ग्वालियर में एक मन्दिर को एक गांव दान दिया।[117] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिहारों के सामंतों के राज्यों में यह प्रक्रिया और भी प्रबल रूप में विद्यमान थी। कठियावाड़ के चालुक्य सामंत प्रथम अवन्तिवर्मन के बेटे बहुलवर्मन में 893 में तरुणादित्य देव के मन्दिर को एक गांव दान किया।[118] 946 में एक चाहमान सामंत के अनुरोध पर उज्जैन के शासक माधव ने सूर्य मन्दिर को एक गांव दान दिया।[119] उत्तर प्रदेश में राज्याधिकारी को भूमि अनुदान देने का सबसे पहला अभिलेखीय प्रमाण 10वीं शताब्दी के प्रारम्भ में गोरखपुर जिले में मिलता है। सामंत और मंत्री कृतकीर्ति के पुत्र सचिव भदोली द्वारा दिये एक धार्मिक अनुदान में बताया गया है कि उसने जो गावं दुर्गा देवी को अनुदान में दिया वह उसे राजा जयदित्य की कृपा से प्राप्त हुआ था। राज्याधिकारी को भूमि अनुदान देने का सबसे पहला प्रमाण 10वीं शताब्दी के प्रारम्भ में गोरखपुर जिले में मिलता है।[120]

गुजरात के चौलुक्यों ने भी बहुत से धार्मिक अनुदान दिये। जैन तथा हिंन्दू मन्दिरों को जो अनुदान दिये गये उनमें से अधिकांश में एक गांव का ही दान शामिल है। लेकिन प्रबन्ध चितांमणि में जो एक अर्द्ध ऐतिहासिक साहित्यिक कृति

है, बताया गया है कि वालाक देश में सिद्धराज ने ब्राह्मणों के लिये सिंहपुर नामक एक अग्रहार स्थापित किया जिसमें 106 गांव शामिल थे।[121] चौलुक्यों ने बहुत से मन्दिर बनवाये जिनमें से अनेक के खर्चे के लिये ग्राम अनुदान दिये गये होगें। कुमारपाल ने 1440 जैन मन्दिर बनवाये शायद प्रत्येक गांव में एक-एक[122] हमें यह जानकारी तो नहीं है कि इन मन्दिरों के निर्वाह के लिये कितने गांव दिये गये लेकिन मुसलमान इतिहासकार ने सोमनाथ मन्दिर के अधीनस्थ गांवों की जो संख्या बतायी है उसे देखकर आश्चर्य होता है। कहा गया है कि 10,000 ऐसे गांव जिनमें भलीभांति खेती-बाड़ी होती थी इस मन्दिर के प्रत्यक्ष नियंत्रण[123] में थे। यह संख्या भले ही अतिरंजित हो, लेकिन इस कथन की सच्चाई में संदेह करने का कारण नहीं दिखायी देताकि हिन्दुस्तान के विभिन्न राजाओं ने इसे कुल मिलाकर दो हजार गांव दान दिये। जो कुछ भी हो इतना निश्चित ही है कि अन्य किसी भी धार्मिक संस्था के अधीन इतने अधि ाक गांव नहीं थे। यहां तक कि नालन्दा के पास भी केवल 200 गांव ही थे।[124]

आर्थिक जीवन में मन्दिरों की भूमिका-

पल्लव तथा चोल आदि शासकों के काल में राजाओं, व्यापारियों तथा धनाढ्य लोगों द्वारा मन्दिरों तथा धार्मिक संस्थाओं को प्रचुर मात्रा में सोना, चांदी बहुमूल्य रत्नों के अतिरिक्त भूमि तथा ग्राम दान दिये जाने लगे। पल्लवों के एक सौ सत्रह लेखों में से तिरेपन में मन्दिरों को भूमि तथा ग्राम दान का उल्लेख है।[125] ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी के पचहत्तर अभिलेखों में से (जिन्हें चोलकालीन माना जाता है) उन्चास अभिलेखों में मन्दिरों को दान देने की चर्चा है। निरुपित, तंझबूर, चिदंबरम आदि, मन्दिरों को इस प्रकार अभूतपूर्व सम्पदा प्राप्त होती गयी[126] इससे मन्दिरों के कर्मचारियों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। इन कर्मचारियों को उनकी सेवा के बदले अनाज तथा बाद में भूमि भी दी जाने लगी।

मन्दिर को दान में जो भूमि सुवर्ण तथा आभूषण और नकदी प्राप्त हुई उसका मन्दिर के अतिरिक्त संगठन पर प्रभाव पड़ा। दान में प्राप्त गांवों से पैदावार का राजकीय भाग, जिसे मलेबार कहते थे, मन्दिर की आय हो जाती थी। पल्लव तथा चोल अभिलेखों में परिहारों का उल्लेख है।[127] परिहार का अर्थ है : देवदान भूमि

की राज्यकरों से मुक्ति तथा राज्य के भूमि अधिकारों का मन्दिरों को हस्तान्तरित होना इस प्रकार पूर्वमध्ययुग में मन्दिर एक प्रकार से बड़े जमींदार बन गये। मन्दिरों को स्थानीय लोगों से कर वसूल करने का अधिकार दे दिया गया था इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इन शासन एवं दण्ड सम्बन्धी करों को वसूल करने का अधिकार देने से मन्दिरों को शासक सम्बन्धी अधिकार भी मिल गये और केन्द्रीय सत्ता के दुर्बल होने पर मन्दिरों को प्राप्त इन अधिकारों ने सामंतीय व्यवस्था को जन्म दिया। मन्दिर राजनैतिक शक्ति के केन्द्र बन गये ऐसा प्रतीत होता है कि मन्दिरों तथा मठों का अस्तित्व सामंती वातावरण के अनुकूल था क्योंकि मठाधीशों और पुरोहितों से राजाओं को प्रजा पर शासन करने में सहायता मिली। मन्दिरों द्वारा भूमि हस्तान्तरण करने के कारण मन्दिरों की आर्थिक व्यवस्था में कतिपय प्रवृत्तियों का समावेश होता गया। हस्तांतरित भूमि से अतिरिक्त कर की मांग ने कृषकों के कष्टों को बढ़ाने में सहयोग दिया। साथ ही केन्द्रीय सत्ता के दुर्बल होने पर सामंती ढांचे के मन्दिरों की आर्थिक व्यवस्था और मजबूत होती गयी; यही बात है कि मन्दिरों की भूमि पर न्यायिक तथा प्रशासनिक अधिकार का बढ़ते जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वमध्यकाल के प्रारम्भ में सामंती प्रभाव के तहत और विहारों को विभिन्न प्रकार के भूमि अनुदान दिये जाने की वजह से बौद्ध धर्म का तंत्रवाद के निकृष्टतम रूपों में पतन हो गया। अपनी नीच से नीच किस्म की वासना को शांत करने के लिये सामंतों ने अपने जघन्य आचरण को धर्म के आवरण में छिपाने की कोशिश की और आरम्भिक मध्यकाल में मन्दिरों में कामुक मूर्ति-चित्रण आम प्रथा हो गयी। बौद्ध विहारों के सोपानात्मक गठन में कमोवेश सामाजिक राजनीतिक ढांचे के प्रतिरूप का अनुगमन किया गया। वे ठीक-ठीक मध्यकालीन यूरोपीय चर्च जैसे नहीं थे किन्तु साथ ही उन्हें अनुदान के रूप में जो भूमि मिली हुई थी उसमें कानून एवं व्यवस्था कायम रखने के नाम पर किसी तरह का राजकीय हस्तक्षेप नहीं था। आगे चलकर इन मन्दिरों, विहारों ने मठों का रूप ले लिया और इनका स्वरूप सामंती किस्म का हो गया। ये धार्मिक प्रतिष्ठान महत्वपूर्ण सामाजिक,

आर्थिक गतिविधियों के केन्द्र थे। उनका इतिहास लिखा जाना अभी बाकी है। इन मठों, विहारों, अग्रहारों, ब्रह्मदेयों ने कहां तक सामाजिक संघर्ष को रोका और सामंजस्य को बढ़ावा दिया। ग्रामीण रोष तथा राजनीतिक हस्तक्षेप को आमंत्रित किया और केन्द्रीय सत्ता को कमजोर बनाया, आर्थिक एवं सामाजिक महत्व के ऐसे सभी प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार करने की जरूरत है क्योंकि अब तक आर्थिक एवं सामाजिक इतिहास के नाम पर जो कुछ हमारे पास है वह मध्यकालीन राजवंशों पर विभिन्न पुस्तिकाओं में संग्रहीत कुछ गौण अध्यायों जैसा प्रतीत होता है।

दक्षिण के मन्दिरों की भांति उत्तरी भारत के विशाल मन्दिरों की बड़ी जमींदारी रही होगी। सोमनाथ मन्दिर के सम्बन्ध में मुसलमान इतिहासकारों ने लिखा है कि मन्दिर के पास 10,000 गांव थे जिनमें खेती होती थी। कल्हण की राजतरंगिणी से भी पता चलता है कि अवंति स्वामी तथा अन्य मन्दिरों को अनेक गांव दान में मिले थे। इससे यह अनुमान स्वाभाविक है कि मुल्तान का सूर्य मन्दिर तथा उड़ीसा के मन्दिरों के पास भी विशाल भूसम्पत्ति रही होगी। स्थायी भूसम्पत्ति के अतिरिक्त मन्दिरों को मकान भी दान में मिलते थे। ये मकान मन्दिर द्वारा किराये पर उठाये जाते थे। इस किराये का उपयोग दैनिक पूजा की सामग्री के लिये किया जाता था। किन्तु मन्दिरों के निर्माण तथा विशाल आयोजनों की देखभाल व संवर्धन राजाओं, सामंतों तथा धनी वैश्य वर्ग के धर्मदाय तथा दोनों से ही सम्भव हो सका। यह भी विचार प्रकट किया गया है कि इन विशाल मन्दिरों तथा मठों का अस्तित्व सामंती वातावरण के अनुकूल था। क्योंकि मठाधीशों और पुरोहितों से राजाओं को प्रजा पर शासन करने में सहायता मिली इस दृष्टि से मठाधीशों और राजगुरुओं ने वहीं भूमिका निभाई जो प्राचीनकाल में वेद, धर्मशास्त्रों या पुरोहितों ने निभायी।

ईस्वी सन् की आरम्भिक सदियों के दौरान और उसके पश्चात् भी धार्मिक कर्मकांडों तथा आचार व्यवहार में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये। लगभग पांचवी सदी से छोटी-छोटी निजी गृहस्थियों की स्थापना सुरक्षित पारिवारिक भूसम्पत्ति के उदय तथा मुद्रा के प्रयोग के साथ घरेलू पूजा-अर्चना और महायज्ञों का जो चलन आरम्भ हुआ था, वह ईस्वी सन् की दूसरी सदी के बाद लोकप्रिय नहीं रह गया था। यद्यपि

सातवाहन शासक इन यज्ञों मे दक्षिणा देने के लिये हजारों कार्षापण व्यय करते थे किन्तु परवर्ती काल में बहुत कम राजा इस तरह के यज्ञ करते थे। सामान्य लोगों के बीच तो इस प्रथा का अस्तित्व ही प्रायः मिट गया था। गुप्त तथा गुप्तोत्तरकाल के पुराणों में तीर्थयात्रा तथा दान की महिमा का बखान किया गया है। यज्ञों का स्थान इन पौराणिक धर्माचरणों ने ले लिया। दूसरी ओर, अपनी सेवायें अपने सामंती प्रभु को समर्पित करके उसके प्रसाद या कृपा के रूप में इससे राजस्विक अधिकार, भूमि तथा सुरक्षा प्राप्त करने के बढ़ते रिवाज के अनुरूप धार्मिक क्षेत्र में भी पूजा की प्रथा का विकास हुआ। पूजा के साथ भक्ति का सिद्धान्त भी जुड़ा हुआ था। जो भी हो आरम्भिक दौर की भक्ति ऐसे काल में प्रकट हुई जिसमें राजा और उसके अधिकारियों का स्थान बड़े महत्व का था, और देवताओं की संख्या कम थी। मध्यकालीन भक्ति का मतलब था अपने आराध्य के प्रति सम्पूर्ण समर्पण। जो मध्यकाल में धर्म की खास विशेषता बन गया। यह बात सातवीं सदी से तमिलनाडु पर विशेष रूप से लागू होती है। मध्यकालीन भक्ति भूस्वामियों पर रैयतों या अर्धकृषि दासों की सम्पूर्ण निर्भरता की प्रतिच्छाया थी।

पूजा तथा भक्ति, दोनों तंत्र सम्प्रदाय के अभिन्न अंग बन गये इस नये सम्प्रदाय का जन्म मध्यदेश से बाहर आदिवासी और सीमावर्ती क्षेत्रों में हुआ था, जिसके मूल में ब्राह्मणों तथा कबायली लोगों के बीच होने वाला वह सम्पर्क और आदान प्रदान था जो इन प्रदेशों में बड़े पैमाने पर दिये गये धार्मिक भूमिदानों के फलस्वरूप हुआ। नये क्षेत्रों में ब्राह्मणीय प्रभुत्व को कायम रखने का उपाय यही था कि कावायली कर्मकांडों तथा देवी देवताओं, विशेष रूप से मात्र देवी को अपना लिया जाये। पांचवी, सातवीं सदियों के दौरान नेपाल, असम, बंगाल, उड़ीसा, मध्यभारत तथा दक्कन में बहुत से ब्राह्मणों को भूमिदान मिले, और लगभग इसी काल में इन क्षेत्रों में तांत्रिक ग्रन्थों मन्दिरों तथा रीति-रिवाजों का भी उदय हुआ। तमिलनाडु के अधिकांश भाग में ब्राह्मण बड़ी संख्या में आठवीं सदी से बसने लगे और आगमों का संकलन नंवीं सदी के आसपास से होने लगा। तंत्र सम्प्रदाय के धार्मिक तत्वों का समावेश जैन तथा बौद्ध धर्मो और शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों में हुआ, तथा सातवीं सदी से लेकर

मध्यकाल के पूरे दौर में इसका बोलबाला रहा।

इसमें संदेह नहीं कि बढ़ते हुये ब्राह्मणीय प्रभाव तथा सम्पत्ति के अधिकार पुरुषों के हाथो में होने के कारण पितृतंत्र धीरे-धीरे मातृतंत्र पर हावी हो गया। जब मन्दिरों तथा ब्राह्मणों को आदिवासी क्षेत्रों में भूमिदान दिये जाने लगे तो इस प्रक्रिया में तेजी आयी। मालूम होता है जनजातियों के बीच स्त्री की भूमिका ज्यादा अहम होती थी लेकिन भूमि विषयक नई व्यवस्था के अधीन और खेती में लोहे के फालों का प्रयोग आरम्भ हो जाने से स्त्रियों की अहमियत खत्म हो गयी और पुरुषों की प्रधानता बढ़ी। आदिम जनजातियों को ब्राह्मणीय सामंती समाज में खपाने के लिये मातृदेवी को मान्यता दी गयी और इसे ब्राह्मणीय ग्रन्थों तथा मूर्तिकला में सम्मान का स्थान प्रदान किया गया। यद्यपि मध्यकाल में सामाजिक तथा आर्थिक धरातल पर मातृतंत्र का व्यापक रूप से निग्रह किया गया, तथापि कर्मकांडी और धार्मिक स्तर पर जनजातियों की भरपाई कर दी गयी। तंत्र के प्रभाव के कारण मातृदेवियों की पूजा व्यापक रूप से होने लगी, हालांकि ब्राह्मणीय सामंती समाज के सम्पर्क में आने से जनजातीय समाज में स्त्रियों का महत्व वास्तव में कम हुआ।

भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति तथा सामान्य रोगों के उपचार और मनुष्य, पशु एवं सांसारिक सम्प्रदायों पर आने वाले संकट के निवारण के लिये जादू टोने से सम्बन्धित कर्मकांडों का प्रयोग अथर्ववेद के काल से ही किया जा रहा था, किन्तु अब शिक्षित ब्राह्मण तथा उनके अधीमानी यजमान विधिवत् उनका आयोजन करने लगे। उन्होंने इन कर्मकांडों को बढ़ावा तो खूब दिया, लेकिन साथ ही उनके रूप को विकृत भी कर दिया। मध्यकालीन तांत्रिक एक ही साथ पुरोहित, ज्योतिषी और वैद्य, सबका काम करने लगा। सरदार और श्रीमंत तथा अन्य सम्पन्न लोग, उस काल में दुष्प्राप्य धातु सोने की प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के गुह्य अनुष्ठान करने लगे।

मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था में नये ढंग से संघर्ष और अन्तर्विरोध पैदा हुये। प्राचीनकाल में कृषकों के विरोधों और जनाक्रोश के भाजन राजा और कभी कभी पुरोहित होते थे, क्योंकि प्रजा के सारे दुख-दैन्य का कारण इन्हीं लोगों को माना जाता था। प्रजा का शोषण करने वाले प्रान्तीय शासकों और दफ्तरशाहों के खिलाफ

भी शिकायतें की जाती थीं। वर्ण-संघर्षों के भी उदाहरण मिलते हैं- जैसे वैश्यों तथा शूद्रों का अपने-अपने कर्तव्यों से विमुख हो जाना। अब समाज तथा भूमि की नई व्यवस्था के अन्तर्गत नये प्रकार के संघर्षों का जन्म हुआ। इन संघर्षों के मूल में मुख्यत: भूस्वामित्व का प्रश्न हुआ करता था। लगता है, राजा और दानभोगियों के बीच, और सबसे बढ़कर दानभोगियों तथा किसानों के बीच जमीन को लेकर काफी विवाद उन्तते रहते थे ये विवाद धार्मिक भूस्वामियों (मन्दिरों और पुराहितों) तथा धर्मेत्तर पक्षो के बीच भी उठ खड़े होते थे।

इसमें संदेह नहीं कि तुर्क मुसलमानों के शासन की स्थापना के फलस्वरूप देश के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संगठन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये। किन्तु मध्यकाल में उत्पादन पर भूस्वामियों का नियंत्रण, जातियों की संख्या में वृद्धि, कला, लिपि और भाषा में क्षेत्रीय पहचान, पूजा, भक्ति, तीर्थ और तंत्र तथा इसी तरह की जो अन्य प्रवृत्तियां उभरी और आगे कायम रहीं उनमें से अधिकांश के मूल छठीं और सातवीं सदियों में ढूंढे जा सकते हैं। इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि देश के बहुत बड़े हिस्से में भूमिदान का चलन चौथी, सातवीं सदियों में ही फैला और तुर्को तथा मुगलों के शासनकाल में उसका व्यापक प्रसार हुआ।

सामन्तवाद की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक भूमिका-

प्रारम्भिक भारतीय सामंतवाद की ऐतिहासिक भूमिका कई दृष्टियों से बड़ी महत्वपूर्ण रही। पहली बात तो यह है कि उदयमी और साहसी ब्राम्हणों ने पिछड़े और जनजातियों से आबाद क्षेत्रों में बहुत उपयोगी काम किये। पुरोहितों द्वारा प्रतिपादित कतिपय मध्यकालीन विश्वास और विधि विधान जनजातियों की आर्थिक समृद्धि में सहायक सिद्ध हुये। उदाहरण के लिये गौ हत्या को नर हत्या के ही समान जघन्य कृत्य बताया गया जिससे गोधन के परिरक्षण में सहायता मिली। ब्राम्हणों और पुरोहितों ने आदिवासियों को हल तथा खाद का उपयोग करना तो सिखाया ही साथ ही उन्हें नक्षत्रों और ऋतुओं, विशेषकर वर्षो के आगमन की जानकारी देकर भी कृषि की उन्नति में योग दिया। जो इलाके बसे बसाये थे उनमें धार्मिक भोक्ताओं को ऐसी जमीन दी जाती थी जिसमें पहले से ही खेती बाड़ी होती थी। ऐसे क्षेत्रों

में उनकी उपयोगिता इस बात में निहित थी कि वे लोगों में प्रतिष्ठित सामाजिक व्यवस्था के प्रति सम्मान का भाव पैदा करते थे।

दूसरे भूमि अनुदानों के परिणामस्वरूप अनुदान क्षेत्रों में शान्ति व्यवस्था कायम रखने में सहायता मिलती थी, क्योंकि इन क्षेत्रों में कानून की सत्ता और शान्ति बनाये रखने का दायित्व ग्रहीताओं को दिया जाता था। दाताओं की इस कृपा का प्रतिदान भी ब्राह्मणों ने किसी न किसी रूप में अवश्य दिया। उन्होंने पूर्वमध्यकाल के राजाओं के लिये जाली वंश वृक्ष तैयार किये और उन्हें सूर्यवंशी अथवा चन्द्रवंशी साबित करके लोगों में भ्रम फैलाया कि वे अपने दैवी अधिकार के बल पर शासन कर रहे हैं। दूसरी ओर गृहस्थ सामंतगण अपनी अपनी जागीरों का शासन चलाकर और युद्धकाल में सेना जुटाकर अपने अपने प्रभुओं की सहायता किया करते थे। तीसरी बात यह है कि भूमि अनुदानों के परिणामस्वरूप जन जातियों के बीच ब्राह्मण संस्कृति का प्रसार हुआ और अपने आदिम रहन सहन को छोड़कर वे सभ्य सुसंस्कृत बने ब्राह्मणों ने उन्हें लिपि कला तथा साहित्य का ज्ञान कराया और उच्चतर भौतिक जीवन से परिचित कराया इस अर्थ में सामंतवाद देश के एकीकरण में सहायक सिद्ध हुआ। ये ब्राह्मण मूलतः मध्य प्रदेश और तीर मुक्ति के निवासी थे। भूमि अनुदानों का उपभोग करने के लिये उन्हें वहां से बंगाल उड़ीसा और मध्य भारत बुलाया गया। इस प्रकार ये सारे क्षेत्र एक संस्कृति की परिधि में आये। फलतः इनकी पारस्परिक एकता बढ़ती गयी। वर्णसंकर और अन्य जातियों की संख्या बढ़ गयी और ब्रह्मवैवर्त पुराण में तो इनकी संख्या 100 तक पहुंच गयी है इसका एक मुख्य कारण यह था कि ब्राह्मणों को दिये गये भूमि अनुदानों के परिणामस्वरूप बहुत सी जनजातियां ब्राह्मणों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आई और ब्राह्मण संस्कृति वाले समाज में उन्हें किसी न किसी जाति के रूप में स्थान दिया गया।

इस प्रकार हम मान सकते हैं कि भूमि अनुदान नये क्षेत्रों और नये लोगों को वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत लाने में सहायक सिद्ध हुये और इससे सारे देश में किसी हद तक समान सामाजिक व्यवस्था कायम हुई। किन्तु दूसरी ओर इन अनुदानों के फलस्वरूप निहित स्वार्थ का उदय हुआ जिससे राजनीतिक सत्ता विभक्त होती

चली गयी। देश की विशालता और यातायात की असुविधा के कारण राजनीतिक एकता बनाये रखना राजा के लिये और भी कठिन हो गया। कालक्रम से ब्राह्मण और उनके संरक्षक दूरस्थ प्रदेशों के कटकर अपने क्षेत्रों में एकीभूत हो गये जिससे स्थानीय संस्कृतियों का जन्म हुआ फलतः देश में क्षेत्रवाद का उदय हुआ और लोग अपने क्षेत्र को ही राष्ट्र मानने लगे। इस प्रकार राष्ट्रीय राजनीतिक, सैनिक, आर्थिक और जनसाधारण के हित की दृष्टि से इस व्यवस्था से बहुत हानि हुई। जागीरदारी व्यवस्था के अन्तर्गत जनसाधारण अपने जागीरदार अथवा सामंत के प्रतिं ही वफादार होता था जिससे उसका प्रत्यक्ष सम्पर्क था। स्वयं सम्राटों शत्रुता आवश्यक हो गयी जिसके कारण भारत में राष्ट्रीय एकता सम्भव न हो सकी। इसी कारण राजपूत शासक विदेशी तुर्कों के आक्रमण के अवसर पर भी एक राष्ट्र की भावना को जन्म न दे सके और पृथक-पृथक उनसे युद्ध करते रहे और परास्त हुये। इसी कारण जागीरदारी व्यवस्था के अन्तर्गत सैन्य संगठन भी दुर्बल हुआ। सम्पूर्ण राज्य के आर्थिक साधनों को एक स्थान पर एकत्रित करके सैनिक बल में वृद्धि किया जाना सम्भव न हुआ सैनिकों की भर्ती क्षेत्रीय अथवा जातीय आधार पर हुई। नैतिक प्रशिक्षण और साधनों में विभिन्नता हो गयी। जागीरदारी व्यवस्था की उत्पत्ति का मूल कारण आर्थिक था। लगान वसूल करने की एक विशेष प्रक्रिया ही मूल रूप से इस व्यवस्था की उत्पत्ति का कारण थी और इस व्यवस्था ने आर्थिक दृष्टि से भारत को सर्वाधिक हानि पहुंचाई, जिससे जनसामान्य का हित सम्भव न हो सका भूमि को जागीरदारों और उपजागीरदारों में विभाजित किये जाने के कारण किसानों पर अत्यधिक बोझ पड़ गये। प्रत्येक जागीरदार, उपजागीदार या बिचौलिये को अपने लिये धन बनाना था और अन्त में राजा या सम्राट को भी उसमें से अपना भाग मिलना था ऐसी स्थिति में किसानों से अधिकतम लगान और अन्य कर लिये गये क्योंकि सभी को उन्हीं के द्वारा किये गये उत्पादन में से अपना हिस्सा लेना था इस कारण किसानों की स्थिति खराब हो गयी। एक अन्य दृष्टि से भी जागीरदारी व्यवस्था हानिकारक सिद्ध हुई अधिकांश सम्पत्ति सम्राटों, जागीरदारों अथवा मन्दिरों में संग्रह हो गयी यह भारत का एक ऐसा वर्ग था जो उत्पादन में कोई भाग नहीं लेता था लेकिन सुख सामग्री सभी

चाहता था इस कारण यह वर्ग उपभोक्ता और शोषण करने वाला वर्ग मात्र रह गया। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष व्यक्तियों के लालच का भी कारण बना। ब्राह्मण और क्षत्रियों के हाथों में शासन सत्ता चले जाने के कारण जाति और उपजातियों के अन्तरों को बल मिला और शूद्रों की स्थिति खराब हो गयी। राजपूतों की शौर्य और कुल के सम्मान की भावना से स्त्रियों में सती प्रथा को प्रोत्साहन मिला। विदेशी व्यापार की अनुपस्थिति में न केवल विदेशों से सम्पर्क ही नष्ट हुआ, अपितु विदेश यात्रा पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। उत्पादन की क्रिया से पूर्णतया पृथक शोषण करने वाले जागीरदार और ब्राह्मण वर्ग ने नैतिक पतन के मार्ग को भी प्रशस्त किया। इन सभी ने मिलकर भारतीय समाज की प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध किया। इस प्रकार 11वीं और 12वीं सदी में भारत में जिन दुर्बलताओं को पाते हैं उन सभी का एक बड़ा कारण जागीरदारी अथवा सामंत व्यवस्था थी।

-: 0 :-

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामंतवाद, दिल्ली, 1993, पृष्ठ 11, 12 ।

2. एंडर्सन, पेरी, पैसेज फ्राग एंटीक्विटी टु फ्यूडलिज्म, लंदन 1971, पृ0 18 ।

3. शर्मा, रामशरण, ''पूर्वमध्यकालीन समाज एवं अर्थव्यवस्था पर प्रकाश, दिल्ली वर्ष 1992 ।

4. वही।

5. थापर, रोमिला, ''भारत का इतिहास'', दिल्ली, 1988 पृ0 183 ।

6. वही।

7. सरकार, एस0 सी0 क्वार्टली रिव्यू ऑफ हिस्टॉरिकल स्टडीज, 3 (1962-63) पृ0 126 ।

8. शर्मा, रामशरण, पूर्वो0, ।

9. इनमें से कुछ एक बातों का विशद् विवेचन लेखिका ने शूद्राज इन एंशिएंट इंडिया के 5वें और 6वें परिच्छेदों में तथा इंक्वाइरी, नं0 4 में प्रकाशित 'स्टेजेज इन एंशियट इंडियन इकनॉमी' शीर्षक में किया है।

9. मूरलैंड, एग्रोरियन सिस्टम ऑफ मुस्लिम इंडिया, पृ0 204-5 ।

10. शर्मा, रामशरण, ''भारतीय सामंतवाद', दिल्ली, 1993 पृ0 252 ।

11. शर्मा, रामशरण, शूद्राज इन एंशंट इंडिया, दूसरा संस्करण पृ0 233-39, बी0 एन0 एस0 एस0 यादव, 'द एकाउंट्स ऑफ दि कलि एज एंड द सोशल ट्रांजिशन फ्रॉम एंटीक्विटी टु दमिड्ल एजेज, ''डंडियन हिस्टॉरिकल रिव्यू, 4, अंक 1 व 2,1978 ।

12. श्रीवास्तव के0 सी0, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति पंचम संकरण, इलाहाबाद, 1996, पृ0 620-21 ।

13. वही।

14. यादव बी0 एन0 एस0, सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया, पृष्ठ 136 तथा आगे।

15. श्रीवास्तव, के0 सी0, पूर्वो0 ।

16. वही।

17. वही।

18. वही।

19. वही।

20. पराशर स्मृति 42.4 ।

21. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वा0 पृष्ठ 140 ।

22. श्रीवास्तव, के0 सी0, पूर्वो0, पृ0 623 ।

23. वही।

24. वही।

25. वही।

26. शर्मा, रामशरण, पूर्वो0 ।

27. यादव, बी0 एन0 एस0 पूर्वो0 पृ0 140 ।

28. हरिवंश पुराण, 117.37 ।

29. मनुस्मृति, 7.119 ।

30. शर्मा, रामशरण, पूर्वो0 20.21 ।

31. वही।

32. वही।

33. ऋग्वेद, 2.2.4 ।

34. टी0 टाकाकुसु (अनु0) एक रेकर्ड ऑफ द बुद्धिस्ट रिलीज एज प्रैक्टिस्ड इन

इंडियन एंड दमलय आर्किपल वाई इत्सिंग, ऑक्सफर्ड, 1896, पृ0 6 ।

35. वाटर्स, उपर्युक्त, पृ0 168 ।

36. अर्थशास्त्र, 3.13 ।

37. नारद स्मृति, 1, 181 का भाष्य ।

38. शर्मा, रामशरण, इंडियन फ्यूडलिज्म, पृ0 54-56 ।

39. वही, अध्याय 8 ।

40. शर्मा, रामशरण, पूर्वो0 पृ0 12 ।

41. वही।

42. अर्थशास्त्र, अ0 2, श्लोक ।

43. सि0 इं0 पृष्ठ 188, पंक्ति ।।

44. वही, पृष्ठ 192-194-5 ।

45. वही।

46. एपिग्राफिया नं0 34, इंडिका-4 पंक्तियां 3052 ।

47. वही पंक्तियां 50-1 ।

48. ए0 इं0 नं0 1 'वी' पंक्तियां 26-44 ।

49. इं0 बं0, 3 नं0 16 पंक्तियां 21-29 ।

50. वही, पृष्ठ 23-24, पंक्तियां 24-51 ।

51. वहीं, पृ0 165-66 ।

52. इं0 एं0 15, पृष्ठ 112-13, पंक्तियां 1-12 ।

53. वहीं, पृष्ठ 138 पंक्तियां 9-17 ।

54. एं0 इं0 14 नं0 13 पंक्तियां 1.20 ।

55. इं0 एं0 11. 112-3, पंक्तियां 29-44 ।

56. वही, 156-9, पंक्तियां 34-50 ।

57. एं0 इं0 18 नं0 26 पंक्तियां 66-7 ।

58. इं0 एं0 15, पृष्ठ 112-13, पंक्तियां 1-20 ।

59. इं0 ए0 12, 195, प्लेट 2, पंक्तियां 1.24 ।

60. एं0 इं0 14, नं0 13 पंक्तियां 19-25 ।

61. वही, 3, नं0 36 पंक्तियां 3.15 ।

62. वहीं, 21, नं0 22, पंक्तियां 48-51 ।

63. इं0 एं0 12, 184-5 प्लेट 2 'बी' पंक्तियां 1.19 ।

64. वही, 16, 204, पंक्तियां 6-11 ।

65. रमा नियोगी, हिस्ट्री ऑफ दि गाहडवाल डाइनेस्टी, परिशिष्ट, 'बी' नं0 10, 12, 13, 15, 17, 21, 23, 26 ।

66. स्कन्द पुराण, वह्म खंड, ।

67. वही।

68. वही।

69. वही, 81.2.12 ।

70. 71.33.4.39, अग्रवाल, वासुदेवशरण, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, 1953, पृ0 178 पा0 टि0 3 ।

71. आचार्य, पी0 के0, 'हिन्दू आर्क्टिक्चर इन इंडिया एंड एब्राड, मानसार सिरीज, ऑक्सफर्ड, 1946, 125, यह वर्ण ग्रन्थ के 45वें और 46वें अध्यायों में किया गया है।

72. वही, पृ0 125 ।

73. भट्टाचार्य, विनयतोष, द इंडियन बुद्धिस्ट आइकनॉग्रामी कलकत्ता, 1958, अध्याय 1 और 11 ।

74. शर्मा, रामशरण, इंडियन, फ्यूडलिज्म, पृ0 22-3, 99 ।

75. अपराजितपृच्छा, 81.21.41 ।

76. इंस्क्रिप्शंस ऑफ बंगाल, 111, मजूमदार, एन0 जी0 (सं0), राजशाही, 1929 नं 5, श्लोक 36 ।

77. शर्मा, रामशरण, पूर्वो0 पृ0 153-4 ।

78. काणे, पी0 वी0, पूर्वो0 पृ0 77 ।

79. शर्मा, रामशरण, पूर्वमध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति।

80. वही।

81. एं0 इं0, नं0 19, 1, 322 ।

82. वही।

83. शर्मा, बी0 एन0 पृ0 311 में उद्धत ।

84. शर्मा, रामशरण, पूर्वो0 पृ 170-71 ।

85. वही।

86. वाटर्स, टी, ऑन युयान च्वांगस् ट्रैवल्स इन इंडिया, टी रीज, डैविड्स तथा बुशेल, एस0 डब्लू0 (सं) 2 जिल्दे, लंदन, 1904-5-1, पृ0 168 ।

87. सचाऊ, 1 पृ0 10 ।

88. नगर खण्ड, पृ0 242.31 ।

89. ।।।, 554 ।

90. ब्रम्ह खण्ड, ।।, 39.291.2 ।

91. सचाऊ, एडवर्ड अलबेरूनीज इण्डिया, जिल्द 2, लंदन 1910, पृ0 136 ।

92. मिश्र, जयशंकर ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी 1968, पृ0 117 ।

93. शर्मा, रामशरण, पूर्वो0, पृ0 17 ।

94. बंग्लौर इतिहास (आदिपर्व) कलकत्ता, 1948, पृ0 3431 ।

95. मजूमदार, आर0 सी0 (सं0), द हिस्ट्री ऑफ बंगाल, 1, ढाका, 1943, पृ0 558-59 ।

96. नियोगी, पृष्पा, ब्राम्हणिक सेंटलमेंटस इन डिफरेंट सबार्डिवीजन्स ऑफ बंगाल, कलकत्ता, 1967, पृ0 55 ।

97. शर्मा, रामशरण, पूर्वो0, पृ0 173 ।

99. इंस्क्रिप्शंस ऑफ बंगाल, ।।।, नं0 4, श्लोक 31 ।

99. नियोगी, पुष्पा, पूर्वो0, पृ0 33 ।

100. वही।

101. शर्मा, रामशरण, पूर्वो0 ।

102. यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

103. कां0 इं0 इ0 3, न, 25 पंक्तियां 14-15, नं0 31 पंक्तियां 7-11 ।

104. वही नं0 50, पंक्ति 10 ।

105. सिं0 इं0, पृष्ठ 342 ।

106. वही, पृष्ठ 338-39 ।

107. एं0 इं0 15, नं0 7, पंक्तियां 6-7 ।

108. कां0 इं0 इं0 3, नं0 42, पंक्ति 10 ।

109. वही, नं 60, एं0 इं0 25, नं0 9 ।

110. वही, पृष्ठ 212 ।

111. बील, एस0 द लाइफ ऑफ ह्वेनसांग, पृष्ठ0 212 ।

112. ताकाकस, जे0 (अनु0) ए रेकर्ड ऑफ द बुद्धिस्ट रिलीजन, पृष्ठ 65 ।

113. एं0 इं0 4, नं0 34, पंक्तियां 30-52 ।

114. वही, 18, पृष्ठ 304, पंक्तियां 38-44 ।

115. वही, 29, नं0 1 ''बी'' पंक्तियां 26-44 ।

116. वही, 19, नं0 2, पंक्तियां 1.16 ।

117. एं0 इं0 14, नं0 13, पंक्तियां 1-20 ।

118. वही, नं0 1, 'ए', पंक्तियां, 1-20 ।

119. वही, 'बी' पंक्तियां 32-58 ।

120. शर्मा, रामशरण, ''भारतीय सामंतवाद'', पृ0 45.90 ।

121. वही।

122. वही।

123. वही।

124. वही।

125. झा, द्विजनारायण, ''स्टडीज इन अर्ली इंडियन इकनॉमी, 1980, पृष्ठ 74-75 ।

126. वही।

127. वर्मा, हरिश्चन्द्र, ''मध्यकालीन भारत'' पृष्ठ 93-94 ।

-: 0 :-

षष्ठ अध्याय

धर्म एवं सामाजिक परिवर्तन

अध्याय 6

धर्म एवं सामाजिक परिवर्तन

भारतीय समाज सदा से ही धर्मपरायण समाज रहा है और संसार में इसी विशेषता के कारण उसका आदर है। धर्म की यह परम्परा भारतीय समाज की अति प्राचीन परम्परा है और पूर्व वैदिक काल से इसकी निरन्तरता अविच्छिन्न रूप में बनी हुई है। प्राचीनकाल से ही भारतीयों का जीवन धर्मगत उत्कंठा एवं धर्म चेतना से प्रेरित रहा। समस्त देश और समाज धर्म की विशाल छाया में ही क्रियाशील रहा फलस्वरूप भारतीय सभ्यता, संस्कृति के विकास में भारतीय धर्मो ने विशेष योगदान दिया। धर्म ही भारतीय जीवन का सर्वोच्च आदर्श माना गया है। यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य के सभी क्रियाकलापों का अन्तिम लक्ष्य धर्म संचय करना है। भारतीय समाज व्यवस्था का विकास पाश्चात्य समाज के विकास की भांति अर्थ या भौतिक वस्तुओं का आधार मानकर नहीं हुआ है। जिस प्रकार पाश्चात्य समाज अर्थ व भौतिक सुख प्राप्ति पर अवलम्बित है, अपने प्रत्येक कार्य में भौतिक सुख को प्रमुखता देता है, उसी प्रकार भारतीय समाज धर्म पर अवलम्बित है जीवन के प्रत्येक छोटे-बड़े कार्य, यहां धर्म के आधार पर व्यवस्थित होते हैं। 'धारयतीति धर्मः' जो समाज का, व्यक्ति धारण करे वही धर्म है।[1] जैसे अग्नि का धर्म उष्णत्व है- उष्णता न हो तो अग्नि की सत्ता ही नहीं रह जायेगी- ऐसे ही धर्म न हो, तो हिन्दू

समाज भी अस्तित्वहीन, अर्थहीन हो जायेगा। इसी से यह स्पष्ट है कि मानव जीवन का शायद ही कोई ऐसा अंग हो जिसे धर्म के अधीन न कर दिया गया हो स्वधर्म, वर्णाश्रम धर्म-कुल धर्म, राज धर्म, देश व काल का धर्म[2] आदि भारतीय संस्कृति पर धर्म की प्रधानता के ही द्योतक है। जहां वर्ण धर्म के द्वारा सामाजिक व्यवस्था को आयोजित करके भौतिक प्रगति के पथ को प्रशस्त करने का प्रयत्न किया गया है, वहां कुल धर्म के आधार पर पारिवारिक जीवन को सुख, समृद्धि, पवित्रता और निरन्तरता प्रदान करने का प्रयास किया गया है। एक ओर राज धर्म राजा को प्रजा पालन, प्रजा हित वर्धन व न्याय दान के आदर्शों से आवृत करता है; तो दूसरी ओर आश्रम-धर्म पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के आदर्शों की प्राप्ति को सुलभ करता है। उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि चूंकि धर्म का सीधा सम्बन्ध समाज से ही था इसलिये समय-समय पर भारतीय समाज विभिन्न परिवर्तनों के दौर से गुजरता रहा।

भारतीय इतिहास की पूर्वमध्यकालीन शताब्दियाँ दो रूपों में ज्यादा प्रसिद्ध हुईं एक तो यह युग अनेकानेक युद्धों से जूझता हुआ अनेक राजनीतिक तथा सांस्कृतिक कीर्तिमानों को प्राप्त करने में सफल रहा, दूसरे यह युग हिन्दू सत्ता के पतन के रूप में तुर्क आक्रमणों का इतिहास सुरक्षित रखे हुये है। ऐसे वातावरण में चाहे सामाजिक गतिविधियां रही हों या आर्थिक, राजनीतिक गतिविधियां रही हों या धार्मिक, सभी एक दूसरे से किसी न किसी रूप में अन्तर्सम्बन्ध बनाये हुये थी। समाज का तो प्राय: सभी गतिविधियों से रिश्ता होता है। जैसा कि सुविदित है कि भारत में प्रचलित विभिन्न धर्म वैदिक, बौद्ध, जैन, शैव एवं वैष्णव सभी किसी न किसी रूप में पूर्वमध्यकालीन शताब्दियों में प्रचलित थे। इन धर्मों का विभाजित स्वरूप अधीतकाल में ज्यादा मुखरित हुआ। यदि एक ओर बौद्ध एवं जैन धर्म क्रमश: महायान व हीनयान तथा श्वेताम्बर व दिगम्बर सम्प्रदायों में बँटा हुआ था तो शैव धर्म पशुपत, कापालिक, कालामुख, वीर, शैव व लिंगायत सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था। इसी प्रकार वैष्णव धर्म भागवत व बल्लभ सम्प्रदायों में विभक्त था यही नहीं, इसी धार्मिक परिवेश में शाक्त एवं तांत्रिक गतिविधियों का भी खेल प्रारम्भ हो चुका

था। इन सारे क्रियाकलापों ने अपना सीधा प्रभाव समाज पर ही डाला क्योंकि धर्म की अभिव्यक्ति समाज के बिना संवेदनाशून्य हो जायेगी। धर्म की समाज को इसलिये आवश्यकता होती है क्योंकि शायद धर्म ही वह माध्यम है जो व्यक्ति को गहन नैराश्य के क्षणों में आशा की किरण बिखेरता है और व्यक्ति क्योंकि समाज का अविभाज्य अंग है इसलिये निश्चित रूप से समाज को भी उससे दिशा मिलेगी। सामाजिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति बिना धर्म के वैसे रूप में नहीं हो सकती जिस रूप में उसे होना चाहिये। यदि धर्म का स्वरूप परिवर्तित होगा तो सामाजिक परिवर्तन भी अवश्य होगा क्योंकि धार्मिक क्रियाकलापों का अभिनेता तो व्यक्ति ही होता है इसलिये धर्म की उत्पत्ति एवं विकास में कुछ मूलतत्व देखे जा सकते हैं प्रकृति जन्म और मृत्यु के गूढ़ रहस्यों एवं सृष्टि के रहस्यात्मक क्रियाकलापों ने मानव मन और मस्तिष्क को प्रारम्भ से ही आकर्षित एवं अचम्भित कर रखा था।

पूर्वकालीन भारतीयों ने अपने जीवन के श्रेष्ठतम और अमूल्य उपादानों को धर्म और उसके प्रतीकों को समर्पित करने में स्वयं को धन्य माना। पूर्वमध्ययुगीन भारत इसका अपवाद न था। पहले से चली आ रही परम्पराओं को उसने न केवल जारी रखा, वरन उन्हें अधिक विकसित किया। पूर्व एवं तत्कालीन भारतीय इतिहास का विश्लेषणात्मक अध्ययन स्पष्ट दर्शाता है कि भारत में धर्म जीवन के समस्त क्रियाकलापों पर छाया रहा। भारतीय दर्शन की नींव तो धर्म ही था। हिन्दू-जैन-बौद्ध धर्मो और उनके उपसम्प्रदायों ने अपने अनुयायियों, उनके जीवन, व्यवहार और दर्शन को गहराई तक प्रभावित किया। संसार के अन्य देशों की तुलना में धर्म ने भारतीय सभ्यता, संस्कृति पर गहरी छाप छोड़ी।

पूर्वमध्ययुर्गान धार्मिक विश्वासों आस्थाओं की नींव प्राचीन भारत में ही रख दी गयी थी।[3] धर्म के आधारभूत सिद्धान्त, उसकी मोटी रूपरेखा एवं कर्मकाण्डों में अधिक अन्तर न था। इसी कारण से तत्कालीन धार्मिक व्यवस्था प्राचीन परम्परा से एकदम अलग और कटी हुई नहीं थी वह सतत प्रवाहमान ऐतिहासिक सरिता का ही अंग थी। परन्तु धर्मो का स्वरूप अपने मूलरूप में नहीं रह गया। देश, काल, परिस्थितियों और जनभावनाओं के अनुरूप धर्म के स्वरूप और उससे सम्बन्धित कर्मकाण्डों

में परिवर्तन और परिवर्धन हो जाने से धर्मों के शुद्ध रूप में बड़ा अन्तर दृष्टिगोचर होता है।[4] पौराणिक हिन्दू धर्म में उपशाखाओं तथा जैन बौद्ध सम्प्रदायों में नये तत्वों का समावेश हुआ। फिर भी समाज पर उनका प्रभाव कम न हुआ था। नये उप-सम्प्रदायों ने नये क्रियाकलापों को जन्म दिया। धीरे-धीरे उन्होंने रूढ़िवादिता का बाना पहन लिया और जब स्थापित धर्म, रूढ़, अप्रगतिशील एवं एक ऐसे विश्व में सीमित हो जाते हैं जिनकी सीमायें, सदियों पूर्व लिखे धर्मग्रन्थों में ही सिमट जाती है तब वे अपना महत्व खो देते हैं[5] और तब प्रत्येक धर्म यह दृढ़तापूर्वक प्रतिपादित करता है कि उसी के धर्मग्रन्थ एक प्रकार से 'ईश्वरीय शब्द' है। इस कारण वे अभ्रान्त हैं। धर्म ग्रन्थ हमें भ्रान्तिहीन मन मस्तिष्क के अनुभवों का दिग्दर्शन मात्र कराते हैं जिन्होंने उन्हें दैवी प्रेरणा से प्राप्त किया था। परन्तु उनके सम्भाषणों को भ्रान्तिहीन नहीं माना जा सकता।[6] धर्मों का रूढ़ रूप अक्सर दिग्भ्रामित करता है और एक दृष्टि से इस रूढ़ि में जहां एक ओर दोष उत्पन्न हो गये थे, वहीं दूसरी ओर इस रूढ़िवादिता में धर्म और उसकी व्यवस्थाओं का प्रभाव जनसाधारण पर इतना गहरा था कि उसने दैनिक आचार-विचार और सूक्ष्मातिसूक्ष्म रीति-रिवाजों, रूढ़ियों और सभी प्रकार के व्यवहारों को नियमित तथा नियंत्रित कर दिया। कालान्तर में ये धार्मिक नियम मान लिये गये और भारतीय समाज पर धर्म का व्यापक प्रभाव स्थापित हो गया अतएव प्रस्तुत अध्याय में पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज पर विभिन्न धर्मों की वजह से क्या परिवर्तन आया इस तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

वैष्णव धर्म-

पूर्वमध्यकाल में वैष्णव धर्म पूर्वकाल की भांति अपनी पराकाष्ठा पर था। जिसके अनुयायी विष्णु को अपना अराध्यदेव मानकर उनकी उपासना करते थे। अधीतकाल के अनेक अभिलेखों व स्मारकों से ज्ञात होता है कि अनेक राजवंश वैष्णव धर्म के अनुयायी होने के साथ इस धर्म के प्रंसार में मुख्य भूमिका अदा कर रहे थे। जैसे काश्मीर के दुर्लभ वर्धन, ललितादित्य, बंगाल के सेन, कन्नौज के प्रतिहार नरेश देशभक्ति आदि खलीमपुर दानपत्र से पता चलता है कि विष्णु का पूजन ओम् नमौ नारायण के नाम से किया जाता था कभी-कभी ओम नमो भगवते

वासुदेवाय भी कहा जाता था।[7] सेनवंशी शासक अपने को परमवैष्णव[8] कहते थे। चंदेल शासक परमर्दिदेव के बटेश्वर अभिलेख में विष्णु मन्दिर का उल्लेख मिलता है।[9] खजुराहों में तो चंदेल शासकों के संरक्षण में अनेक देव मन्दिरों का निर्माण कराया गया।[10] जिसमें विष्णु[11] के भी अनेक मन्दिर है।

इस युग में विष्णु के अवतारों की आराधना पर अत्यन्त जोर दिया गया जिनके विकास एवं प्रसार में पुराणों ने मुख्य भूमिका निभाई। पूर्वमध्यकाल के साहित्यिक ग्रन्थ भी विष्णु के दस अवतारों का उल्लेख करते हैं। क्षेमेन्द्रकृत दशावतार चरित तथा जयदेव की गीतगोविन्द[12] में विष्णु के दशावतार का वर्णन मिलता है। नागपुर से प्राप्त परमार शासक के एक अभिलेख[13] में विष्णु को मत्स्य जैसे अनेक रूपों में दिखाया गया है। इस युग में विष्णु के वराह अवतार का भी प्रचलन हुआ। दसवीं सदी के मेवाड़ के एक अभिलेख[14] में वराह अवतार का उल्लेख है। नरसिंह अवतार के भी अनेक अभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं। जैसे राजपूताना से प्राप्त एक अभिलेख में नरसिंह अवतार का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया गया है।[15] विष्णु के वामन अवतार की मूर्तियां उत्तर भारत में प्रायः नहीं मिली है। जबकि बंगाल से प्राप्त अभिलेखों में वामन अवतार के उदाहरण मिलते हैं। महाकवि जयदेव ने परशुराम को जगतपति और भृगुपति के रूप में चित्रित किया है।[16] गुजरात में चौलुक्य नरेश जयसिंह ने सहस्त्रलिंग के किनारे दशावतार मन्दिर का निर्माण कराया।[17] इस प्रकार पूर्वमध्ययुग में विष्णु अपने सहस्त्र नामों से पुकारे जाते थे।[18] जिनमें वासुदेव, नरायण, कृष्ण, मुरारि, केशव, हरि, माधव नाम अधिक प्रचलित थे जिनकी उपासना भक्तों द्वारा अत्यन्त श्रद्धा के साथ की जाती थी।

अधीतकाल में विष्णु के अवतारवाद के प्रचलन के पीछे 9वीं व 10वीं सदी के भक्ति आन्दोलन का महत्वपूर्ण स्थान था। यह एक भावनात्मक आन्दोलन था जिसमें कर्मकाण्ड एवं अनुष्ठानों की अपेक्षा भक्ति और उपासना को अधिक महत्व दिया गया। इन आन्दोलनकारियों का एकेश्वरवाद में विश्वास था और विष्णु की उपासना करते थे जिनका यह विश्वास था कि विष्णु परमदेव विश्वात्मा सर्वज्ञानमय अनन्त है। असीम ब्रह्म होते हुये भी प्राणियों के अनुग्रह के लिये वह पृथ्वी पर अवतार लेकर

अधर्म पर धर्म की विजय स्थापित करते हैं।[19] विष्णु के अवतारों में इस काल में सर्वाधिक लोकप्रिय कृष्ण का अवतार हुआ।[20] कृष्ण के उपासकों का यह मत था कि कृष्ण ही परमब्रह्म सच्चिदानन्द है उनमें दिव्य गुण है जिनकी लीलायें सनातन हैं भागवत पुराण[21] से कृष्ण की अनेक लीलाओं का ज्ञान होता है इस युग में न केवल मन्दिरों में भगवान की मूर्तियां स्थापित की गयी बल्कि उन मूर्तियों में अलंकारिता का समावेश इस सीमा तक दिखलायी पड़ने लगा कि कभी-कभी यह भ्रम होने लगा कि कृष्ण भगवान न होकर श्रृंगार रस के कोई नायक हैं। देवता को खुश करने के लिये नाचने गाने की प्रथा शुरू की गयी। अतः इस युग का वैष्णव धर्म पुराने वैष्णव धर्म से काफी भिन्न दिखाई देता है। क्योंकि अब आडम्बर रहित सीधी सादी भक्ति पर जोर दिया जाने लगा था जिसमें भक्त आराध्यदेव को सब कुछ समर्पित कर केवल इष्टदेव की कृपा प्राप्त करना चाहता था[22] इस प्रकार भक्ति मार्ग के साधक का अपने आराध्य के प्रति पूर्णरूप से समर्पण की तुलना रामशरण शर्मा ने भूस्वामी व किसानों से करते हुये लिखा है कि जिस प्रकार किसान समर्पण की भावना से अपने भूस्वामी की सेवा करता है और भूस्वामी की कृपा से जोतने के लिये भूमि व रक्षा पाता है उसी प्रकार का सम्बन्ध भक्त और भगवान के बीच है।[23] चूंकि सामन्तवाद का रंग इस देश में दीर्घकाल तक जमा रहा इसलिये भारतीय लोकाचार में भक्ति की जड़ें भलीभांति जम गयी। प्रस्तुत संदर्भ में धार्मिक गतिविधियों को सामन्तवादी रंग में रंग कर आर0 एस0 शर्मा ने एक ऐसा साहसिक कदम उठाया है जो शायद धर्म के एक नये स्वरूप की खोज करता हुआ दिखायी पड़ता है। इनका यह कहना है कि भक्त व आराध्य के बीच वही सम्बन्ध होता है जो भूस्वामी व किसान के बीच होता है; एक ऐसे पूर्वाग्रह की ओर संकेत करता है जिसमें प्रत्येक इतिहास मार्क्सवादी इतिहास की परिभाषा से परिभाषित होता है।[24] वस्तुतः इष्ट व आराध्य का सम्बन्ध इतना पवित्र व आत्मीय होता है कि उसकी किसी और से तुलना और वह भी स्वामी और सेवक से जहां श्रम व मजदूरी से तुलना की जाय, सही नहीं प्रतीत होती। निम्बार्क आचार्य ने भी भक्ति मार्ग पर जोर दिया व कहा कि मनुष्य को उसी ढंग से भगवान की भक्ति करनी चाहिये जैसे राधा और गोपियों की कृष्ण के प्रति भक्ति थी।[25] भक्ति मार्ग को प्रोत्साहित

करने में पुराणों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा जिनकी मान्यता थी कि ईश्वर की कृपा से मुक्ति सम्भव है तथा यह कृपा व्यक्ति को भक्ति से मिल सकती है। इसके साथ ही वैदिक यज्ञों को सरल बनाकर पुराणों ने धर्म को सबके लिये सरल बना दिया। इस पौराणिक धर्म ने न केवल समाज के रूढ़िवाद का विरोध किया बल्कि जाति व्यवस्था का आधार गुण व कर्म को मानते हुये इस मत का प्रतिपादन किया कि शूद्र सेवावृत्ति के कारण भगवान के अधिक समीप है।[26] इस प्रकार समन्वय भावना से प्रेरित होकर उपासना के ऐसे सरल मार्ग का प्रतिपादन किया गया जिससे सभी वर्ग संतुष्ट रहे। उसके पीछे शूद्रों की सुधरती आर्थिक स्थिति ही कार्य करती दिखायी पड़ती है। इसके साथ ही भक्ति आन्दोलनकारियों ने स्त्री को पुरुष के समकक्ष खड़ा करते हुये कहा कि दोनों में निवास करने वाली आत्मा समान है। अत: सभी प्रेम व भक्ति से प्रभु की कृपा प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करने के अधिकारी हैं।[27] यद्यपि इन भक्ति सम्प्रदायवादियों को कुमारिल भट्ट व शंकराचार्य का विरोध भी सहना पड़ा।[28] कुमारिल भट्ट का यह विचार था कि स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति केवल यज्ञों द्वारा हो सकती है।[29] शंकराचार्य ने भी ज्ञान को मोक्ष का एकमात्र साधन माना[30] पर इन विरोधों के बावजूद भक्ति आन्दोलन निर्बाध गति से चलता रहा और नाथ मुनि ने श्री वैष्णव सम्प्रदाय चलाकर ऐसे ग्रन्थों की रचना की जिसमें यह कहा कि ज्ञान योग, कर्मयोग का भक्ति योग के सामने कोई स्थान नहीं है।[31] धर्म के क्षेत्र में हो रहे इस परिवर्तन के पीछे तत्कालीन समाज ही उत्तरदायी था क्योंकि तंत्र के समाज में प्रवेश से समाज के गिरते नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिये मोक्ष प्राप्ति के साधन सरल करना आवश्यक था। अधीतकालीन समाज प्राचीनकाल की भांति उच्च नैतिक स्तर वाला समाज नहीं नहीं था। जो ज्ञान कर्म का सहारा लेकर मोक्ष प्राप्त करे बल्कि इस युग में जब काम को ही मोक्ष का साधन बताया जाने लगा तब धर्म की जटिलता कम करने की आवश्यकता समाज में महसूस करते हुये भक्ति मार्ग के रूप में एक ऐसा सरल मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया गया जिसमें व्यक्ति स्वत: भक्ति रस में डूबता चला जाये। इन आन्दोलनकारियों ने न केवल धर्म के क्षेत्र में सुधार किया बल्कि जाति बंधन की कठोरता को कम करके व रूढ़िवादिता का विरोध करते हुये, समानता पर भी जोर दिया और शूद्र व स्त्री

दोनों के लिये ईश्वर प्राप्ति की आज्ञा प्रदान करके धार्मिक अधिकार प्रदान किये। इन्होंने ऊँच नीच का विरोध करते हुये ज्ञान सामाजिक स्तर को भी ईश्वर की प्राप्ति का मापदण्ड नहीं माना जिससे प्राचीनकाल में ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य के जो धार्मिक अधिकार थे वे शूद्रों को बिल्कुल नहीं प्राप्त थे वहीं अधीतकाल में शूद्रों की सुधरती आर्थिक स्थिति के साथ धार्मिक अधिकार भी मिल गये। यही कारण है कि पूर्वमध्यकाल में तिरुमगाई जैसे शूद्र सन्तों का अस्तित्व भी समाज में दिखाई पड़ता है।

शैव धर्म-

पूर्वमध्यकाल के समाज में शैव धर्म भी अत्याधिक लोकप्रिय था। जनसाधारण के अतिरिक्त कई राजपूत शिव के अनन्य भक्त थे तथा उन्होंने विशाल तथा भव्य-मन्दिरों का निर्माण करवाया था। हर्षचरित में बाण ने लिखा है कि थानेश्वर में घर-घर में खण्डपरेशु (शिव) की पूजा होती है यद्यपि ह्वेनसांग के वृत्तान्त में हर्ष को बौद्ध का अनुयायी तथा संरक्षक माना गया है।[33] बांसखेरा तथा मधुवन ताम्रलेखों[34] से ज्ञात होता है कि 619ई0 तक वह शैव थे। हर्षचरित के अध्ययन से भी हम सभी इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि कामरूप के राजा भास्कर वर्मन भी शैव मतानुयायी थे। अनेक प्रतिहार, चौहान, चेदि, चन्देल और सेन राजा शिव भक्त थे।[35] चन्देलों ने खजुराहो के सुप्रसिद्ध कंढारिया महादेव मन्दिर का निर्माण करवाया।[36] पाल राजा बौद्ध अनुयायी थे परन्तु उनके अभिलेख 'ओम नमः शिवाय' की प्रार्थना से ही शुरू होते हैं।[37] गुजरात के काठियावाड़ में स्थित सोमनाथ का मन्दिर पूर्वमध्यकाल में अत्यन्त प्रसिद्ध व समृद्ध था। चोल शासक राजराज प्रथम शिव का अनन्य उपासक था जिसने तंजौर में राजराजेश्वर के प्रसिद्ध शैव मन्दिर का निर्माण कराया। परमार राजा भोज भी शैव मतानुयायी था जिसकी कृतित्व परीक्षा शैव धर्म से ही सम्बन्धित है।[39] इस युग में आते आते शैव धर्म अनेक भागों में विभाजित हो गया और नये सम्प्रदायों का अस्तित्व समाज में आया जिनकी उपासना की विधि विचित्र सी थी ये मांस-मदिरा खाते-पीते, नाचते गाते आदि थे। जिसका प्रभाव समाज पर पड़ना स्वाभाविक ही था। इन सम्प्रदायों ने न केवल धर्म के स्वरूप को ही परिवर्तित किया बल्कि समाज

के नैतिक स्तर को गिराने में भी महत्वपूर्ण भूमिक अदा की।

पाशुपत सम्प्रदाय शैव की अत्यन्त प्राचीन शाखा है यह पशुपत लकुलीश के नाम से भी जाना जाता है। ईसा पू0 की दूसरी शताब्दी के शैवाचार्य लकुलीश ने इसे दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान की थी। प्रारम्भ में यह पाशुपत-लकुलीश मत ही था। कालान्तर में अन्य शैव सम्प्रदायों का भी गठन हुआ। अन्य शैव मतों के होते हुये भी पाशुपत मुख्य सम्प्रदाय बना रहा। शैव सम्प्रदायों में सबसे प्राचीन पाशुपत सम्प्रदाय है जिसकी स्थापना लकुलीश अथवा लकुली नामक ब्रह्मचारी ने की[40] राजपूतकाल में इसका व्यापक प्रचार हुआ। ह्वेनसांग के अनुसार जालंधर, मालवा, महेश्वरपुर, इत्यादि राज्यों में पाशुपत सम्प्रदाय प्रचलित था। मालवा में तो इस सम्प्रदाय के लोग भारी संख्या में थे।[41] चाहमान विग्रहपाल के एक लेख में पाशुपत सम्प्रदाय की चर्चा की है। कलचुरि चेदि वंश के शासक भी इस मत को मानने वाले थे।[42] अल्हण देवी के भेड़ाघाट अभिलेख में शिवमन्दिर का संकेत है जिसकी व्यवस्था लाट प्रदेश से आये हुये पाशुपत मत अनुयायियों को सौंपी गयी। कभी-कभी शैव संघों और मठों के प्रधान पाशुपत आचार्य कहे जाते थे।[44] भोजनगर के सोमेश्वर देव के महानिवासी बाल्मिक पाशुपत आचार्य थे। पाशुपत को मानने वाले शिवलिंग की उपासना करते थे और शरीर में भस्म मलते, जप के बाद अट्टाहस करते, नाचते, हुंकार करते श्मसांन के पास निवास करते थे। बाणभट्ट ने काम्दबरी[45] में इस सम्प्रदाय का उल्लेख करते हुये लिखा है कि इसके अनुयायी अपने मस्तक पर भस्म पोतते थे तथा हाथ में रुद्राक्ष की माला धारण करते थे। पाशुपत मत के अनुसार दुखों का अंत और माहेश्वर पद प्राप्त करना ही शिवोपासक का उद्देश्य[46] था इसके लिये उसे कर्मज्ञान और श्रद्धा की अनेक अवस्थाओं से गुजरना पड़ता था। इस मत में गुरू को विशेष महत्व दिया जाता था क्योंकि वहीं सभी अवस्थाओं को पार करने का मार्ग दिखाया है। स्थानभस्मालेप, शिव, सूर्य, आचार्य का पूजन इत्यादि धार्मिक क्रियाओं का नियोजन किया गया व इस मत का प्रचार किया कि प्रत्येक प्राणी पशु है और ज्ञान, धार्मिक क्रियाओं, जप, ध्यान इत्यादि से वह माहेश्वर्य प्राप्त करने में सफल हो सकता है।[47] भासर्वस्य कृत गणकारिका और महेश्वर रचित पाशुपत सूत्र[48] में इस

मत की विस्तृत चर्चा की गई है। यद्यपि वायु पुराण[49] में पाशुपतमत के सिद्धान्तों और उसके योग पक्ष पर विचार किया गया तथा साधना और उपासना का भी संकेत किया गया है। पाशुपत सूत्रों के भाष्यकार कौडिन्य[50] ने पाशुपत आर्चायों को ब्राह्मण विरोधी भी कहा जिससे ऐसा लगता है कि पाशुपत सम्प्रदाय को ब्राह्मणों के विरोध का सामना करना पड़ा होगा जिसकी पुष्टि स्मृति चंद्रिका से भी होती है। इसका कारण यह लगता है कि पाशुपत सम्प्रदाय जाति-पांति के भेदभाव को नहीं मानता था व मानवता के विकास के लिये प्रयासरत् था इसलिये इसे कट्टरवादी ब्राह्मणों के विरोध का सामना करना पड़ा होगा।

कापालिक सम्प्रदाय-

शैव धर्म का दूसरा सम्प्रदाय कापालिक सम्प्रदाय है। जिसके उपासक भैरव को शिव का अवतार मानकर उनकी उपासना करते थे। ये भैरव को ही सर्जन और संहार करने वाला मानते हैं। पूर्वमध्यकाल में भैरव उपासना समाज में अत्याधिक प्रचलित थी। इस मत के अनुयायी सुरा, सुन्दरी का पान करते, जटा-जूट रखते और मांस ग्रहण करते थे।[51] शरीर पर श्मशान की भस्म लगाकर हाथ में नरमुण्ड धारण करते थे। ये अत्यन्त क्रूर स्वभाव के थे व इनके आचार अत्यन्त वीभत्स थे।[52] रामानुज के श्रीभाष्य में कापालिकों का वर्णन इस प्रकार है- वे खोपड़ी में भोजन करते थे, शरीर में राख मलते थे, हाथ में गदा रखते थे।[53] उनका मानना था कि इससे ज्ञान शक्ति तीक्ष्ण होती है। साथ ही ये लोग भैरवी से सदा आलिंगित रहने का समर्थन करते हैं।[54] शंकर दिग्विजय में उल्लिखित है कि उज्जयिनी में माधव ने शंकराचार्य को कापालिकों से मिलवाया।[55] कापालिकों का आचार्य जब शंकर से मिला तब उसका शरीर श्मसान भस्म से पुता था उसके एक हाथ में नर कपाल तथा दूसरे में लौह यष्टि थी[56] शैव होने के कारण आचार्य शंकर के शरीर पर भी भस्म की रेखायें थीं। तब उस कापालिक आचार्य ने इनसे कहा तुम्हारी काया पर भस्म पूर्णतः ठीक है, किन्तु कपाल पात्र के स्थान पर तुमने यह अपवित्र मृतपात्र क्यों लिया है, क्यों नहीं तुम कपाली भैरव की पूजा करते सुरा और रक्तरंजित कपालों से पूजा किये बिना भैरव प्रसन्न नहीं होते[52] इससे यह स्पष्ट है कि कापालिक सम्प्रदाय के अनुयायी

तामसी क्रियाओं का अनुसरण करते थे तथा उसके माध्यम से भैरव को प्रसन्न करते थे।

कर्मपुराण[58] में उल्लिखित है कि शैव धर्म के अन्तर्गत कापालिक सम्प्रदाय प्रमुख था। भवभूति ने मालती माधव[59] नामक नाटक में इनकी नृशंसता और क्रूरता का अत्यन्त सजीवता पूर्ण चित्रण किया है। नाटक की नायिका मालती को कपालों की माला पहने हुये कपाल कुंडला नामक स्त्री श्मसान स्थित कराला चामुंडा की मूर्ति के सम्मुख से जाकर उपस्थित करती है वहां आचार्य अघोर्घटं उसकी बलि देते थे। अतः इससे स्पष्ट है कि शैव धर्म के अन्तर्गत यह सम्प्रदाय अत्यन्त भयंकर व आसुर प्रकृति का था जो भैरव को सुरा और नरबलि देकर भैरवी से आलिंगित होते हुये अपनी राक्षसी प्रवृत्ति को व्यक्त करता है।

कालामुख सम्प्रदाय-

शैवों का अतिमार्गी रूप कालामुख सम्प्रदाय में भी देखने को मिलता है इसके अनुयायी कापालिकों से भी अधिक अतिवादी और भयंकर प्रकृति के थे। इसलिये शिवपुराण[60] में उन्हें महाव्रतधर कहा गया है। ये कालामुखी भैरव को देवता मानकर उन पर मदिरा चढ़ाते व नरबलि देते थे।[61] उनका विश्वास था कि मदिरापान आदि घृणित पदार्थों के भक्षण से चमत्कारिक शक्ति पैदा होती है, और नर कपाल में भोजन कर नर शव की भस्म लगाकर एवं वीभत्स तांत्रिक क्रियाओं से सिद्धि तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है। परन्तु वास्तविकता यही है कि ये विचार मनुष्य की बुद्धि और आत्मा की पथभ्रष्टता और नैतिक पतन को ही स्पष्ट करते हैं।

दक्षिण भारत में शैव धर्म-

दक्षिण भारत में वैष्णव अनुयायियों के समान ही शिव भक्तों ने भी बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रभाव को रोकने के लिये धार्मिक पुनरुत्थान आन्दोलन प्रारम्भ किया। इन आन्दोलनकारियों ने शिव के प्रति अनन्य भक्ति प्रदर्शित करते हुये बौद्ध और जैन धर्म की स्पष्ट आलोचना की। इस भावनात्मक आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले सन्तों के प्रभाव से भक्तों के मण्डल नाचते, गाते, वाद-विवाद करते देश के विभिन्न

भागों में घूमकर अपने धर्म का प्रचार करते थे। वे सभा में वाद-विवाद द्वारा अपने सिद्धान्तों की सत्यता का प्रमाण देते थे बल्कि दिव्य परीक्षा तथा चमत्कारों द्वारा राजाओं तथा जनसाधरण में अपने सिद्धान्तों के प्रति आस्था उत्पन्न करते थे। इस धार्मिक आन्दोलन के नेताओं को नयनार[63] कहा गया जिनकी संख्या 63 थी जिसमें संत अप्पार, नान सवदर, सुन्दर मूर्ति ये तीन प्रमुख संत थे। इन संतों की शिव भक्ति भावनात्मक थी जिनके प्रयासों से सारे दक्षिण में धार्मिक उत्साह की लहर फैल गयी।

पूर्व मध्ययुग के अंतिम चरण में दक्षिण में वीर शैव मत का अविर्भाव हुआ जिसके प्रवर्तक वासवराज थे जो विज्जल के मंत्री थे[64] यद्यपि इस समय कर्नाटक जैन धर्म का गढ़ था किन्तु विज्जल ने यहां जंगमों की सहायता से शैव धर्म का प्रचार किया। विज्जल के पश्चात उसके भांजे चिन्न वासव ने वीर शैव मत का प्रचार किया। यह एक क्रान्तिकारी सम्प्रदाय था जिसके अनुयायी लिंगायत[65] भी कहलाते थे। इस सम्प्रदाय को मानने वाले शिवलिंग की आराधना करते थे और उसे चांदी के सम्पुट में रखकर अपने गले में पहना करते थे वासव पुराण में लिंगायत सम्प्रदाय के प्रवर्तक अल्लम प्रभु तथा उसके शिष्य वसव को बताया गया है जो कलचुरि शासक विजय का मंत्री[66] था। वीर शैवों का यह मत था कि भिन्न-भिन्न समयों में पांच महापुरुषों ने इस धर्म का उपदेश दिया था उनके नाम रेणुकाचार्य, दारूकाचार्य, एकोराभाचार्य, पंडिताराध्य, और विश्वाराध्य है इनका शिव के विशिष्ट लिंगों से जन्म हुआ था।[67] उन्होंने रम्भापुरी उज्जैन, श्री शैल में इस सम्प्रदाय का प्रचार किया। श्रीकर भाष्य से श्रीपति ने इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को उपनिषद से निःसृत बताया है।[68]

वीर शैव मत के अनुयायी अहिंसक होते हुये वर्णाश्रम धर्म और जातिवाद के विरोधी थे। उन्होंने वेदों तथा जाति-पांति का स्पष्ट शब्दों में खण्डन किया। ये सन्यास व तप में विश्वास नहीं रखते थे उनका मत था कि प्रत्येक व्यक्ति को श्रम से आजीविका अर्जित करनी चाहिये। इन्होंने श्रम पर बल देते हुये कन्नड़ भाषा में अपने उपदेश दिये। यही कारण है कि कृषकों और व्यापारियों में उनके उपदेश अत्याधिक लोकप्रिय हुये। उन्होंने न केवल बाल-विवाह का विरोध किया बल्कि उनको

और भक्ति से देखना प्रत्येक वीर शैव स्त्री और पुरुष के लिये आवश्यक था; क्योंकि इस सम्प्रदाय में भी गुरु को अत्याधिक महत्व प्रदान किया गया था।

पूर्वमध्ययुग में वासव के बाद उसके भतीजे ने जंगमों की सहायता से इस सम्प्रदाय का प्रचार किया। इनके भक्तिगीतों को 'वचन शास्त्र' कहा गया जो कन्नड़ देश के प्रत्येक घर में सरस सूक्तियों के रूप में प्रचलित हो गये। इनका मुख्य लक्ष्य पराशिव था जो कि सतचित् व आनन्द है।[69]

पूर्वमध्यकालीन शताब्दियों में वीर शैव परम्परा ने सामाजिक परिवर्तन की दिशा को एक नया मोड़ प्रदान किया। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि अध ीतकाल में वर्ण एवं आश्रम जैसी सामाजिक व्यवस्थायें आदर्शोंमुखी अधिक प्रतीत हो रही थी। वीर शैवों ने वर्ण और आश्रम का विरोध करके इस पर अपनी मुहर लगा दी। यही नहीं वैदिक कर्मकाण्डों का विरोध करके इन्होंने समाज को अन्धविश्वास की डोर पकड़कर चलने एवं चलाने वाले लोगों से पृथक किया। यह सम्भवत: बदले हुये सामाजिक परिवेश के साथ संगति बैठाने के लिये आवश्यक भी था। तभी तो प्राचीनकाल की आडम्बरयुक्त व्यवस्थाओं के जाल से लोगों को बाहर निकालकर इस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने भौतिक जीवन में श्रम की महत्ता पर जो दिया। श्रम में बराबर की भागीदारी स्थापित करने के लिये यदि एक ओर स्त्रियों को अत्याधि ाक मात्रा में शिक्षित करने की कोशिशें की गयीं तो वही बाल-विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों को भी समाप्त करने का प्रयास किया गया। सामाजिक प्राणी नैतिकताविहीन प्राणी न हो जाये इसके लिये गुरु के प्रति अपार श्रद्धा भाव दिखाने की बात करके इन धर्माचार्यों ने अधीतकालीन समाज को सही दिशा में आगे ले जाने की कोशिश की। अधीतकालीन शताब्दियां विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों से परिचित हो चुकी थी। ऐसे में सन्यास के प्रति अपना विरोध जाहिर करते हुये लौकिक जगत की वास्तविकता से समाज को परिचित कराने का प्रयास किया गया।

पूर्वमध्य युग में शिव की लौकिकता-

पूर्व मध्य युग तक आते-आते शैव धर्म ने व्यापक स्वरूप धारण कर लिया। वैदिक धर्म का वह महत्वपूर्ण अंग बन गया। शैव धर्म को लोकप्रिय बनाने के

लिये अनेक तत्व जोड़े गये। इस कारण से शिव के स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ। वे स्थूल और भावमय बन गये। उनमें पुरुषोचित कठोर रुक्षता और नारियोचित कोमल कमनीयता विकसित हो गयी। वे अत्यन्त उद्धाम और उदार बन गये। वे क्रोधी भी है और अत्यन्त करुण और दयालु भी है। उनका कल्याणकारी रूप सृजन करता है और क्रोधी रूप संहार कर देता है। परस्पर विरोधी तत्वों का समन्वय ही शिवतत्व है। सुन्दरत्व के साथ ही उनमें योग-भोग का विचित्र सम्मिश्रण है। शैव धर्म की इस विविधता में भारतीय संस्कृति की विविधता है। शिव की एकता के समान भारतीय एकता है। इसलिये शैव धर्म देश को एक सूत्र में बांधने में सफल हुआ।

डॉ0 ईश्वरी प्रसाद[70] का विचार है कि पूर्वमध्ययुग में वैष्णव धर्म की तुलना में शैव मत पृष्ठभूमि में चला गया था। वास्तव में स्थिति ऐसी न थी। शैव और वैष्णव धर्म न केवल समता के आधार पर साथ-साथ चले थे, वरन शिव ने आठवीं सदी के पूर्व ही हिन्दू धर्म के सभी देवताओं में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था। शिव अर्चना का प्रसार विशेष रूप और रीति से हो रहा था। शिव अर्चना की अपेक्षा अग्निहोत्रादि वैदिक मार्ग पृष्ठभूमि में चले गये थे। पूर्वमध्ययुगीन नरेशों के संरक्षण, आचार्यों द्वारा इस धर्म को दी गयी दार्शनिकता और शैव संतों के शिव भक्ति प्रचार ने इसे श्रेष्ठ बना दिया। इस काल में अनेक भव्य शिव मन्दिर बने। शैव आगमों की रचना हुई। सन् 1000 ई0 तक यह धर्म विन्ध्याचल के दक्षिणी भाग का ही नहीं वरन समस्त हिन्दुओं द्वारा मान्य भारत का सार्वलौकिक धर्म बन गया।

लौकिक रूप-

पूर्वमध्यकाल में शैव धर्म ने लौकिक और सुधारवादी रूप धारण कर लिया। समाधि, ध्यान, आत्म शुद्धि, जप आदि क्रियायें अपना ली गयीं। जप के समय 'ओम नमः शिवाय, 'नमः महादेवाय' तथा ओम ब्राह्मणों निर्गुण व्यापक नित्यः शिवं' का उच्चारण किया जाने लगा।[71] प्रातः सायं आरती, प्रार्थना के साथ शिव की पूजा होने लगी। भस्म धारण, हर-हर शब्द का उच्चारण, हुड़कारा आदि विचित्र चेष्टायें भी

निकल पड़ीं। इस कारण से लोग कभी-कभी शिव का उपहास भी करने लगे। कई प्रकार के उत्सव और मेले शैवों द्वारा आयोजित किये जाने लगे।

अनेक जटिल, विचित्र, कट्टर तथा कापालिकों, कालमुखों की भयंकर उपासना विधियां होने के बाद भी शैव मत सरल, सुबोध और आकर्षक था। मन्दिर में नृत्य, गान होने से इन कलाओं को प्रोत्साहन मिला। यह माना जाने लगा था कि शिव के डमरू से सप्तसुर निकले हैं। वह तांडव नृत्य और लास्य शास्त्रीय नृत्य के जनक हैं। शिव स्वयं राग-रागनियों के प्रणेता हैं। शिव का अट्टाहास कल्पना की चरम सीमा है। शिव, जाति विशेष तक सीमित न रह गये; अपितु भारत की सभी जातियों के वे उपास्य बन गये। प्रत्येक जाति किसी किसी न रूप में उनकी पूजा करती थी। इस कारण शैव मत में तेरह सम्प्रदाय उठ खड़े हुये। इनमें कापालिक, पाशुपत लिंगायत, कालमुख काश्मीरी शैव आदि मुख्य थे। शिव सर्वव्यापी हो गये। श्मसान, खेत, पर्वत, नदी तट, रंगशाला और रणभूमि में उन्हें उपस्थित माना गया। योगियों ने जप से संगीत व नृत्यकारों ने वाद्य यंत्रों गीतों और नृत्य से उनका अभिनन्दन करना आरम्भ कर दिया। योद्धाओं ने हर-हर का रण-निनाद करते हुये प्राण त्यागे। शिव उपासना समाज के सभी वर्गों को जोड़ने वाली कड़ी बन गयी।

शैव धर्म ने सामाजिक कुरीतियों से लोगों को दूर रखने तथा जीवन की वास्तविकता से परिचित कराने का कार्य करके भक्ति आन्दोलन की पूर्व पीठिका को सामाजिक क्रान्ति के रूप में स्थापित करने का एक सुन्दर प्रयास किया। इस धार्मिक प्रयास का प्रतिफल यह हुआ है कि अधीतकाल के उस समाज को जो, अनेक तरह की संक्रान्तियों से गुजर रहा था, दुर्गम पथ से सुगम पथ की ओर कदम बढ़ाने में मदद मिली। धर्म का सामाजिक परिपेक्ष में इससे ज्यादा प्रभाव और हो ही क्या सकता है?

नाथ सम्प्रदाय-

अधीतकाल में शैव मत के अन्तर्गत एक नये सम्प्रदाय का उदय हुआ जो नाथ सम्प्रदाय, दृढ़ योग और सहजयान सिद्धि कहलाया। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत पहले नाथ को शिव मानकर नौ नाथों को दिव्य पुरुष के रूप में मानकर उनकी

उपासना की गई।[72] दसवीं सदी में, भत्स्येन्द्रनाथ ने इस सम्प्रदाय का विकास कर इसे 'योगिनी कौल; का नाम दिया।[73] इस सिद्धान्त के अन्तर्गत शिव का नाम अकुल व शक्ति का कुल रखते हुये इस मत का प्रतिपादन किया कि दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है दोनों एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते और इन्हीं के संयोग से सृष्टि का निर्माण होता है।[74] इस संयोग क्रिया को मानव जीवन में ग्रहण करना ही इसकी धार्मिक क्रिया है। वस्तुतः संयोग का प्रतीक स्त्री पुरुष का सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में इस साधना का समस्त कार्य स्त्री को साथ रखकर करना चाहिये। मत्स्येन्द्रनाथ की यह साधना बौद्ध धर्म के वज्रयान से जुड़ी प्रतीत होती है क्योंकि 'अकुल वीर' नामक तंत्र में वह स्वयं की शिव और बुद्ध के एकतत्व की अभिव्यक्त करते हैं[75] यही कारण है कि इस युग में दोनों धर्म एक दूसरे के समीप आये और दोनों पर एक दूसरे धर्मो का प्रभाव पड़ा और भारत के सामाजिक और धार्मिक जीवन में एक नया उत्साह आ गया।

10वीं 11वीं सदी के गोरखनाथ ने मत्स्येन्द्रनाथ के पथ का अनुगमन करते हुये सामाजिक और धार्मिक जीवन को नवीन प्रवाह प्रदान किया। उन्होंने पुष्ट और अनावृत व्यवहार से तत्कालीन समाज को नया मार्ग दर्शन दिया।[76] उनमें ऊँच-नीच की भावना, कर्मकाण्ड और पाखण्ड का पूर्णतः अभाव था। इन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ के कतिपय मतों का खण्डन करते हुये पूर्ण ब्रह्मचर्य का समर्थन किया।[77] उन्होंने इस मत का प्रतिपादन किया कि साधना में स्त्रियों का प्रवेश नहीं किया जाना चाहिये। क्योंकि उनके संसर्ग से योग की साधना सम्भव नहीं है।[78] उन्होंने सच्चरित्रता तथ जीवन की पवित्रता पर बल देते हुये योगमार्ग जैसे- ग्रन्थ में अपने सद्धान्तों का प्रतिपादन किया।[79] उनके अनुसार शिव ही परम तत्व है जब उसकी सृष्टि की इच्छा होती है तब वह शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाता है।[80] शक्ति की पांच स्थितियां हैं निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा, कुण्डली। इस प्रकार शिव के पांच रूप हैं- अपर, परम, शून्य, निरंजन और परमात्मा। उनमें आनन्द के पांच स्तर हैं- परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय प्रकाश और सोडह। फलतः इससे ब्रह्मांड का निर्माण होता है उसकी प्रकृति पिंड है। कुण्डलिनी की शक्ति को सुषुम्ना के मार्ग से छः मार्गो से ऊपर की ओर शिरस्थान में अमृत

केन्द्र सहस्त्रार में ले जाते हैं तब शक्ति और शिव का सायुज्य होता है व परमशिव की प्राप्ति होती है।[81] ये समस्त क्रिया योग के अन्तर्गत आती है जिससे यह माना जाता है कि श्वास के नियमन और रसों के प्रयोग से योग सम्पुष्ट होता है। गोरखनाथ के कारण इस सम्प्रदाय का इस युग में अत्यन्त विकास हुआ। इसके साथ ही अनेक चमत्कारिक कथाओं ने भी जन्म लिया कि गोरखनाथ के नाम लेने से ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। वे अपनी साधना से उच्चतम आध्यात्मिक शिखर पर पहुंच गये हैं। इन्होंने बौद्ध एवं हिन्दू तांत्रिकों की अनैतिक क्रियाओं व आदर्शवाद के आध्यात्मिक सूक्ष्मीकरण और यौगिक क्रियाओं की अतिरंजना का विरोध कर संयम और सदाचार को जीवन का आधार बताकर समाज को एक नया मार्ग दिखलाया। इस प्रकार पूर्वमध्यकालीन शताब्दियों में गोरखनाथ ने धार्मिक क्रियाओं के सहारे समाज को पाखण्ड, कर्मकाण्ड तथा ऊँच नीच के भेदभाव से बचाने का प्रयास किया और तंत्रवाद, आदर्शवाद तथा यौगिक क्रियाओं के अतिरेक से लोगों को बचाने का उपक्रम किया और इसके लिये एक तरफ आत्मसंयम, सदाचार, पवित्रता एवं ब्रह्मचर्य पालन जैसे उच्च तार्किक आदर्शों को समाज में प्रतिस्थपित करने का प्रयास किया दूसरी ओर शिव के साथ जोड़कर दैवीय तत्व से संयुक्त कर दिया जिससे समाज में इन अवघोषों का कुछ असर हो। वस्तुतः इन शताब्दियों का समाज शक्ति उपासना तांत्रिक गतिविधियों एवं ऐन्द्रजालिक कर्मकाण्डों में इतना बुरी तरह उलझ चुका था कि वह दिशाहीन सा प्रतीत होने लगा था। ऐसे में गोरखनाथ ने धर्म के सहारे जिस सामाजिक चेतना का संचार किया वह वास्तव में एक सराहनीय प्रयास था। गोरखनाथ द्वारा चलायी गयी यह परम्परा अच्छी तो थी लेकिन वह अधिक दिनों तक अस्तित्वमान नहीं रह सकी और उसके अनुयायियों द्वारा ही इसका अतिक्रमण प्रारम्भ कर दिया गया।

गोरखनाथ के पश्चात नाथ सम्प्रदाय में आचरण व नैतिकता का कोई स्थान नहीं रहा बल्कि इनके शिष्य केवल अपनी साधना और चमत्कारिक शक्ति से ही लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास करते थे। वे घर गृहस्थी त्याग कर, कटे कानों में मुद्रा धारण कर कन्धे पर सिंगिया रख और हाथ में सोटे लेकर घर घर अलख जगाते घूमते थे। ज्ञान सिद्धि में वर्णित है कि योगी

यह नहीं देखता कि क्या खाना है ? क्या पीना है ? कहां जाना है? और कहां नहीं जाना है।[82]

कुलारावितंत्र ग्रन्थ में भी कहा गया है कि कौलिये को वो सभी वस्तुयें खानी चाहिये जिन्हें सभी लोग निन्दनीय मानते हैं तथा उन स्थानों पर जाना चाहिये जहां लोग जाने को मना करते हैं।[83] वस्तुतः कौल अनुयायियों में मांस, महन, रक्त, भज्जा, मूत्र, विष्ठा आदि विहित थे।[84] कौल अनुयायियों के इस व्यवहार को उचित बताते हुये लोगों का कहना था कि उनके दर्शन में ऐसी बातों का समावेश इसलिये किया गया ताकि वे तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों का विरोध कर सके।

अधीतकालीन सामाजिक परिदृष्य इतना कर्मकाण्ड, पाखण्ड, अंधविश्वास व रूढ़िवादिता से जकड़ गया था कि उससे लोगों को निकाल पाना शायद सम्भव नहीं था। इसलिये इन नाथ पंथियों ने एक नयी दृष्टि अपनायी और सामाजिक बुराइयों से लड़ने के लिये उन्हीं बुराइयों को भगवान शिव की तरह आत्मसात करने का प्रयास किया जैसे शिव ने गरल पान करके होने वाले अप्रत्याशित प्रलय को बचा लिया भले ही उनका कंठ अनन्तकाल के लिये श्यामवर्ण का हो गया। शिव ने तो विषपान करके संसार में सुधावृष्टि की लेकिन इन नाथपंथियों ने ऐसा कुछ नहीं किया। फिर भी दोनों का उद्देश्य लगभग एक जैसा ही था। जिन सामाजिक कुरीतियों को वे दूर करना चाहते थे उन्हीं के प्रति इतनी आसक्ति दिखाकर उसके प्रति इतनी अरुचि पैदा करने की चेष्टा की कि समाज स्वयमेव ही उसकी रहत्यात्मकता को समझ जाये इसलिये उन्होंने घृणित से घृणित वस्तु से अपना तादात्म्य स्थापित किया। इस तरह इन लोगों ने उन सामाजिक कुरीतियों को जिनको लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे उनको ग्रहण योग्य बताकर उसकी वास्तविकता से लोगों को परिचित कराने का प्रयास किया और कटीले रास्तों से चलकर अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति की ओर लोगों का ध्यान केन्द्रित किया। साथ ही इन कुव्यवस्थाओं के प्रति गहरा क्षोभ भी दार्शनिक अंदाज में व्यक्त किया। इस तरह इन नाथ पंथियों ने सामाजिक बदलाव के लिये धार्मिक असंतोष को उभारा और समाज को बुराइयों से घृणा करके अच्छे लक्ष्य को प्राप्त करने की सलाह दी। इसके साथ ही यह धारणा भी विकसित किया कि

लाखों बुराइयों के होते हुये भी यदि हम दिशाहीन नहीं हैं तो अभीष्ट की प्राप्ति निश्चित रूप से होगी। इस प्रकार धार्मिक असंतोष को उभारकर सामाजिक परिवर्तन का यह अनोखा तरीका नाथ पंथियों ने तांत्रिक गतिविधियों के सहारे खोज निकाला। पर उन्हें क्या पता था कि समाज इतनी जल्दी सुधरने वाला नहीं है और सामाजिक बदलाव का सकारात्मक पहलू सामने आता, इसके बजाय इसका नकारात्मक पक्ष ही अधिक उभरा और सामाजिक सुधार की जगह अनेक नयी-नयी कुरीतियों ने अपनी जड़ें समाज में जमा ली। बहरहाल अधीतकाल में धर्म ने कोई न कोई सामाजिक परिवर्तन तो किया ही इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

शाक्त धर्म-

भारत में हिन्दू धर्म के अन्तर्गत नारी शक्ति की उपासना प्राचीनकाल से ही होती आ रही है। परन्तु पूर्वमध्यकाल में इसे व्यापक आधार प्राप्त हुआ। शक्ति से तात्पर्य नारी की शिव सृजन तथा पुनसृर्जन की उस शक्ति से है जिसमें ईश्वर की शक्ति भी मिश्रित है। ईश्वर अपनी शक्ति की सहायता से ही सृष्टि करता व संहार करता है। इस शक्ति को इष्ट देवी मानकर पूजा करने वालों का सम्प्रदाय शाक्त कहलाया। पूर्वमध्यकाल में तो वैष्णव व शैव धर्म के साथ शाक्त धर्म का प्रभाव समाज में अत्यधिक बढ़ गया। यद्यपि प्राचीनकाल से ही देव समूह में देवताओं के साथ देवी का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। सैन्धव सभ्यता में मातृदेवी की उपासना व्यापक रूप में प्रचलित थी।[85] शक्ति का प्रारम्भिक रूप शिव की पत्नी उमा के रूप में मिलता है,[86] जो जगत जननी है। परन्तु पूर्वमध्ययुग तक आते-आते तांत्रिक विचारधाराओं के प्रभाव के बढ़ते शक्ति के रूप में विस्तृत होकर पार्वती, काली, सिंहवाहिनी, दुर्गा[81] और महाकाली बन गयी और उनको सृष्टि पालन, संहारकत्री का रूप प्रदान करके उनकी उपासना और आराधना की जाने लगी। शाक्त धर्म के बढ़ते प्रभाव से इस युग में ईश्वरवादी सम्प्रदायों में शक्ति को परमदेवता की अर्द्धांगिनी के रूप में चित्रित किया गया। वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्म की माया ही इस विविध सृष्टि का कारण है।[89] शक्ति को माता मानकर उससे समस्त जगत की उत्पत्ति की कल्पना करके उसे माया नाम दिया जिसके संयोग के अभाव में ब्रह्म सृष्टि की

रचना नहीं कर सकते थे। शाक्त सम्प्रदाय को आर्य व अनार्य संस्कृति के सम्मिश्रण का द्योतक भी माना जा सकता है। क्योंकि आर्यों की शक्ति की प्रवृत्ति सृजनात्मक है जबकि अनार्यों की शक्ति की प्रवृत्ति संहारक। अधीतकाल में शक्ति के दोनों रूपों की उपासना के प्रमाण मिलते हैं। सातवीं सदी के शासक अवन्ति वर्मा के नागार्जुन पर्वत के गुहालेख में शिव, पार्वती प्रतिमाओं का उल्लेख है।[90] जिनकी प्रतिस्थापना राजा ने इस स्थान पर की थी। उसी स्थान पर अन्य अभिलेख में देवी द्वारा महिषासुर के वध की कथा[91] की ओर संकेत है। इसकी स्थापना भी इसी राजा ने की थी।

शाक्त धर्म के अन्तर्गत देवी की उपासना तीन रूपों में की जाती थी। शान्त, उग्र और काम प्रधान रूप। सामान्यतः देवी के सौम्य रूप की ही पूजा की जाती थी। उमा, पार्वती, लक्ष्मी आदि नाम सौम्य रूप के ही प्रतीक है। दुर्गा, चण्डी, कापाली, भैरवीं आदि उग्र रूप के प्रतीक हैं। कापालिक तथा कालामुख सम्प्रदाय के लोग इसी रूप में देवी की आराधना करते हुये उनको प्रसन्न करने के लिये पशुओं की बलि देते थे तथा सुरा, मांस आदि का प्रयोग बिना किसी रोक-टोक के करते थे। काम प्रधान रूप में देवी की उपासना 'शाक्त लोगों द्वारा की जाती है। जो उसे आनन्द भैरवी, त्रिपुर, सुंदरी, ललिता आदि नाम से पुकारते हैं।[92] और देवी मोह और माया को समस्त जगत के ऊपर मानते हैं। शंकराचार्य[93] ने सौन्दर्य लहरी में देवी के अलौकिक सौन्दर्य का चित्रण किया है। उस त्रिपुर सुन्दरी का निवास चिन्तामणि गृह है, जो कल्पवृक्ष अथवा कदम्ब वृक्षों से आवृत मणिमय मण्डप में स्थित है। शिव, सदाशिव और महेश उनके मंच पर्यक और उपवर्हण है तथा ब्रह्मदेव हरि, रुद्र, ईश्वर मंच के पैर है। अतः प्रतीकों के माध्यम से देवी की सवोच्चता सिद्ध की गयी। देवी के तीनों रूपों के मन्दिर आज भी देखे जा सकते हैं। जम्मू के निकट वैष्णो देवी का मन्दिर सौम्य रूप का प्रतीक है। इसी प्रकार कलकत्ता का काली का मन्दिर उग्र रूप व असम का 'कामाख्या मन्दिर' देवी के कामप्रधान रूप का प्रतिनिधित्व करता है। मार्कण्डेय पुराण[94] में भी शक्ति की व्यापकता और महत्व का वर्णन मिलता है। देवी भागवत[95] में भी कहा गया है कि उनके अखिल प्रभाव को न तो ब्रह्मा, न हरि न शिव और न अनन्त जानते हैं। ये सब भी उसके अंश

के अंश हैं। फिर अन्य देवों के विषय में क्या कहें। जगदम्बिका के लिये हमारा सदा नमस्कार है, उसके पाद पंकज की रज को पाकर ब्रह्मा शिव का अर्जन करते हैं, विष्णु सर्वदा पालन करते हैं और रुद्र संहार करते हैं। उसकी कृपा के बिना ये देवता भी असमर्थ हैं। इस प्रकार इस युग में शक्ति की आराधना को व्यापक आधार प्राप्त हुआ। जिसे सृष्टि की रचयिता, पालनकर्ता व संहारकर्ता के रूप में स्थान दिया गया।[96]

पूर्वमध्ययुग में शाक्त धर्म का प्रचार व प्रसार अत्याधिक बढ़ा। अधीतकालीन साक्ष्यों से भी शक्ति पूजा का पता चलता है।[97] भेड़ाघाट के निकट चौसठ योगिनी का मन्दिर है जहां नवीं, दसवीं शताब्दियों में कई देवी मूर्तियों का निर्माण किया गया था इसमें दुर्गा और सप्त भात्रिकाओं की चौसठ मूर्तियां हैं। खजुराहो से भी इसी प्रकार की अनेक मूर्तियां मिली हैं। खजुराहो के मन्दिरों में अंकित बहुसंख्यक अनावृत मूर्तियों को देखकर सामान्यत: दर्शकों के मन में विचार उत्पन्न होते हैं कि क्या तत्कालीन समाज का नैतिक स्तर इतना अधिक गिर गया था कि मन्दिर जैसे पवित्र स्थल पर ऐसी मूर्तियों का निर्माण कराया गया? परन्तु यदि खजुराहो की मूर्तियों का सूक्ष्मावलोकन किया जाये तो यह तथ्य उभर कर सामने आता है कि इन मूर्तियों के माध्यम से पुरुषार्थ चतुष्टय की अवधारणा को स्पष्ट करते हुये यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि धर्म और काम का घनिष्ठ सम्बन्ध है इन मूर्तियों को माया मोह का प्रतीक माना गया है और इनके माध्यम से यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी है कि परमतत्व की प्राप्ति में माया मोह अवरोध का कार्य करते हैं जिनको पार करके ही सच्चा भक्त ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है।[98] प्रतिहार महेन्द्रपाल के लेखों में दुर्गा की महिषासुरमर्दिनी कांचन देवी, अम्बा आदि नामों से स्तुति की गयी है।[99] राष्ट्रकूट अमोघ वर्ष महालक्ष्मी का अनन्य भक्त था। संजन लेख[100] से पता चलता है कि उसने एक बार अपने बायें हाथ की अंगुली काटकर देवी को चढ़ा दी थी। कल्हण के विवरण से ज्ञात होता है कि शारदा देवी का दर्शन करने के निमित्त गौड़ नरेश के अनुयायी काश्मीर आये थे।[101] जोनराज ने अपने द्वितीय राजतरंगिणी में शारदा देवी के मन्दिर की स्थिति और ख्याति का उल्लेख

किया है[102] अबुलफजल[103] लिखता है कि ''हाचामूण'' से दो दिन की यात्रा की दूरी पर पदम्ती नामक नदी है जो पूर्व देश से होकर बहती है। सोना भी इस नदी में पाया जाता है इसके किनारे पर पत्थर का बना शारदा मन्दिर है, जिसे दुर्गा भी कहते हैं।[104] अलबेरुनी ने भी इस मन्दिर का चित्रण किया है।[105] इस प्रकार अभिलेखों से यह विदित होता है कि उनकी स्तुति में अपार गुणगान किया जाता था। उनकी पूजा अर्चना के लिये दान भी दिये जाते थे।[106] इस युग में शक्ति पूजा के अत्याधिक मात्रा में प्रचलन का कारण भी था। जब इस युग में अनेक जनजातियों तथा आदिवासियों को भारतीय हिन्दू समाज में स्थान मिल गया तब इस संस्कृति संक्रमण की क्रियाविधि में आदिवासियों की मातृदेवी हिन्दू तथा बौद्ध धर्म की तारा बन गयी। इन देवियों में अनेक ऐसे नाम हैं जिनसे आदिवासी उत्पत्ति का बोध होता है। जैसे शलती पर्णेवरी, विध्यावासिनी आदि भारतीय संस्कृति में आर्य और अनार्य के इस क्रम में आदिवासी जनजातियों ने हिन्दू देवी देवताओं को अपना आराध्य बनाना चाहा लेकिन जनजातीय तत्वों का पूर्ण समावेश और लोप होना इतना सम्भव भी नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्हीं देवी मूर्तियों को शक्ति की अधीश्वरी के रूप में चित्रित किया जाने लगा। गौड़ों की देवी मनियादेवी इस पारम्परा से थोड़ा पृथक जरूर है लेकिन बनाफर सरदारों द्वारा शारदा देवी की उपासना में इसका प्रभाव अवश्य है। कांदम्बरी से भी ज्ञात होता है कि विध्यावासिनी की पूजा शबर, भिल्ल आदि आदिवासी करते थे। बंगाल में शबर जाति के लोग शबरोत्सव[107] पर पत्रों से आच्छादित पर्णेश्वरी की पूजा करते हैं। इसी प्रकार रौद्री, भैरवी भी आदिवासियों की मातृदेवीयां हैं। तांत्रिक पूजा की वृद्धि ने भी शाक्त मत को व्यापक आधार प्रदान किया। आदिवासियों से सम्पर्क के कारण यह तंत्रवाद स्वतः ही हिन्दू धर्म में भी समा गया जिसका स्पष्ट प्रभाव सभी धर्मों पर पड़ता दिखायी देता है जिससे शाक्त धर्म भी प्रभावित हुआ।

भागवत धर्म के अन्तर्गत तंत्र साधना में शक्ति सहित उपास्य की भक्ति तथा उपास्या के समीपस्थ की लालसा पर बल दिया गया जिससे भक्ति का सर्वोत्तम रूप रास माना गया। हंसविलास नायक तांत्रिक ग्रन्थ में वर्णित है कि आनन्द ब्रह्मस्वरूप

है और वह इस देह में स्थित है। इस आनन्द का अभिव्यंजक रास है और उसमें संलग्न व्यक्ति रसिक कहलाता है। आगे लिखा है कि तांत्रिक साधना में रतिक्रीड़ा करते हैं और वैष्णव उसका गायन करते हैं और गायन भी सुरक्षित ही है। यही कारण है कि वैष्णव भक्त ध्यान द्वारा राधाकृष्ण की कल्पना करता है। भक्तों की यह युगल उपासना तांत्रिकों की यामल उपासना से ही प्रेरित दिखायी देती है जिससे शक्ति पूजा का महत्व इस काल में भागवत धर्म के अन्तर्गत बढ़ा।

बौद्ध धर्म पर भी तंत्रवाद के प्रभाव से शाक्त धर्म का प्रभाव वज्रयान धर्म में देखने को मिलता है। जिसमें वज्रयान के रूप में शक्ति की उपासना की गयी और इस बात पर बल दिया कि मोक्ष की प्राप्ति त्याग व संयम से नहीं बल्कि सांसारिक भागों से होती है। जैन धर्म में प्रारम्भ में तप त्याग व वैराग्य के द्वारा रागात्मक भोग वृत्ति को दबाने पर जोर देते हुये कठोर व्रत उपवास की व्यवस्था की गयी थी परन्तु पूर्व मध्ययुग में जैन धर्म भी तंत्र के प्रभाव से अछूता नहीं रह सका और शाक्तों की पद्धति पर आधारित जैनागम में तीथकारों की 'शासन देवता' के रूप में शक्ति पूजा को मान्यता दी गयी। श्वेताम्बर मत में पच्चीस देवियों के नाम मिलते हैं जिसमें आर्य तथा कोट्टकिरिया प्रभुत्व देवियां हैं जिनमें दुर्गा का रूप समन्वित है।[108] जैन टीकाकारों ने आर्या और कोट्टकिरिया में अन्तर बताते हुये कहा है कि जो कूष्ममांडिनी की भांति खड़ी रहती है वह आर्या है और वही जब महिषी का वध करने के लिये उद्यत हो जाती है तो कोट्टकिरिया कहलाती है।

अत: पूर्वमध्यकाल में नारी को मोक्ष का मार्ग मानकर तांत्रिक साधनों में प्रवृत्ति द्वारा मुक्ति को कामोपभोग द्वारा प्राप्त करने का प्रयास किया गया। यही कारण है कि सभी धार्मिक सम्प्रदायों का आकर्षण शक्ति पूजा की ओर बढ़ा। इस संदर्भ में प्रभुदयाल मित्तल ने ठीक ही लिखा है कि यह एक ऐसा आकर्षक सिद्धान्त था कि उसकी ओर उस युग के सभी प्रमुख धर्म, सम्प्रदाय ललक कर दौड़ पड़े साधारणतया सभी धर्मों में भोग प्रवृत्ति शमन के लिये साधकों को कायाकष्टात्मक कठोर आचारों के पालन का विधान रखा गया थापर जनतंत्राचार्यों ने काया कष्ट

की अपेक्षा कामोपभोग को ही कल्याण व निर्वाण प्राप्ति का साधन बताया तो सभी धर्मों का उस ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था। तंत्र साधना के अन्तर्गत कुमारी पूजा में स्त्री को देवी का रूप प्रदान किया क्योंकि कुमारी को देवी का रूप प्रदान करने से विलासमय प्रवृत्तियों के योग्य ग्लानि उत्पन्न होने की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। इसमें कामवृत्ति को दिव्य कर्म मानकर काम को संतुष्ट किया जाता था तथा उक्त मिलन को ब्रह्माण्ड व्यापी शक्ति और शिव का मिलन माना जाता था जिससे साधक के मन में न कोई ग्लानि होती थी न लज्जा। गंधर्व तंत्र[109] में कहा गया है कि उपयोग की विधि भावना से ही वस्तु पवित्र तथा अपवित्र होती है। वह स्वयं में न पवित्र है न अपवित्र। विशम्भर उपाध्याय भी लिखते हैं कि इससे साधक की वासना का दिव्य स्तर पर प्रक्षेपण हो जाने से वासना दिव्य भाव में बदल जाती है। तंत्र साधना के इसी प्रभाव के कारण अधीतकाल में शक्ति पूजा का प्रचलन बढ़ा और तत्कालीन समाज इससे प्रभावित हुये बिना नहीं बच सका। तांत्रिक गतिविधियों के समावेश ने समाज में विलासिता, कामुकता एवं भ्रष्टाचार का जो वातावरण उत्पन्न कर दिया वह हिन्दू धर्म को सदा-सदा के लिये डुबो देने का कारण बन जाता। यहां पर यह उल्लेखनीय है कि ये घटनायें धार्मिक पटल पर उस समय घटित हो रही थी; जबकि राजनैतिक अम्बर वैदेशिक आक्रान्ताओं की पद चाप से उठी हुई धूल से पूरी तरंह ढक चुका था। ऐसे में कोई हल्की सी ज्योति इसे भेद नहीं सकती थी। धार्मिक गतिविधियों के इस रुख ने समाज में जो व्यापक परिवर्तन किया उसका दु:खद परिणाम बहुत जल्दी ही उसके सामने आ गया और हिन्दू सत्ता का सूर्य सल्तनकालीन गोद में उगने के लिये मजबूर हो गया।

बौद्ध धर्म व सामाजिक परिवर्तन-

पूर्वमध्ययुग बौद्ध धर्म की दृष्टि से पतन का काल है क्योंकि बौद्ध धर्म के अन्तर्गत हुये विभाजन के फलस्वरूप वह बौद्ध धर्म जो अशोक के समय में अत्यन्त फल-फूल रहा था पतन की ओर अग्रसार हो गया जिसके लिये यह धर्म खुद जिम्मेदार था। बुद्ध ने स्वयं एक व्यावहारिक दर्शन का प्रचार किया था। जिसमें पुजारी वर्ग की भूमिका न्यूनतम थी तथा ईश्वर और उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में उन्होंने कोई

विचार व्यक्त नहीं किये थे। परन्तु ईस्वी युग के प्रारम्भ की शताब्दियों में महायान मत का विकास हुआ जिसमें बुद्ध को ईश्वर के रूप में पूजा जाता था। धीरे-धीरे इनकी पूजा परिपाटी और जटिल तथा भव्य होती गयी और अनेक अंधविश्वासों का जन्म हुआ। ऐसा विश्वास किया जाता है कि तांत्रिक मंत्रों को पढ़कर लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सकती है। यद्यपि ये मंत्र अर्थहीन थे। परन्तु लोगों में यह विश्वास उत्पन्न कर दिया गया कि इनके जप से चमत्कारिक शक्ति प्राप्त होती है। यही कारण है कि इस युग में बौद्ध धर्म का जो रूप उभर कर सामने आया उन पर तांत्रिक प्रभाव तो था ही साथ में धार्मिक भावना की तुष्टि के लिये इस धर्म में अनेक प्रकार की धार्मिक क्रियायें, अनुष्ठान, गूढ़ क्रियायें आदि समा गयीं। इस तंत्र व मंत्र के कारण बौद्ध धर्म का वास्तविक रूप ही धूमिल हो चला जिसके कारण सातवीं शताब्दी से बौद्ध धर्म का पतन प्रारम्भ हो गया। इस बात के ऐतिहासिक प्रमाण हैं कि हर्षवर्धन ने बौद्ध धर्म की पूर्व प्रतिष्ठा दिलाने का अंतिम प्रयत्न किया।[110] परन्तु वह हिन्दू धर्म को भी दुर्लक्षित न कर सका, न ही वह अशोक, कनिष्ककालीन गौरव बौद्ध धर्म को दिला पाया। हर्ष साम्राज्य के पतन के साथ ही बौद्ध धर्म की अवनति भी प्रारम्भ हो गयी।

बंगाल, बिहार के पाल-सेन[111] शासकों को छोड़कर भारत के पूर्व मध्यकालीन शासकों का एकछत्र संरक्षण वह न पा सका। अतः वह बंगाल, बिहार, आसाम और उड़ीसा अर्थात् पूर्वी भारत में ही सिमटकर रह गया। विक्रमशील[112] उसका केन्द्र बिन्दु था। दक्षिण भारत में उसे शैवों, वैष्णवों के तीव्र विरोध का सामना करना पड़ा। वे उसे इस युग में वहां से अपदस्थ करने में सफल भी हुये।

पूर्वमध्ययुग तक आते-आते उसमें अनेक दार्शनिक और सैद्धान्तिक परिवर्तन हो गये थे। वह मंत्र योग[113] में सिमट गया। उसमें धार्मिक दुराचार प्रवेश कर गया। इसने सुखवाद[114] को विकसित किया। वह अनेक देवी देवताओं में विश्वास करने लगा, जिनकी अर्चना से सिद्धि मिल सकती थी। बुद्ध अनेक देवी देवताओं से नाग, किन्नर, यक्ष, अप्सराओं[115] से घिर गये। बुद्ध की शिक्षाओं का स्थान बुद्ध पूजा ने ले लिया। उन्हें सर्वशक्तिमान और सर्वव्याप्त मानकर ग्रहण कर लिया गया, तब उनकी अर्चना

रहस्यमय और जटिल हो गयी। इसने भक्ति के साथ भोग को प्रश्रय देकर वैपुल्यवाद को विकसित किया।[116] इस युग में गुह्य यौगिक क्रियाओं के साथ ही कर्मकाण्ड का भी बौद्ध धर्म में बोलबाला था।[117]

बौद्ध धर्म की स्थिति के सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल में इसकी निरन्तर अवनति हो रही थी और बारहवीं शताब्दी तक यह भारत से विलुप्त हो गया। प्रारम्भ में धनिक वर्ग का भी बौद्ध धर्म को प्रश्रय प्राप्त था। परन्तु वैश्य वर्ग की अवनत स्थिति और नगरों के ह्रास के कारण यह प्रश्रय अप्राप्य हो गया।[118] हर्षोत्तरयुगीन नवीन राजपूत राजवंशों ने परम्परावादी हिन्दू धर्म को अधिक संरक्षण और समर्थन प्रदान किया। जो सामयिक परिस्थितियों में उनके लिये अनुकूल था। कहीं-कहीं तो ब्राह्मणीय व्यवस्था के पोषक शासकों का बौद्ध धर्म के प्रति विद्वेष भाव भी साक्ष्यों से सिद्ध होता है। पुराणों ने भक्ति मार्ग को प्रोत्साहन देकर शूद्रों के प्रति उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया।[119] बौद्ध धर्मावलम्बी शूद्रों को पुनः हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में प्रतिष्ठित करने की समस्या का निराकरण पुराणों के नवीन संस्करण द्वारा किया गया। इस युग के व्यवस्थाकारों ने समाज की एक इकाई के रूप में शूदों को जो पूर्वापेक्षा व्यापक धार्मिक और आर्थिक अधिकार प्रदान किये, वह उनकी समन्वयात्मक नीति का परिचायक है।[120] देवी भागवत[121] पुराण में कहा गया है कि स्त्री, शूद्र जिन्हें वेद का अध्ययन श्रवण का अधिकार नहीं था उनके हित के लिये पुराणों की रचना की गयी।

इस युग में शंकराचार्य और कुमारिल[122] जैसे दार्शनिकों ने बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन किया। नवीं और दसवीं शताब्दियों में वाचस्पति मिश्र उदयनाचार्य तथा जयन्त भट्ट ने बौद्ध मत की तीक्ष्ण आलोचना की।[122] शंकराचार्य और कुमारिल के प्रचारात्मक प्रयासों से बौद्ध धर्म को आघात पहुंचा।[124] तारानाथ ने भी शंकराचार्य से बौद्ध पंडितों के शास्त्रार्थ और उनकी पराजय तथा परिणामस्वरूप धर्म संस्थाओं के उजड़ने का उल्लेख किया है।[125] यद्यपि आगे वह धर्म कीर्ति से शंकराचार्य की पराजय का भी उल्लेख करता है।[126] एक ओर जब कि पौराणिक धर्म के उत्थान और कुमारिल और शंकराचार्य के प्रयासों से हिन्दू धर्म का स्वरूप व्यापक होता जा रहा था वहीं बौद्ध

धर्म पारस्परिक सम्प्रदायगत विभाजन से निर्बल और मठों में केन्द्रित होता गया। उन मठों का स्वरूप शिथिल और प्रभावहीन था और जनसामान्य से इसका सम्बन्ध टूट गया था। सामान्य उपासकों के लिये बौद्ध धर्म पृथक और पर्याप्त नैतिक-सामाजिक आचार एवं संस्थायें निर्मित करने और प्रदान करने में असमर्थ रहा। उपासकों का बौद्ध धर्म मुख्यतया बिहारों और चैत्यों को दान तथा तारा लोकेश्वर की प्रतिमा का अर्चन मात्र था। मठों के भिक्षुओं का नैतिक पतन भी बौद्ध धर्म की अवनति का कारण कहा गया। बुस्तीनें[127] ने इस ओर संकेत किया कि तथागत के निर्वाण के तेरह सौ साल बाद (आठवीं शताब्दी) से मठों में भ्रष्टाचार बढ़ गया। आठवीं नवीं शताब्दी के बाद से नैतिक ह्रास के बढ़ने के कारण बौद्ध धर्म जनसामान्य को अधिक समय तक आकर्षित नहीं कर सका। राजतरंगिणी[128] में ऐसे बौद्ध मठों की परम्परा का उल्लेख है जिसके अर्द्धभाग में प्रव्रजित भिक्षु और शेष भाग में स्त्री, पशु, धन वाले गृहस्थ निवास करते थे।

बौद्ध और हिन्दू विचारधार के संघर्ष से भी बौद्ध धर्म को कहीं-कहीं विध्वंस का सामना करना पड़ा।[129] शून्य पुराण में धर्म मंगल सम्प्रदाय को ब्राह्मणों द्वारा प्रताड़ित होने और बोधिसत्वों के रक्षार्थ तुरुष्कों को बुलाये जाने का उल्लेख है।[130] कल्कि पुराण[131] में कल्कि अवतार का उद्देश्य बौद्ध पारवण्डियों और म्लेच्छों का दामन और वेद धर्म रूपी सेतु की रक्षा करना कहा गया है। परशुराम भगवान कल्कि से दक्षिणा स्वरूप धर्मविहीन राजाओं तथा बौद्धों के संहार की मांग करते हैं। कल्कि पुराण में कल्कि द्वारा कीकटपुर पर आक्रमण का उल्लेख है, जहां वैदिक धर्म, वेदान्त, पितर अर्चना, कुल धर्म, जाति के न मानने वाले बौद्धों का निवास था।[132]

बौद्ध स्थापत्य[133] में भी ब्राह्मण बौद्ध संघर्ष का संकेत मिलता है। इण्डियन म्युजिम[134] की मूर्तियों में गणेश को बौद्ध देवी अपराजितता द्वारा पददलित दिखाया गया है। विध्नान्तक की मूर्ती में उनके नीचे गणेश को चित्रित किया गया है। बौद्ध देवी की मूर्ति में भी उनके नीचे गणेश को चित्रित किया गया है। बौद्ध देवी की मूर्ति में कमल के नीचे गणेश दिखाये गये हैं। बौद्ध देवी देवताओं का चित्रण इस

विद्वेषभाव को प्रकट करता है। हिन्दू देवता, ब्रह्मा, विष्णु, शिव और इन्द्र बौद्ध देवताओं से पदाक्रान्त चित्रित है तथा त्रैलोक्यविजय के सम्मुख शिव और गौरी साष्टांग दण्डवत की मुद्रा में चित्रित है। बौद्ध स्थापत्य में इस प्रकार के चित्र बौद्धों द्वारा हिन्दू देवताओं पर अपने देवताओं की उच्चता आरोपित करने के प्रयास का परिचायक है, यद्यपि हिन्दुओं की ओर से ऐसा कोई प्रयास नहीं हुआ। यद्यपि दसवीं शताब्दी में कालचक्र तंत्र ने[135] कालचक्र देवता के सामान्य माध्यम से म्लेच्छों के सांस्कृतिक हस्तक्षेप के विरुद्ध बौद्धों और हिन्दुओं में एकता का प्रयास किया, परन्तु यह प्रयास निरर्थक सिद्ध हुआ। इस विरोध के बावजूद कतिपय हिन्दू देवी देवता बौद्ध धर्म में समाविष्ट भी किये गये जिनमें प्रमुख महाकाल (शिव, महादेव) गणपति और सरस्वती है। इस प्रकार विलीनीकरण की प्रक्रिया में तीव्रता आई। सामान्य तत्व के रूप में तंत्रवाद ने इस प्रक्रिया में प्रबलता पैदा की। पुराणों में[136] छठवीं शताब्दी से बुद्ध को विष्णु का अवतार माना जाने लगा। कतिपय साहित्यिक ग्रन्थों ने भी इस परम्परा का अनुमोदन किया। अग्निपुराण[137] में बुद्ध के अवतार की व्याख्या अत्यन्त चार्तुयपूर्ण शैली में की गयी है। इसके अनुसार भगवान ने शुद्धोधन के पुत्र के रूप में अवतार लिया, और दैत्यों को मोह में डालकर उन्हें वैदिक धर्म से पृथक कर दिया, वे बौद्ध हुये। विलुप्त होते बौद्ध धर्म पर तुर्कों के आक्रमण का निर्णायक प्रभाव पड़ा। उत्तर भारत में तुर्कों के आक्रमण से बौद्ध बिहार नष्ट और लुप्त हो गये। बिहारों के लोप से उपासकों की क्षीण बौद्धता का विलोप अनिवार्य था।

तंत्रवाद समन्वित बौद्ध धर्म का विकास-

पालों के समय में बौद्ध धर्म में गुह्यतावादी प्रवृत्तियां बढ़ती गयी। जिनके परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म में महान परिवर्तन हुआ। तंत्रवाद समन्वित बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा ने महायान को आच्छादित कर लिया। तांत्रिक बौद्ध धर्म महायान का आठवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच विकसित स्वरूप था।

व्रजयान-

पूर्व मध्ययुग के पहले ही महायान. शाखा[139] ने करुणा और 'शून्यता' के सिद्धान्त विकसित कर लिये थे। वज्रयानियों[140] ने इन्हें ही 'प्रज्ञा' तथा उपाय के नाम दिये।

परन्तु वज्रयानियों ने 'शून्यता' को वज्र मान लिया। महासुखवाद[141] के प्रवेश के बाद यह यान वज्रयान कहलाने लगा। अर्थात् वह यान जो वज्र के समान दुभेद्य अचल और अनीश्वर हो। साधक साध्य और साधन तीनों 'वज्र' माने गये। नर नारी के समागम में जो आनन्दाभूति मिलती है वही बोधचित्त के शून्य में मिलने से मिलती है। वज्रयान ने गुरु शिष्य परम्परा को भी मान्यता दी। साधक द्वारा किसी सुन्दरी को महामुद्रा बनाकर बोधिचित्त और निर्वाण की कामना ने इसे रहस्यवादी बना दिया। ध्यानी बुद्ध व उनकी शक्तियों की धूप, दीप, पुष्प, ध्यानयोग आदि से पूजा ने उसे लौकिकता प्रदान कर दी।[142]

कालचक्रयान-

दसवीं सदी के आसपास वज्रयान ने कालचक्रयान को जन्म दिया यद्यपि यह वज्रयान से पृथक नहीं था।[143] काल प्रज्ञा और चक्र उपाय का द्योतक है।[144] इस तंत्र में भगवान को श्री कालचक्र कहा गया है। वज्रयान और कालचक्रयान में अन्तर केवल इतना है कि इसमें योग पर अधिक जोर दिया गया, जिसके माध्यम से कालचक्र के प्रभाव से मुक्त रहा जा सकता है, जो समस्त क्षय और विनाश का मूल है।[145] इसी युग में बंगाल[146] में तांत्रिक बौद्ध धर्म से सम्बद्ध एक समूह का अविर्भाव हुआ जो प्रत्येक रूढ़िवाद, कर्मकाण्ड, प्रतिमापूजन, मंत्रादि के विरुद्ध था। इन्होंने अपने विचारों का प्रतिपादन चर्यागीतों और दोहाकोश में किया। यद्यपि इन चर्यागीतों में निहित दार्शनिक अवधारणा सामान्यतः बौद्ध थी, परन्तु अपनी वैचारिक विशिष्टिता के कारण ये एक पृथक सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुये, जिसे सहजयान की संज्ञा दी गयी।[147]

सहजयानियों का पूरा झुकाव जीवन और धर्म से सम्बद्ध आडम्बरों के विरुद्ध था। उनकी यह अवधारणा उन्हें वज्रयान से पृथक करती हैं। सहजयानी सत्यानुभूति के लिये मानव स्वभाव पर किसी प्रकार का अप्राकृतिक आरोपण न स्वीकार कर स्वयं मानव स्वभाव को इसके लिये सहायक मानते हैं।[148] अन्यान्य सम्प्रदाय यदि कामावेग के पूर्ण दमन को आवश्यक मानते हैं तो सहजयान इसकी परिणति और परिष्कार अनुदेशित करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में कामावेग का पूर्ण दमन अप्राकृतिक और असम्भव है। इसी सहजता के कारण यह सम्प्रदाय सहजयान कहलाया। सम्पुटिका[149]

में कहा गया है कि योग की प्रक्रिया कामावेग से उत्पन्न होती है, हमारा कामावेग हमारे स्वभाव का अंग है, जो कभी उल्लंघनीय नहीं है। अतः इसे सत्यानुभूति के लिये यौगिक प्रक्रिया में परिणित करना उचित है। शान्तिपाद[150] ने बोधिचित्त की अनुभूति के लिये अपने पवित्र चित्त को अनुभूत करने पर जोर दिया उन्होंने कहा बोधि तुम्हारे समीप है इसके लिये लंका जाने की आवश्यकता नहीं है। अपने हाथों के कंगन को देखने के लिये दर्पण मत लो, इसके लिये मंत्रोच्चारण जप, तप, होम, मण्डल और उससे सम्बद्ध कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं है। महासुख के रूप में सहज या बोधिचित्त मंत्र, जप, तप, होम, मण्डल और तत्सम्बन्धित सब कुछ है।[151]

सहजयान के आचार्यों तिंलोपाद, सरहपाद और कान्हपाद आदि ने धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन और पाण्डित्य से मोक्ष प्राप्ति का खण्डन किया।[152] आगम, वेद, पुराण के अध्ययनकर्ता की तुलना कान्ह ने पके फल के ऊपर मंडराने वाली मधुमक्खी से की जो उनके सुगन्ध तो पा जाती है किन्तु उनका रसास्वादन नहीं कर पाती।[153] सहजयानियों ने धार्मिक विधि-विधान की कटु आलोचना की। दोहाकोश[154] में सरहपाद ने ब्राह्मणों की वर्ण व्यवस्था का खण्डन करते हुये उसे चालाक और धूर्तजनों की निर्मित बताया। इसके साथ ही उन्होंने जैन, बौद्ध, तीर्थिक, स्थविर आदि के भी धार्मिक क्रियाकलापों-प्रव्रज्या, तीर्थयात्रा, मंत्र-तंत्र, स्थान, ध्यान का खण्डन करते हुये आत्मज्ञान पर जोर दिया। सरह के विचार से यही सत्य है, तंत्र-मंत्र व्यर्थ हैं। उसने कहा कि सब ध्यानादि से सम्मोहित हैं पर अपने को जानने की कोई परवाह नहीं करता[154] स्पष्ट है कि सहजयान धर्म सम्प्रदायों के बढ़ते हुये आडम्बर और रूढ़िवादिता के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी।

सिद्ध सम्प्रदाय-

बौद्ध धर्म ने एक करवट और बदली। आठवीं शताब्दी के अन्तिम उत्तरार्द्ध में नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्यद्धय शांतरक्षित एवं हरिभद्र के शिष्य भिक्षु राहुलभद्र ने तत्कालीन धार्मिक भेदभाव, जातिबंधन, ऊँच-नीच आदि के विरुद्ध विद्रोह किया।[155] उसने सरहपाद नाम धारण कर एक निम्न वर्ग की लड़की को मुद्रा बनाकर उसके साथ रहना आरम्भ कर दिया।[156] सिद्धों का काल शुरू में सहजयान का आरम्भिक

काल था। सहजयानियों से एक कदम आगे बढ़कर इन्होंने वर्णाश्रम के बंधनों के खोखलेपन का पर्दाफाश किया।[157] सरहपाद ने चांडालों के साथ भी भोजन पान को शास्त्र सम्मत माना।[158] परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म के कई वर्गों में यह काफी लोकप्रिय हुआ। 'प्रज्ञा उपाय' के बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों में सिद्ध भी विश्वास करते थे।[159] परन्तु मुद्रा के लिये नीच जाति की स्त्री का उपयोग निषिद्ध नहीं मानते थे। ये अक्सर निम्न जातियों की लड़कियों में से ही अपनी मुद्राओं का चयन करते थे।[160] परन्तु सिद्ध आन्दोलन के सभी सिद्ध निम्न जातियों में से न थे, जैसा कि कुछ विद्वानों[161] का विचार है। वरन वे देश की विभिन्न जातियों और भागों से आये थे। कर्नाटक के कन्हप्पा ब्राह्मण थे[162] जुलाहे तंतिया व लुईपाट उज्जैन के थे।[163] इन सिद्धों की संख्या चौरासी थी।[164] ये मात्र बंगाल तक ही सीमित न रहे वरन् टोरिप्पा ने कांची में गुह्य क्रियाओं का प्रचार किया था।[165]

सिद्धों ने 'भाव' तथा 'निर्वाण' के लिये डोम्बी कन्या के सहवास का समर्थन किया, क्योंकि उनके संसर्ग से ही 'सहजसुख' अथवा 'महासुख' पाया जा सकता है।[166] सिद्धों ने निम्न जाति के सभी वर्गों- चांडाल,[167] मातंग,[168] शबरी[169] आदि को मुद्रा बनाने की अनुशंसा की, क्योंकि वे 'नैरात्म्य' व 'शून्यता' का प्रतीक हैं। वे महासुख का स्थान है।[170] गुह्य साधना के योग्य वे ही हैं।[171] सिद्धों ने पूरी तरह से निम्न वर्गों में अपने कार्य का प्रसार किया। उन्होंने निर्वाण के द्वार निम्न जातियों के लिये खोल दिये। परन्तु मुद्रा के माध्यम से महासुख की साधना का दुरुपयोग हुआ। फलस्वरूप उसका प्रभाव भी सीमित ही रहा। वह वासना के भ्रमजाल में उलझकर भटक गया। उच्च वर्णों के लोगों के द्वारा इसमें सम्मिलित होने के बाद भी वह सामाजिक ध ार्मिक प्रतिष्ठा न पा सका। सिद्ध एक प्रकार के स्वाधीन राजगीर थे।[172]

जैन धर्म का सामाजिक परिवर्तन में योगदान-

जैन धर्म अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक कालीन ऋषभदेव को जैन धर्म का प्रवर्तक माना जाता है। ऋषभदेव के बाद 23 तीर्थकर और हुये।[173अ] ईसा पूर्व की छठीं शताब्दी में वर्द्धमान महावीर ने जो बुद्ध के समसामायिक थे, इस धर्म को एक नई गतिशीलता प्रदान की थी। परन्तु शीघ्र ही ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी में जैन

धर्म दिगम्बर और श्वेताम्बर शाखाओं में विभाजित हो गया।[173ब] यद्यपि अशोक, कनिष्क हर्ष जैसे उत्साही समर्थक सम्राट जैन धर्म को नहीं मिले, परन्तु इसका प्रसार धीरे-धीरे भारत के कई भागों में होता रहा। स्थानीय सरंक्षण उसे हमेशा ही मिला। जैनाचार्य भद्रबाहु के दक्षिण की तरफ उन्मुख होते ही गुजरात, मालवा और दक्षिण में इस धर्म का प्रचार-प्रसार हुआ। यह घटना ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी में घटी थी। धीरे-धीरे दक्षिण की एक तिहाई जनता जैन धर्मानुयायी हो गयी। विशेषता यह थी कि जैन धर्म मगध व उसके आसपास के भागों में प्रभावहीन होता जा रहा था, जबकि गुप्तकाल के पूर्व ही वह भारत के अन्य दूरस्थ स्थानों में लोकप्रिय हो रहा था।[174]

बौद्ध और हिन्दू धर्म के प्रभाव के कारण जैनों ने भी तीर्थकरों के नाम पर भव्य मंदिरों का विशाल पैमाने पर निर्माण शुरू कर दिया था। जैन धर्म के आदर्शों के स्थान पर 'जिन पूजा' की शुरुआत हो गयी।[175] इन तीर्थकरों के मन्दिरों में जैन देवी-देवताओं की मूर्तियां भी पूजा हेतु उत्कीर्ण की जाने लगी।[176] जैनों ने विद्या की देवी सरस्वती, धन की देवी लक्ष्मी और सिद्धि विनायक गणेश को भी अपना लिया।[177] इस प्रकार जैनों ने भी कर्मकाण्ड, जिन पूजा भक्ति को मान्यता दे दी। उस युग और अन्य धर्मों की लोकमान्य प्रवृत्तियों का जैन धर्म पर यह प्रभाव था। महावीर ने जिन कर्मकाण्डों के विरोध में धर्म सुधार किया था, अब वे ही कर्मकाण्ड जैनों के दैनंदिन कार्य बन गये। हिन्दुओं के समान जैन भी जाति प्रथा, श्राद्ध, पित्रतर्पण आदि मानने लगे।[178] इसने उन्हें हिन्दुओं के और निकट ला दिया।

जैनों के दो वर्ग थे, गृहस्थ और संन्यासी। इनमें सन्यासियों का आचरण पवित्रता, त्याग, निस्पृहता आदि से भरा था। इसने समाज में उन्हें आदरणीय व श्रद्धेय स्थान दिला दिया।[179] परन्तु सभी जैन सन्यासियों का जीवन आदर्श न था। अनेक आनन्द मनाने के लिये भी साधु बन गये थे।[180] कुल मिलाकर जैन साधुओं का नैतिक स्तर अच्छा था। इसलिये वे समाज व शासन में लोकप्रिय व पूज्य थे। उन्होंने वणिक व समुद्र वर्गों को चार दानों- ज्ञानदान, अन्नदान, औषधिदान तथा उपाश्रय निर्माण हेतु

दान या शरणस्थलों की स्थापना का महत्व समझाया, इस हेतु उन्हें प्रेरित किया।[181] जबकि वे स्वयं के लिये कुछ भी नहीं स्वीकारते थे। परिणामस्वरूप पूर्वमध्ययुग में देश के कई भागों- विशेषकर पश्चिमी भागों- राजस्थान, मालवा, गुजरात में अनेक जिनालय व उपाश्रय बनाये गये।[182] अन्य धर्मावलम्बियों के सदृश जैनों ने भी ओमणमों अरिह्न्ताणम्, 'महावीराय नमः' तथा 'अहन', 'अर्हन' के मंत्रों के जाप में ही अपने मोक्ष का साधन इस काल में ढूंढ निकाला।[183] जैनों की विद्या सम्बन्धी ख्याति- गरिमा ने अनेक ब्राह्मणों को जैन धर्म अपनाने के लिये प्रेरित किया।[184]

पूर्वमध्ययुग के राष्ट्रकूट, गंग-कदम्ब और चौलुक्य वंश के जय सिंह, सिद्धराज और कुमारपाल जैसे शासकों ने इस धर्म का प्रचार किया।[185] चौलुक्य सम्राटों द्वारा श्वेताम्बर सम्प्रदाय का गुजरात आदि प्रदेशों में अधिक प्रचार हुआ।[186] हेमचन्द्र[187] के प्रयास से इस सम्प्रदाय का प्रभाव जनमानस पर पड़ा। इसी प्रकार दक्षिण में दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रसार हुआ।[188] जैन साधु और सूरि विद्वानों के कारण भी इस धर्म का यथेष्ट प्रसार हुआ। किन्तु हिन्दू धर्म के पुर्नजागृत होने से जैन धर्म का प्रभाव मन्द पड़ने लगा तथा शनैः शनैः यह धर्म राजस्थान और गुजरात तक ही सीमित रह गया।[189] हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों ने सत्य, अहिंसा, सत्कर्म आदि पर सरल और सुबोध शिक्षा प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया जिससे इस धर्म का महत्व कम होने लगा। फलतः जैन गृहस्थ हिन्दू धर्म से भी प्रभावित होता गया और हिन्दू समाज का एक अंग बन गया। इसके अतिरिक्त जैन धर्म में भी उन्हीं अवगुणों और त्रुटियों का प्रवेश हो गया था, जो हिन्दू धर्म में थी। संघ में प्रवेश के समय जाति भेद और ऊँच-नीच की भावना ने जैन धर्म को शिथिल कर दिया तथा बौद्ध धर्म के प्रसार और उसकी उन्मुक्तता ने उसे और आघात पहुंचाया। कायाक्लेश, कठोर तपश्चर्या, निर्व-स्त्रता जैसे सिद्धान्तों ने जैन धर्म के विकास में अवरोध का काम किया।[190] साधारण जनता ऐसे अतिवादी मार्गो से अलग होकर दूसरे धर्मों के प्रति आकर्षित हुई।

अधीतकालीन धार्मिक प्रक्रिया में बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म ने भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की जिसने सोलंकी एवं चाहमान नरेशों की छत्रछाया में गुजरात तथा

राजस्थान में एक नया स्वरूप ग्रहण किया।[191] कुमारपाल, चालुक्य, उदयन, तथा अनेक चाहमान वंशीय शासकों ने जैन धर्म को काफी महत्व प्रदान किया। जैन धर्म ने पशु हत्या पर प्रतिबन्ध लगाकर एक नया सामाजिक आन्दोलन खड़ा किया। बारहवीं शताब्दी ई0 के आते-आते धर्म ने उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, बंगाल, बिहार में भी अपना प्रभाव कायम किया साथ ही काश्मीर में थोड़ा बहुत असर इस धर्म का हुआ।

अधीतकाल में यह धर्म दो सम्प्रदायों में बँट चुका था जो श्वेताम्बर व दिगम्बर के नाम से प्रसिद्ध थे। इस काल में श्वेताम्बर सम्प्रदाय अधिक प्रभावी रहा जिसके अनेक अभिलेखीय प्रमाण प्राप्त होते हैं।[192] इस युग में जैन संघों के रूप में 'गच्छ' का बहुतायक प्रमाण मिलता है जिनमें जैन धर्म से सम्बन्धित गतिविधियां सम्पन्न होती थीं। बी0 एन0 एस0 यादव[193] ने अनेक ऐसे अभिलेखीय प्रमाण प्रस्तुत किये हैं जो तरह-तरह के गच्छों की सूचना देते हैं। जैने लेख माला में अनेक प्रकार के गच्छों की सूचना समाहित है। ग्यारहवीं शताब्दी में जिनेश्वर सूरी एवं जिनदत्त सूरी ने जैन धर्म के विधि चैत्य परम्परा को बहुत आगे बढ़ाया। जो चैत्यवासियों के विरुद्ध चलाया गया आन्दोलन था।[194]

चैत्यवासियों ने मठों एवं मंदिरों को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति बना रखी थी और धार्मिक अनुशासन को शिथिल बना देने के साथ-साथ इन मठों में जाति व उपजाति का संकीर्ण वातावरण उत्पन्न कर दिया था। इसी गतिविधि के विरोध में जिनदत्त सूरी ने विधि चैत्य की व्यवस्था करवायी और उसमें स्थानीय शासकों के प्रभाव का उपयोग किया लेकिन इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि विधि चैत्य और चैत्यवासियों में संघर्ष हो गया और हिंसा तथा रक्तपात का माहौल यत्र-तत्र विद्यमान हो गया। इस प्रकार जैन धर्म के इस आन्दोलन में एक तरफ तत्कालीन सामाजिक धार्मिक परिस्थितियों में बदलाव लाने की कोशिश की। दूसरी तरफ कहीं-कहीं हिंसा व भय का वातावरण भी उत्पन्न कर दिया। जैन धर्म के अहिंसा के सिद्धान्त ने तत्कालीन समाज में वैश्य वर्ग को बहुत अधिक प्रभावित किया और वैदिक यज्ञों में होने वाली हिंसा का विरोध करके समाज को अन्धविश्वास से बाहर निकालने का प्रयास किया इसलिये जैन धर्म उत्तरी भारत में व्यापारिक प्रगति का एक

माध्यम भी बना।

अधीतकालीन समाज सूर्य पूजा से भलीभांति परिचित था। सूर्य के साथ-साथ गणेश, कार्तिकेय और ब्रह्मा की उपासना के प्रमाण भी इस युग में कई स्थानों पर मिल जाते हैं।[195] नवग्रहों उपासना इस युग में भारतीय मूर्तिकला में सहज रूप में देखी जा सकती है। इन नवग्रहों की उपासना स्वास्थ, समृद्धि, अतिवृष्टि युद्धविजय एवं लम्बी उम्र के लिये की जाती थी। इस प्रकार यह उपासना बी0 एन0 एस0 यादव की नजर में ज्योतिषशास्त्र से अधिक प्रभावित थी।[196] आलोच्यकाल जिस तरह से धार्मिक परिस्थितियों में पीछे दिखाया गया है। उस धार्मिक प्रक्रिया में दान की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका थी। यद्यपि दान लेना या देना कोई पूर्वमध्यकालीन शताब्दियों की घटना की प्रक्रिया नहीं थी, ये तो वैदिककाल से चली आ रही थी पर इस दान का जो समाजीकरण व राजनीतिकरण इस युग में हुआ वह वैदिककाल से कम नहीं था।

वैदिककाल की दान प्रक्रिया विशुद्ध रूप से एक धार्मिक प्रक्रिया थी लेकिन धीरे-धीरे दान का स्वरूप अत्यन्त जटिल होने लगा और भूमिदानों की परम्परा ने इसका धार्मिक पक्ष दबाकर राजनीतिकरण कर डाला।

धार्मिक उदारता एवं सहिष्णुता-

पूर्वमध्ययुग में अनेक धर्मों, उप-सम्प्रदायों और उपासना विधियों के होते हुये भी देश में कुल मिलाकर धार्मिक शान्ति, सहयोग और सामंजस्य था।[197] विभिन्न धर्मावलम्बियों में आपस में धार्मिक द्वेष, घृणा और वैमनस्य न था। इसका यह अर्थ नहीं कि यह विरोध बिल्कुल शून्य था। पौराणिक साहित्य में बौद्ध विरोधी भावनायें स्पष्ट झलकती हैं।[198] हिन्दुओं व बौद्धों के बीच सांप नेवले का सम्बन्ध था।[199] अंग, बंग, कलिंग, सौराष्ट्र और मगध में बौद्धों व जैनों का प्रबल प्रभाव था। अतः ब्राह्मणों ने धार्मिक तौर पर इन भागों की यात्रा निषिद्ध कर दी थी।[200]

इस विग्रह का स्वरूप धार्मिक कट्टरता और संकुचितता से परे था।[201] शासकों की धार्मिक उदारता आदर्श थी। प्रतिहारों, गहड़वारों, चंदेलों और चालुक्यों ने तथा

परम्पराओं ने हिन्दू, बौद्ध, जैन धर्मों को समान रूप से धन, सम्पत्ति, भूमि, ग्राम आदि दान में दिये।[202] लोग धार्मिक विषयों पर बहुत कम झगड़ते थे। अधिक से अधिक उनकी लड़ाई शाब्दिक होती थी। धार्मिक शास्त्रार्थों में वे कभी भी अपने प्राण, शरीर या सम्पत्ति जोखिम में नहीं डालते थे।[203]

उपरोक्त तत्वों ने पूर्वमध्ययुग में धार्मिक एकता की आधारभूत भावना को बढ़ावा दिया। देश में भव्य-मंदिरों, देवालयों का निर्माण हुआ। पूजा की विधियां भारी भरकम हो गयीं। उसने लौकिक रूप धारण कर लिया। लोग पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक व जीवन-मृत्यु के आवागमन से तथा मोक्ष पाने की चिंताओं से ग्रसित रहने लगे। उन्हें कलियुग की निस्सारता में विश्वास होने लगा।[204] धर्म के व्यापक प्रभाव ने सारे देश को अपने घेरे में ले लिया।

विभिन्न धर्मों के धार्मिक अनुष्ठान-

पूर्वमध्ययुग के सभी धर्मों के धार्मिक सिद्धान्तों में परिवर्तन आ गये थे। सभी धर्मों ने धार्मिक अनुष्ठानों को अपना लिया था। कर्मकाण्डों और भक्तिगीतों तथा मंत्रों के साथ बुद्ध, तीर्थंकरों और पौराणिक देवी-देवताओं की पूजा अर्चना की जाने लगी।[205] धूप, दीप, पुष्प, नैवेद्य आदि का उपयोग पूजा हेतु किया जाने लगा। देवी-देवताओं, बुद्ध तथा जैन तीर्थंकरों की भक्ति, की जाने लगी थी। इनकी प्रार्थना स्तुति में मंत्रों, धारिणयों और चर्यापदों की रचना की गयी। दोहों का निर्माण भी किया गया।[206] पूजन के समय इनका जाप किया जाता था। बौद्धों के तारा 'स्त्रोत्र', 'प्रत्यंगिरा-धारिणी' इसके उदाहरण हैं।[207] जैनों ने जिन पूजा के साथ इन कर्मकाण्डों को भी अपनाया। बौद्धों, हिन्दुओं की धार्मिक तांत्रिक पूजा ने भी कई कर्मकाण्डों को जन्म दिया। प्रत्येक देवता को लगने वाली पूजन सम्बन्धी सामग्री भी निश्चित कर दी गयी।[209] इससे उपासना विधि धार्मिक अनुष्ठानों का स्वरूप भारी-भरकम दुरूह और व्ययशील हो गया।

धर्मों के माध्यम से अहिंसा का प्रचार-

इस काल के भारतीय धर्मों द्वारा अहिंसा को धार्मिक आदर्श के रूप में अपना लिया गया।[210] यह बौद्धों, जैनों को ब्राह्मण धर्म की देन थी। परन्तु अहिंसा अत्यन्त

प्राचीन आदर्श था। ब्राम्हण ग्रन्थों में मा हिंस्यात् सर्वभूतानि (किसी भी जीव की हत्या न करो) का उपदेश था।[211] गीता ने इसका समर्थन किया।[212] बौद्धों, जैनों ने इसको व्यापक पैमाने पर अपनाया। उसका प्रचार किया। यद्यपि हिन्दुओं और बौद्धों में उपासना की तांत्रिक पद्धति गहराई तक घर कर गयी थी, परन्तु अब बलि का स्वरूप भी अहिंसा के प्रभाव के कारण बदल गया। पशु अथवा नर बलि का स्वरूप भी अहिंसा के प्रभाव के कारण बदल गया। पशु अथवा नर बलि के स्थान पर जौ, तिल, तंडुल, पुरोडोश (रोटी या पीठी), यव आदि का उपयोग होने लगा। अहिंसा, धार्मिक विश्वास की प्रमुख कड़ी बन गयी।[213]

पूर्वमध्ययुग में धर्म का शासन पर प्रभाव-

पूर्वमध्ययुग में राज्य तथा प्रशासन धर्म पर आधारित थे।[214] उसका ध्येय जनकल्याण के लिये कार्य करना था। परन्तु वह मुस्लिम सल्तनत के समान एक धर्म राज्य न था वरन् वह धर्म द्वारा निर्देशित होता था। राजा की शक्ति का आधार धर्म व स्मृतिग्रन्थ थे। उन्हीं के निर्देशानुसार काम करने की अपेक्षा की जाती थी। स्मृतिकार नारद ने दुष्ट राजा पर प्रहार करने को पाप निरूपित किया है; क्योंकि उसमें देवता निवास करता है।[215] पूर्वमध्यकालीन शासकों के सामने अपने पूववर्ती चक्रवर्ती सम्राटों के आदर्श थे। पौराणिक कथाओं में वर्णित सम्राटों के कार्यों ने उन्हें अनुप्राणित और अनुप्रेरित किया हो तो आश्चर्य नहीं। हर्ष का आदर्श था कि- "जीवित प्राणियों को मन, वचन तथा कर्म से अपना कर्तव्य करना चाहिये; क्योंकि पुण्य का यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।"[216] इस युग के लिये भी यही सहायक था। धर्म के साथ राजनीति प्रशासन का समन्वय कर दिया गया था। इसी कारण से इस काल के राजा राजनीति को भी 'राज-धर्म' ही मानते थे। उनका राजनीति में किया गया प्रत्येक कार्य इस राजधर्म से ही निर्देशित होता था।

राजा व शासन को अपने पद व राज कोष का दुरुपयोग न करने की चेतावनी दी गयी। स्पष्ट कहा गया कि राजकोष मात्र सार्वजनिक हित के लिये है उसका अपने तथा परिजनों के लिये उपयोग करने पर राजा नरक का वासी होता है। धर्म के माध्यम से नरक का भय दिखाकर स्मृतिकारों ने शासकों की राजनीति को

धर्म की सीमाओं से जकड़ दिया। उस काल के नरेशों पर आधुनिक युग के समान कोई संवैधानिक रोक न होते हुये भी धर्म की सीमा-रेखाओं में जो आनुषंगिक बंधन और नैतिक सीमायें लगा दी थीं, वे परम्परापुष्ट आदर्श संविधानों से भी बलिष्ठ थीं।[218] राज्यारोहण से लेकर मृत्युपर्यन्त कई धर्म कार्य जनसाधारण के समान राजा-महाराजाओं को भी करने पड़ते थे। राज्याभिषेक अपने आपमें एक बड़ा धार्मिक समारोह था।[219] राजा के लिये 'अभिषिक्त' शब्द इस काल के अनेक शिलालेखों में प्रयुक्त किया गया। धर्म के ध्वज ब्राह्मण, राजकार्यों को नियंत्रित और निर्देशित करते थे। क्योंकि स्मृतियां मंत्रियों के चुनाव के समय ब्राह्मणों को प्रधानता देती हैं।[220] ये ब्राह्मण राजा को धर्म से विमुख नहीं होने देते थे। ब्राह्मणों की सम्मति के बिना बने राजा को धर्म सम्मत नहीं माना जाता था।[221] धर्म ने राजाओं के लिये 'क्षात्र धर्म' प्रस्तुत कर दिया था। युद्ध करना प्रमाणित क्षत्रियों का स्वधर्म था।[222] उसे कभी भी 'न निवर्तेत संग्रामः' संग्राम से निवृत्त नहीं होना चाहिये।[223] धर्मशास्त्रों के अनुसार क्षत्रियों का धर्म स्वधर्म के लिये उत्सर्ग करना था, न कि शैया पर पड़े पड़े मरना। शैया पर मरना क्षत्रिय के लिये घोर अधर्म माना गया।[224] अतः युद्ध क्षत्रियों के लिये धार्मिक कर्म बन गया। प्राचीन और पूर्वमध्ययुगीन राजवंशों ने इन धार्मिक निर्देशों का पूरी तरह से पालन किया फलस्वरूप राज्यों का उत्थान पतन पूर्व मध्ययुगीन इतिहास की साधारण घटना बन गयी।

युद्ध, धर्मसम्मत बन जाने से पूर्वमध्ययुग में वह अकारण कई युद्धों का कारण बन गया। वह क्षात्र धर्म का एक परमावश्यक अंग था। पूर्व मध्ययुग के शासकों के लिये किसी आदर्श, देश, जाति या धर्म की रक्षा के लिये युद्ध करना धर्म न था, प्रत्युत युद्ध मात्र करना ही वे अपना धर्म मानने लगे। युद्ध उनके लिये किसी उच्च उद्देश्य का उपायमात्र नहीं रह गया किन्तु निष्प्रयोजन, अकारण युद्ध करना ही धर्म हो गया।[225] इसी से वे अपने समकालीन नरेशों से लड़ते रहे। उनके अहंकार को शायद इससे तृप्ति मिलती थीं। युद्ध विद्या एक जाति विशेष की सम्पत्ति, शक्ति और कला बन गयी।[226] इसने समाज के अन्य वर्गो को सैनिक प्रशिक्षण से वंचित कर दिया।[227] इसका यह अर्थ नहीं कि समाज के अन्य वर्ग पूरी तरह से सेना से दूर रहे।[228] संकटकालीन परिस्थितियों में ब्राह्मण[229] आदि को भी शस्त्र उठाने की

अनुमति थी;[230] परन्तु बहुसंख्यक जनता सैनिक मामलों को शायद क्षत्रियों का विशेषधिकार ही मानती थी। इसने उन्हें तत्कालीन राजनीति और विशेषकर सैनिक व्यवसाय और गतिविधियों के प्रति उदासीन बना दिया हो तो आश्चर्य नहीं। प्रजा की रक्षा और उन पर शासन करना राजाओं का धार्मिक कर्तव्य था, इसी हेतु उनका निर्माण किया गया था।[231] युद्ध क्षत्रिय राजपूतों का विशेषाधिकार था। परन्तु युद्ध के समय नागरिक जनता पर अत्याचार करना, मन्दिर और उपासना स्थलों को लूटना तथा गौ, ब्राह्मणों की हत्या एक गम्भीर, अनैतिक एवं अधार्मिक कृत्य माना जाता था। शासकों की दृष्टि में नारी का सम्मान और सतीत्व, सर्वोच्च स्थान रखता था।[232] शत्रु देश की प्रजा पर अत्याचार धर्मशास्त्र के निर्देशों के विरुद्ध था। युद्धकाल में भी जनता अबाध रूप से अपने कामों में लगी रहती थी।

परन्तु पूर्वमध्ययुग के ग्यारहवीं बारहवीं सदी के मुस्लिम हमलों में देश को स्तम्भित कर दिया। हमलावर मुलसमानों के व्यापक अत्याचारों, लूटपाट, बलात्कार, मन्दिरों, उपासनागृहों को तोड़ने व लूटने, बलात धर्म परिवर्तन तथा गौ, ब्राह्मणों और आम नागरिक जनता के कत्लेआम से देश व भारतीय इतिहास स्तम्भित रह गया। निश्चित ही यह श्रेष्ठ भारतीय धार्मिक, सांस्कृतिक परम्पराओं के विपरीत और घृणास्पद था, जिसके फलस्वरूण समाज में अनेक परिवर्तन प्रारम्भ हो गये।

पूर्वमध्ययुगीन समाज पर धर्म की छाप-

पूर्वमध्ययुगीन समाज भी धर्मशास्त्रों में बंधा हुआ था। बौद्ध, जैन, हिन्दुओं के धर्म उसे बांधे थे। गुप्तकाल से ही बौद्ध जैन धर्मों के विरुद्ध श्रेष्ठता पाने के लिये ब्राह्मण प्रतिक्रिया आरम्भ हो गयी थी।[233] ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के साथ ही चतुर्वर्ण व्यवस्था को महत्व मिलने लगा था। ब्राह्मणों द्वारा प्रारम्भ की गयी प्रतिक्रिया के सामने बौद्ध जैन व्यवस्था टिक न सकी। ब्राह्मण प्रति सुधारणा जोर पकड़ती चली गयी।[233] पूर्वमध्ययुगीन नरेश चूंकि हिन्दू धर्म के अनुयायी थे, इसलिये उन्होंने समाज व्यवस्था के धार्मिक स्वरूप को कायम रखने में सहयोग दिया। समाज वर्णाश्रम व्यवस्था पर अधारित था। इसे वर्ण धर्म की संज्ञा दी गयी थी।[234] यह वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था ही हिन्दू समाज पद्धति का मुख्य स्तम्भ थी।[235] प्राचीन सूत्रों और मध्यकालीन ग्रन्थों

में[236] भी चार वर्णों का ही उल्लेख है इनमें ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र थे। पूर्वमध्ययुग में भी मोटे तौर पर इनकी संख्या चार ही थी, क्योंकि तत्कालीन अभिलेख में प्रत्येक प्रमुख जाति की उपजातियों की जानकारी नहीं मिलती परन्तु समकालीन साहित्य में अवश्य ही कई जातियों का उल्लेख मिलता है। कल्हण[238] कायस्थ आदि 64 जातियों की जानकारी देता है। अनुलोम प्रतिलोम क्रमों के कारण भी कई उपजातियां हो गयी थीं।[239]

धर्मशास्त्रों के निर्देशानुसार प्रमुख तीन वर्णों ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के लिये उपनयन संस्कार आवश्यक था।[240] इसी प्रकार 'आश्रम धर्म'[241] याने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास का भी प्रावधान था। परन्तु पूर्वमध्यकाल से एक बड़ा सामाजिक परिवर्तन यह हुआ कि अब आश्रम धर्म की अनिवार्यता समाप्त हो गयी थी। समाज के सभी वर्णो का जीवन जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त धार्मिक कर्मकाण्डों और रीति-रिवाजों से बँधा हुआ था। गर्भाधान, पुंसवन, सीमतोन्नयन, जातकर्म, नामकरण आदि 48 धर्म-संस्कार सम्पन्न करने पर ही व्यक्ति, ब्रह्मलोक पा सकता था।[241] पूर्वमध्यकाल के लक्ष्मीधर के 'कृत्यकल्पतरु' के 'गृहस्थकाण्ड' में गृहस्थों के धार्मिक कृत्यों का निर्धारण कर दिया गया था।

धर्मग्रन्थों ने समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि माना था। ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न विद्वान ब्राह्मणों के लिये नियत धार्मिक कृत्यों को करने वाला ब्राह्मण कहलाता था।[243] जन्म विद्या और कर्म इन तीन बातों ने वर्ण का निर्धारण किया था। विद्या, तपहीन, जन्म से ब्राह्मण भी ब्राह्मण कहलाता था, पर वह सम्माननीय था।[244] पूर्व मध्यमकाल तक आते आते बुद्धि संस्कार से विरल केवल जन्म से ब्राम्हण होने वाला व्यक्ति भी माननीय था।[245] अलबीरुनी भी लिखता है, "ब्राह्मण सबसे उच्च वर्ण के हैं।" हिन्दू धर्मग्रन्थ उन्हें ब्रम्हा के सिर से उत्पन्न मानते हैं।[246] ब्राह्मण कई उपवर्गों से बंटने लगे थे। उनमें अग्निहोत्री, अवस्थी, दीक्षित आदि वर्ग बन गये थे। यह विभाजन उनके धार्मिक कृत्यों के कारण हुआ था।[247] स्थान व जनपद भेद से भी ब्राह्मणों में गौड़, सारस्वत, कान्यकुब्ज, सरयूपारीण, महाराष्ट्रीय औदिच्य आदि भेद पाणिनि काल में ही हो गये थे।[248]

श्राद्ध, यज्ञ, धार्मिक कृत्य, वेदों और धर्मग्रन्थों का पठन-पाठन, दान आदि देना[249] और लेना भी उनका काम था। ब्राह्मणों को धार्मिक अवसरों पर भोजन कराना पुण्य का काम समझा जाता था। ब्राह्मणों को भोजन कराने की प्रथा अन्य वर्णों में थी।[250] लोग ब्राह्मणों को भोजनार्थ घर पर आमंत्रित करते थे, ब्राह्मण भी निमंत्रण की प्रतीक्षा करते थे। वाचक ब्राह्मण भोजन तैयार होते ही यजमान के घर जा धमकते थे।[251] पूर्वमध्ययुग में ऐसे ब्राह्मणों की संख्या में वृद्धि ही हुई होगी। शायद कुछ ब्राह्मण श्राद्ध भोजन नहीं करते थे।[252] सुरापान ब्राह्मणों के लिये निषिद्ध था। उसे राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक विशेषाधिकार मिले हुये थे।[253] वह अवध्य था।[254] हत्या आदि अपराध करने पर उसे मात्र प्रायश्चित ही करना पड़ता था। क्योंकि धर्म शास्त्रानुसार प्रायश्चित से पाप धुल जाते हैं।[255] परन्तु कुछ स्मृतिग्रन्थ[256] प्राणदण्ड व चोरी करने पर अंग-भंग का निर्देश देते हैं।[257] धार्मिक निर्देशानुसार ब्राह्मण, करों से मुक्त थे। राजा नरेशों को पुण्य व धार्मिक कार्य कराने के लिये राजपुरोहित के पद पर ब्राह्मणों को ही नियुक्त किया जाता था। उसे चारों वर्णों की स्त्रियों से विवाह करने की अनुमति थी।[258] धार्मिक विशेषाधिकारों के कारण ही उन्हें यह उच्च दर्जा प्राप्त था।

क्षत्रियों का स्थान समाज में दूसरा था। दान देना, वेदों का अध्ययन, विधि पूर्वक यज्ञानुष्ठान[259] और प्रजा की रक्षा हेतु शस्त्र ग्रहण करना उनका प्रमुख कार्य था।[260] मनु ने क्षत्रियों के पांच कर्म- प्रजारक्षण, वेद पठन, दान, यज्ञ और सांसारिक विषयों से विरक्ति- नियत किये थे।[261] परन्तु पूर्वमध्ययुग में क्षत्रियों में विलासिता का अभाव न था। क्षत्रियों का कार्य मुख्यतः सैनिक वृत्ति था। पूर्वमध्ययुग में प्रधानतया सेना क्षत्रियों की ही होती थी। फिर भी कई क्षत्रिय, सेवकों, भृत्यों से कृषि और पशुपालन का कार्य कराते थे।[262] इन्हें भी शास्त्रकारों ने क्षत्रियों के आपातकालीन कर्मों के अन्तर्गत रखा है। फिर भी सामन्त प्रथा के कारण कृषि योग्य काफी भूमि क्षत्रियों के पास थी। क्षत्रिय पुत्र मेमाक तो स्वयं खेती करता था।[263] यदि कुछ क्षत्रिय, व्यापार और अन्य शिल्पज्ञ का काम करते हों तो आश्चर्य नहीं।

धर्मानुसार वैश्यों का सामाजिक दर्जा तीसरे स्थान पर था। खेती, गो रक्षा एवं पालन और व्यापार, वैश्यों का धर्म (कर्तव्य) था।[264] ब्राह्मणों की आवश्यकता पूरी करना भी उनका धर्म था।[265] वैश्य जाति ने पूर्वमध्ययुग में कृषि कर्म छोड़ दिया था। वे अन्य व्यवसाय करने लगे थे।[266] खेतिहरों की गणना अब शूद्रों में होने लगी थी।[267] जैसे अलबीरुनी ने कई वैश्यों को खेती करते देखा था।[268] कालान्तर में वैश्य और शूद्रों में कोई अन्तर नहीं रह गया।[269] शास्त्रानुसार वेदों का अध्ययन वैश्यों के लिये निषिद्ध था। वेदाध्ययन करने पर उन्हें दण्डित किया जाता था।[270] वैश्य जाति भी कई उपजातियों में विभाजित हो गयी थी।[271] जैन धर्म के अनुयायी वणिकों की अपनी अलग जाति थी। वैश्यों के धार्मिक कृत्य ब्राह्मण पुरोहित द्वारा ही सम्पादित होते थे। वैश्य ऊन का जनेऊ धारण करते थे।[272] ब्राह्मण द्वारा निर्धारित अड़तालिस धर्म संस्कार वैश्यों को भी करने पड़ते थे।

धर्मशास्त्रों ने शूद्रों का स्थान अंतिम और चौथा निर्धारित किया था।[273] द्विजों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों की सेवा तथा सब प्रकार की शिल्प रचना शूद्रों का धार्मिक कर्तव्य था।[274] उन्हें वेदाध्ययन, ईश प्रार्थना, होम, हवन आदि से वंचित रखा गया था पर ईश्वर भक्ति, धार्मिक कर्म और दान आदि उनके लिये वर्जित न था।[275] वैसे गीता ने भक्ति के द्वार सभी प्रकार के पापयोनि वाले शूद्रों, वैश्यों और स्त्रियों के लिये खोल दिये थे।[276] और उसे ही आधार बनाकर पूर्वमध्ययुगीन दक्षिण भारतीय आलवार- नायनार संतों ने जाति बंधनों का विरोध किया। आचार्य रामानुज ने शूद्र और अंत्यजों को मन्दिर प्रवेश की अनुमति दी थी।[277] परन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के रूढ़िवादी संकुचित दृष्टिकोण ने शूद्र को ब्राह्मण से श्रेष्ठ माना और शूद्र द्वारा प्रदत्त चावल को पकाकर खाने की अनुमति ब्राह्मण को दी है। अन्त्यजो की स्थिति और भी निचले स्तर पर थी। वे पूर्णतया 'अस्पृश्य' माने जाते थे। चांडाल, फक्कस, भिल्ल, पारधी, केवट, बहेलिये, कसाई, राजक (धोबी) आदि अस्पृश्य जातियां थीं।[278] समाज में अनुलोम- प्रतिलोम विवाहों के कारण कई वर्णसंकर संताने हो गयी थीं और इनके बारे में धर्मशास्त्रों में विधान कर दिया गया था।

सामाजिक रीति-रिवाज, जातियों के आपसी सामाजिक व्यवहार यहां तक कि व्यक्तिगत आचार विचार भी धर्म द्वारा निर्देशित होने लगे थे। विवाह धार्मिक कृत्य

था। रजोदर्शन होने पर तुरन्त कन्यादान न करने पर नरकवास मिलता था।[279] कन्यादान के समय किये जाने वाले कर्मकांड का विधान धर्मशास्त्रों ने कर रखा था।[280] ये विधान सभी जातियों और वर्णों के लिये अनिवार्य थे। अनुलोम प्रतिलोम हेय दृष्टि से देखे जाते थे। परन्तु उनके लिये भी धार्मिक नियम बना दिये गये।[281] मेघातिथि ने तो कन्या के विवाह की आयु भी निश्चित कर दी थी। सगोत्र[282] और सपिंड[283] विवाह धर्मानुसार वर्जित थे। पूर्वमध्ययुग में व्यवहारिक स्तर पर कई बातें धर्म विरुद्ध भी हुई। धर्मशास्त्रों ने अक्सर सदैव एक पत्नीत्व की शालीनता का समर्थन किया।[284] परन्तु पूर्व मध्ययुगीन नरेशों ने कभी भी इनका पालन नहीं किया।[285] अधिकांश युद्ध पृथ्वीराज चौहान ने पत्नियों की प्राप्ति हेतु लड़े। चेदिराज गांगेयदेव ने अपनी सौ रानियों के साथ प्रयाग में मुक्ति हेतु स्नान किया था।[286] तत्कालीन, साहित्य ग्रंथ, 'नवसाध्सांक चरित्र', विक्रमांक देव चरित्र', कथा सरित्सागर आदि बहुपत्नीत्व के उदाहरणों से भरे पड़े हैं। इन विवाहित पत्नियों के अलावा अनेक उपपत्नियों, दासियों, वेश्याओं से सम्बन्ध रखना भी सामान्य बात थी। 'कुट्टनीमतम', इसका ज्वलंत उदाहरण है। राजघरानों ने काम लिप्सा, शौर्य लिप्सा और संतान लिप्सा से प्रेरित होकर ही इसे अपनाया था, वरना वसा जनसाधरण एक पत्नीत्व के आदर्श को ही मान्यता देता था।

धर्म ने व्यक्तिगत व्यवहार और आचार का भी निर्धारण क़र दिया था। धर्मशास्त्रों ने खाद्य और अखाद्य वस्तुओं का विश्लेषण, स्नान के नियम, बड़ो के प्रति आदर, उदय और अस्त के समय सूर्य दर्शन का वर्जन, भार से लदे व्यक्ति, गुरुजनों तथा गर्भिणी को मार्ग देने, नग्न स्त्री, कुआं आदि न देखने, हत्या स्नान, भस्म तथा घृणित वस्तुओं को न लांघने आदि, समग्र व्यवहार की बातों को भी धर्म की सीमा-रेखाओं में बांध दिया था।[287] पति पत्नी के व्यक्तिगत संबंध भी धर्म द्वारा शासित थे।[288] मृत्यु पर किया जाने वाला अशौच दाह संस्कार एवं पिडंदान के कर्तव्यों का सीमांकन हो गया था।[289] इसके बाद भी श्राद्ध पक्ष में पितृ देव का श्राद्ध करना जरूरी रहता था।[290] श्राद्ध भोजन हेतु ब्राह्मण आमंत्रित किये जाते थे।[291] मूर्तिपूजा के प्रचार ने प्रत्येक घर में देवालय की स्थापना कर दी थी। पतंजलि काल से ही देव-मूर्तियां बनाकर बेची जाने लगी थी,[292] जिन्हें घर ले जाकर लोग

पूजा आदि करते थे। व्रत उपवास, दान-धर्म, ग्रह नक्षत्रों की शांति हेतु उनका पूजन, महापातक, गुप्त पापों के प्रायश्चित, पापनाशक स्तोत्रों का पठन, प्रायश्चित, प्रतिपदा से चतुर्दशी तक के व्रत, उपवास आदि नियत कर दिये गये थे।[293] देव-प्रतिमाओं की प्राण-प्रतिष्ठा संबधी नियम, प्रतिमाओं के लक्षण पुरातन मन्दिरों व देव मूर्तियों के जीर्णोद्धार सम्बन्धी विधियां, ध्वजारोहण आदि ऐसा कोई विषय न बचा था जिसे धर्म ने स्पर्श न किया हो।[294] फलस्वरूप समस्त जीवन, धर्म की लक्ष्मण रेखाओं से घिर गया था।

धर्म के निदेशक तत्वों ने पूर्व मध्ययुग में रूढ़ियों का रूप धारण कर लिया था। दैनिक चर्या में बाह्य आडम्बर, पाखण्ड, जड़ पूजा, जांत-पांत के भेद तथा जन्मना का ब्राह्मणों का वर्चस्व सर्वथा अनुचित था। समाज के प्रतिघातक, आतंक, अंधविश्वासों आदि अनेक पतन की ओर ले वाली परम्पराओं की दिनोदिन वृद्धि हुई। सामाजिक शरीर, इन अंध परम्पराओं के जाल में इतना जकड़ गया कि वह विचार, कर्म और विश्वास की स्वतंत्रता, बड़ी सीमा तक खो बैठा।[295] धर्म ने जनसाधारण को पारलौकिक चिंताओं से अधिक ग्रसित कर रखा था। इस कारण वे कलियुग की हीनता में विश्वास और अपने वर्तमान एवं भविष्य में अनास्थावान हो गये थे। इसने दैववाद अथवा 'भाग्यवाद' के सिद्धान्तों को समाज में स्थान देकर मानव व्यक्तित्व व पुरुषार्थ को दबा दिया।[296] फलित ज्योतिष में अनुचित आस्था ने मानव की क्रिया शक्ति को शिथिल कर दिया। धर्म ने सामाज़िक विखराव को ही जन्म दिया। उसने राष्ट्रीय व राजनीतिक चेतना को कुंठित कर दिया।

पूर्वमध्ययुगीन अर्थव्यवस्था में धर्म की छाप-

सभी वर्णों के लोगों के व्यवसाय एवं आर्थिक कार्यों का निर्धारण भी धर्मशास्त्रों ने कर दिया था। ब्राह्मणों का प्रमुख काम वेदाध्ययन और पठन-पाठन था। प्रत्येक ग्राम में पुरोहित का पद ब्राह्मणों के पास ही रहता था। उन्हें राजसभा की ओर से जीवन निर्वाह वृत्ति के रूप में दान, दक्षिणा, उपहार आदि मिलता था।[297] धार्मिक कृत्य और पुण्य कार्य कराने से जो आय होती थी, वही उनकी जीविका का साधन थी।[298] पूर्वमध्यकाल में भी वे यही कार्य करते थे।[299] देव मन्दिरों के प्रमुख कर्ता-धर्ता ब्राह्मण ही होते थे। उन्हें राजा, नरेशों की ओर से ग्राम, स्वर्ण

मुद्रायें आदि दान में मिलती थीं।[300] अतः वे सेवकों द्वारा खेती कराते थे। ग्रामवासी भी ग्राम देवालय के ब्राह्मण पुरोहित को दान आदि द्वारा खुश रखते ही होगें। यज्ञ, हवन, धार्मिक कृत्य, विवाह, उपनयन, श्राद्ध, पिंड दान आदि करना उनके मुख्य कर्तव्य थे। अन्य आपातकालीन कार्य भी धर्मशास्त्रों ने उन्हें करने की अनुमति दी थी।

ब्राह्मणों को व्यापार की अनुमति नहीं दी गयी थी।[301] परन्तु अलबीरुनी ने कई ब्राह्मणों को व्यापार करते देखा था। इस काम में ब्राह्मण, वैश्य की सहायता ले सकते हैं। उन्हें घोड़, गाय आदि पशुओं का व्यापार नहीं करना चाहिये।[302] परन्तु महोबा अभिलेख से पता चलता है कि भट्टवाहक का पुत्र घोड़ी का व्यापार करता था।[303] ब्राह्मण को ब्याज के धंधे की अनुमति भी दी गयी थी।[304] अनेक ब्राह्मण राजसेवा भी करने लगे थे।[305] वे मंत्री, नगर मुख्य,[306] कायस्थ (लेखक) दण्डनायक, आदि का काम भी करते थे। शिवरत्न नामक ब्राह्मण ने कायस्थ (लेखक) का कार्य स्वीकार किया था।[308]

पूर्वमध्ययुग में ब्राह्मणों मे न केवल सैनिक-वृत्ति अपना ली थी, वरन् राज्यों का निर्माण भी किया था। दक्षिण भारत का वनवासी का कदंब वंशी राज्य मानव्य गोत्रीय ब्राह्मण था। वनवासी को राजधानी बनाकर राजा मयूरशर्मा ने इसकी स्थापना की थी।[309] काश्मीर नरेशों की सेना में कई ब्राह्मण सैनिक थे, जिन्होंने युद्ध में भाग लिया था।[310] चंदेलराज परमर्दि ने मदनपाल वर्मन को अपना सेनापति नियुक्त किया था।[311] वैसे यह आपातकालीन कार्यो में आता है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ब्राह्मण अन्य व्यवसायों को भी करने लगे थे।[312]

क्षत्रियों का कार्य मुख्यतः सैनिक वृत्ति था। पूर्वमध्ययुग में प्रधानतया सेना क्षत्रियों की ही होती थी। फिर भी कई क्षत्रिय, सेवकों-भृत्यों की सहायता से कृषि और पशु-पालन का कार्य भी करते थे। इन्हें भी शास्त्रकारों ने क्षत्रियों के आपातकालीन कर्मों के अन्तर्गत रखा है।[313] फिर भी सामंतप्रथा के कारण कृषि योग्य काफी भूमि क्षत्रियों के पास थी। क्षत्रिय-पुत्र मेमाक तो स्वयं खेती करता था।[314] यदि कुछ क्षत्रिय, व्यापार और अन्य शिल्पज्ञ का काम करते हों तो आश्चर्य नहीं।[315]

व्यापार, कृषि, पशुपालन और खेती का व्यवसाय वैश्यों के हाथ में था।[316] गीता ने भी वैश्यों को यही काम करने की अनुमति दी थी।[317] परन्तु वैश्यों ने

कृषि कर्म बन्द कर दिया था। वे अन्य व्यापारिक कर्मों में लग गये थे।[318] फिर भी वे तेल, नमक, मद्य, शहद, मांस, दूध आदि का व्यापार नहीं करते थे। यदि तिल, उनके खेत में उत्पन्न हुआ तो वे उसे बेच सकते थे।[319] कई वैश्य ब्याज व लेन देन आदि का धंधा भी करते थे। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों से प्रसिद्ध वस्तुओं का आयात-निर्यात भी वैश्य वर्ग के पास ही रहा होगा।

शूद्रों को शिल्प रचना का कार्य दिया गया था।[320] उन्हें कृषि कर्म से वंचित रखा गया था।[321] परन्तु कई शूद्र इस कार्य को करते थे।[322] कृषि एक ऐसा व्यवसाय बन गया था कि सभी वर्गों के लोग इसे करने लगे थे।[323] शूद्र सेवक, भृत्य, पशु चराने और ब्राह्मण, क्षत्रियों, वैश्यों की ओर से काश्तकार का काम भी करता था।[324] व्याध (बहेलिये) शौति (कसाई), शाकुनिक (चिड़ीमार), भृगयु (शिकारी) कैवर्त (केवट) रजक (धोबी) आदि के काम अस्पृश्यों को सौंप रखे थे। अन्त्यजों में ही चमड़े का काम करने वाले विग्वण (चमार) भी थे।[325] बांस की टोकरी और ढाल का काम करने के व्यवसाय को अन्त्यजों को ही सौंप रखा था।[326] बंजारा, बुनकर, हाडी, चांडाल आदि का काम करने वाले भी थे।[327] नट, बाजीगर शिल्पज्ञ आदि का काम भी होता था। इस काल के भव्य मन्दिर वास्तुकारों की श्रेष्ठता के परिचायक हैं।[328] कई ब्राह्मण मूर्तिकार[329] और अभिलेखों[330] के निर्माता थे। धन्धे और व्यवसाय अक्सर कुलक्रमानुगत थे।[331] यद्यपि धर्मशास्त्रों ने जातिगत व्यवसायों का निर्धारण कर दिया था, फिर भी व्यावहारिक रूप में लोग उनके निर्देशों का उल्लंघन कर रहे थे।

देश की आर्थिक समृद्धि के कारण ही सोमनाथ, मथुरा, कन्नौज, महाबलिपुरम के मन्दिरों में प्रचुर मात्रा में स्वर्ण, रत्नादि एकत्र हो गये थे। मोक्ष की चिंता से ग्रसित समाज के सभी वर्गों ने इन मन्दिरों को अपनी क्षमतानुसार दान देकर इन्हें आक्रमण का केन्द्र बना दिया था। धर्म के निर्देशानुसार शिल्पकला तथा कौशल शूद्रों और अन्त्यजों के हाथ में चले जाने से ये कभी भी व्यवसायहीन न रहे और आय अच्छी होने से ये साधन सम्पन्न अवस्था में थे। विदेशी यात्रियों का यह कथन भ्रामक है कि भारत का दलित वर्ग शूद्र, अन्त्यज दीन-हीन अवस्था में था।[332]

तद्युगीन कला में धर्म की छाप-

कला अपने युग धार्मिक सामाजिक और साहित्यिक मनोवृत्तियों का मूर्त रूप होती है। पूर्वमध्यकालीन कला इसका उदाहरण है। वह पूर्णरूपेण इस युग की धार्मिक भावनाओं पर आधारित थी।[333] इस युग में धर्म की प्रधानता थी। इसलिये देवस्थानों के निर्माण के लिये सामान्य लोगों के राजा तथा सामंतों ने उदारतापूर्वक दान दिया और कलाविदों तथा शिलाविदों ने अपने कला चातुर्य से उसे भव्य-दिव्य और अपूर्व बनाने में अपना योगदान दिया।[334]

पूर्वमध्ययुगीन कला ने अपने युग की धार्मिक आवश्यकताओं के अनुरूप नये प्रतिमान कायम किये। खजुराहो, कोणार्क, पुरी भुवनेश्वर ही नहीं मालवा में ऊन के मन्दिरों में भी रति-मूर्तियों को व्यापक पैमाने पर उत्कीर्ण किया गया था। लेखिका को खंडवा में भी इस प्रकार की मूर्तियों का वलय देखने को मिला है। हिन्दू बौद्ध ही नहीं वरन जैन कला भी इससे अछूती न थी। धर्म और काम कला के समन्वय ने आधुनिक कला प्रेमियों और इतिहास के चाहने वालों को आश्चर्य में डाल दिया है।

ऐतिहासिक धार्मिक दृष्टि से अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष भारतीय सांस्कृतिक जीवन के अनिवार्य पहलू हैं। जीवन इसी सत्य-चतुष्टय पर आधारित है।[335] पूर्वमध्यकाल में धर्म ने अर्थ, समाज सबको आच्छादित कर लिया था। साथ ही इस युग में बौद्धों, हिन्दुओं में शाक्त व तांत्रिक पद्धतियों का व्यापक पैमाने पर धार्मिक क्षेत्र में प्रचार हो रहा था।[336] हीनयान ने शीघ्र ही महायान को स्थान दिया। पूर्वमध्ययुग तक वज्रयान और उससे सम्बन्धित मंत्रयानी बौद्धों ने सिद्धि प्राप्ति के लिये हठयोग और नारियों का सहारा लिया। फतलः सिद्धों ने विहारों, मठों में मंत्रों और हठयोग के साथ मैथुन को प्रश्रय दिया।[337] प्रज्ञा तथा उपाय क्रमशः नारी, मुद्रा, भगवती, वज्रकन्या, युवती में बदल गये।[338] परिणामस्वरूप वज्रयानी बौद्ध सिद्धों ने पत्नी, माता, पुत्री और बहन में भी कोई भेद न रखा।[339]

जहां एक ओर बौद्धों से सम्बन्धित सिद्धों ने भोग और लिप्सा की भावना को अपनाया वहीं हिन्दुओं से सम्बन्धित शाक्त-शिव-तंत्र पद्धति में भी इसका स्वतंत्र

रूप से विकास हुआ परन्तु वह भी सिद्धों का पर्यायवाची ही थी।[340] हिन्दू-शैवों-शाक्तों में वह शिव शक्ति का रूप लेकर आयी।[341] कालमुख और कापालिक सम्प्रदायों और नाथों ने इसे हो बढ़ावा ही दिया। समयुगीन साहित्य-ग्रन्थों में भी हमें इसकी प्रतिध्वनि, दृष्टिगोचर होती है। कृष्ण मिश्र का नाटक 'प्रबोध-चंद्रोदय' और 'कुट्टनीमतम्' की विलासिता इसी की कड़ी थे।

यद्यपि जैन धर्म में व्यापक स्तर पर इसका प्रचार न था, परन्तु वह भी इससे अछूता न बचा था। उसमें भी कई गुह्य प्रवृत्तियां घर करने लगी थी।[342] निर्वाण को एक सुन्दरी मान लिया था जिसे सभी पाने की इच्छा करते थे। शून्यता का भाव स्वीकार कर लिया गया था। समृद्धिशाली जैन समाज का स्वयं का जीवन विलासमय था। उन्होंने कई चैत्यों, जिनालयों को अभूतपूर्व राशि दान में दी थी। वे नृत्य, संगीत आदि का आनन्द उठाने लगे थे।[343] अनेक जैन साधु आनन्द मनाने पर दारा के साथ भोग विलास में ही मोक्ष ढूंढने लगे थे।[344] अतः रति-विषयक प्रवृत्तियां जैन मन्दिरों में प्रगट हुई हों तो आश्चर्य नहीं।

मन्दिरों से संबद्ध देवदासी की प्रथा को भी धार्मिक मान्यता मिली हुई थी।[345] इसने देवालयों की वेश्यावृत्ति को जन्म दिया।[346] धार्मिक स्तर पर देवदासियों के मुख्य काम देव मन्दिर में नृत्य, गायन और काम क्रीड़ा थे, जिसे समाज में निदंनीय नहीं माना जाता था।[347] गुजरात के मन्दिरों में बीस हजार से अधिक देवदासियों व नर्तकियां थीं।[348] जब मन्दिरों में काम क्रीड़ा को धार्मिक मान्यता मिल गयी तो फिर कला उससे कैसे अछूती रह सकती थी। देवालय, आराधना के स्थान पर काम लिप्सा, कामनियों के श्रृंगारपूर्ण पायलों की रुनझुन और कामोद्दीपक नयन-कटाक्षों का स्थल बन गये थे। वे काम मन्दिर व काम शास्त्र की शिक्षा का केन्द्र हो गये। शिल्पकार इन सम-सामयिक प्रवृत्तियों से बच न सका।

काम वैसे भी भारतीय कला में अस्पृश्य नहीं माना गया था। भारतीय साधना के सम्प्रदायों में उसका अपना स्थान रहा है। सांची, अमरावती, मथुरा की कला के तारतम्य में ही एलोरा के कैलाश मन्दिर को देखा जा सकता है। कोणार्क-खजुराहो तो उसकी अगली कड़ी थे। एलोरा के शिव पार्वती की मैथुनी मुद्रायें, मैथुन

साधना का निर्माणात्मक स्वरूप ही प्रस्तुत करती हैं। उसे पूर्वमध्ययुगीन धर्म व समाज ने एक सामान्य व आवश्यक जीवन गति के रूप में ही स्वीकार कर लिया था।[349] राजा, सामंतों का व्यक्तिगत जीवन तथा उसके द्वारा शासकीय मान्यता विशेषकर धर्म की सम्मति की अभिव्यक्ति उस काल की कला में स्पष्ट दिखायी देती है।

दसवीं शताब्दी से नये ब्राह्मण धर्म अथवा पौराणिक धर्म की बहुत उन्नति हुई। इस काल में अनेक धार्मिक ग्रन्थ बने जिनमें असंख्य विधियों और संस्कारों का वर्णन था। तथा हिन्दुओं के लिये नियम और आदेश थे जिसे प्रत्येक हिन्दू को जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त बिना तर्क किये मानना आवश्यक था। उनको विचार तथा कर्म की तनिक भी स्वतंत्रता नहीं छोड़ी गयी और जीवन को निर्जीव नियमों से बिल्कुल जकड़ दिया गया। हिन्दू धर्म अपने ही बनाये हुये कठिन कठघरे में बन्द होकर संकुचित हो गया, विदेशियों से सम्बन्ध तोड़ लिया, हिन्दू समाज के जाति पांति के भेदों के कारण अनगिनत टुकड़े हो गये और इनकी संख्या निरन्तर बढ़ती गयी। सातवीं शताब्दी तक विदेशियों को नीच नहीं समझा जाता था और अपने समाज में मिला लिया जाता था। जाति पांति का बन्धन दृढ़ न था, श्रमिकों से घृणा नहीं की जाती थी, न उनका समाज से बहिष्कार किया जाता था और न समाज के किसी अंग से धार्मिक ग्रन्थों के पढ़ने और सुनने के प्राकृतिक अधिकार छीन लिये गये थे। दसवीं शताब्दी में यह सब कुरीतियाँ हिन्दू धर्म का प्रधान अंग बन गयी। वह गतिशील और जीवित जागृत समाज जिसमें अन्य जातियों को अपने अन्दर समाविष्ट करके एक समान बना लेने और विकसित होने की शक्ति थी, सर्वथा निर्जीव तथा शिथिल हो गया। उसकी गति और विकास की शक्ति नष्ट हो गयी। सब प्रकार के उल्टे सिद्धान्तों की यह दूषित उलझन थी जो हिन्दू समाज पर घोर घटा बनकर छाई थी जिसने समस्त हिन्दुओं को राजा से लगाकर गरीब किसान तक को विवेक और ज्ञान के प्रकाश तथा जीवन प्रदान करने वाली सूर्य की ज्योति से वंचित कर दिया था। इसी धर्म ने उस समय के हिन्दू को उन्नतिशील विचारों और कार्यों के अयोग्य बना दिया था। अनेकों बंधनों के साथ-साथ देश की पवित्र भूमि से बाहर जाने पर रोक लगाकर उन्होंने राष्ट्रीयता और सभ्यता की आत्महत्या कर डाली

थी। आठवीं शताब्दी तक देश की सीमा पार करने पर कोई प्रतिबन्ध न था और आर्यावर्त के प्राचीन शासकों ने विदेशियों को मारकर मध्य एशिया तक भगा दिया था। इसके प्रतिकूल राजपूतों को तो सीमान्त प्रदेशों तक भी जाने की मनाही थी। वहां जाने से उनकी जाति चली जाती थी। ऐसी अवस्था में उनको देश की प्राकृतिक सीमाओं का ज्ञान हो ही किस प्रकार सकता था ? उनमें उनको आकर्षण ही क्या हो सकता था और उनके विषय में वह रक्षात्मक व आक्रमणकारी नीति भी कैसे निर्धारित कर सकते थे। स्कन्दगुप्त, यशोवर्मन और राज्यवर्धन के दिन बीत चुके थे और उनको भुला दिया गया था। सबसे पृथक रहने की इस सर्वनाशी नीति की उत्पत्ति का विशेष कारण यह था कि हिन्दुओं को श्रमणों से दूर रखा जाय जो मध्य एशिया और उत्तर पश्चिम के पर्वतीय प्रदेशों में सिन्ध तक फैले हुये थे। प्रतिक्रिया करने वाले हिन्दू धर्म के इन ठेकेदारों ने अदूरदर्शिता के कारण तनिक भी विचार नहीं किया कि उनकी यह नीति देश के लिये कितनी अहितकर होगी।

इस नीति का दूसरा फल यह हुआ कि हिन्दुओं को सिखलाया गया कि दूसरे देश अपवित्र है और वहां के रहने वाले म्लेच्छ है। छठीं शताब्दी में वराह मिहिर यूनानियों की विद्वता देखकर इतना प्रभावित हुआ था कि उनको ऋषियों का पद दिया था। बहुत से चीनी विद्वानों और यात्रियों का बड़े आदर और सत्कार से स्वागत किया जाता था। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में अलबेरुनी शिकायत करता है कि 'हिन्दुओं का विश्वास है कि उनके देश जैसा देश नहीं, उनके राष्ट्र के समान राष्ट्र नहीं और उनके विज्ञान के समान विज्ञान नहीं...... उनके पूर्वज इतने ओछे विचार के न थे जितने वर्तमान काल के हिन्दू हैं।[350] श्रेष्ठता के अपने इस झूंठे दावे के कारण ही भारत अन्य देशों से पृथक हो गया। जाति को पवित्र रखने के अंधविश्वास ने हिन्दुओं को इस बात के लिये असमर्थ बना दिया कि जो लोग बाहर से आकर यहां बस गये थे उनको अपने में मिला लेते। यह बहुत सरल हो गया कि कोई व्यक्ति हिन्दू धर्म छोड़ दे या एक अत्यन्त तुच्छ बात पर हिन्दू जाति से अलग कर दिया जाय। परन्तु यह असम्भव हो गया कि जो व्यक्ति विदेशियों द्वारा बंदी हो गया, वह पुनः हिन्दू जाति में प्रवेश कर सके चाहे वह कैसा भी वीर और देशभक्त क्यों न हो और उसने अपना सारा जीवन हिन्दू जाति के लिये

क्यों न न्योछावर कर दिया हो। संक्षेप में सर्वसाधारण के लिये धर्म का सार खाने, पीने, उपवास करने, ब्राह्मण को दान देने उनको भोजन कराने और तीर्थयात्रा करने आदि के जड़तापूर्ण नियमों के पालन मात्र में रह गया। जैसा कि अधिकांश लोगों का विचार है ऐसा सोचना भूल है कि यदि जाति-पांति के बंधन इतने कड़े न होते तो हिन्दू जाति को मुसलमान हड़प कर जाते। यह तो माना जा सकता है कि हिन्दू जाति ने अछूत प्रथा इत्यादि धर्म के कट्टर बंधनों की एक अभेद्य दीवार अपने चारो ओर बना ली थी परन्तु इस दीवार के अन्दर हिन्दू समाज अस्थिपंजर के रूप में कायम रह सका न कि एक उन्नतिशील जीव की भांति।

हिन्दू समाज के पतन का यहीं अन्त नहीं हुआ। उसका प्रत्येक दिशा में पतन हो रहा थां इस पतन की ध्यान देने योग्य बात यह है कि कला, साहित्य, विज्ञान और शिक्षा सम्बन्धी मनुष्य के जितने प्रयत्न थे, सबके सब कड़े नियमों और रीति-रिवाजों के बंधनों में जकड़े हुये थे। जिन्हें तोड़ने व उनसे परे हटने की किसी को न आज्ञा थी न साहस था। अन्य मतों के प्रति बिल्कुल सहिष्णुता न थी इतना ही नहीं धार्मिक पतन उस काल में अपनी चरम सीमा तक पहुंच गया जब वाममार्गी सम्प्रदाय कई रूपों में प्रकट हुआ। महायान से वज्रयान, शैव से पाशुपत और कापालिक तथा वैष्णव मत से गोपी लीला आदि सम्प्रदाय उदित हुये। इन वर्गों ने अनेकों ग्रन्थ बनाये जो उनकी आत्मिक उन्नति के लिये अनेकों रूपों में काम वासना की तृप्ति के समर्थन में थे। साहित्य और कला पर उनका बहुत प्रभाव पड़ा। उत्तर राजपूत काल में बने हुये मन्दिरों में जो पत्थर को काटकर भ्रष्ट चरित्र की मूर्तियां प्रदर्शित हैं, उनसे प्रकट है कि धर्म के नाम पर शिक्षित समाज ने भी किस प्रकार इन अश्लील और दूषित चित्रों को स्वीकृत कर लिया था। वज्रयानियों और शाक्तों का शक्ति पूजा का साहित्य तथा भागवत पुराण जिसमें कृष्ण और गोपिकाओं की प्रेम लीलाओं का वर्णन है हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थ बन गये। इसी काल में अनेकों मन्दिरों को अश्लील चित्रों से सजाया गया। पुरी का मन्दिर और खजुराहों का महादेव का मन्दिर इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। साहित्य में भी उन्हीं भावों और चेष्टाओं को दर्शाया गया है जैसे जयदेव कवि का गीत गोविन्द नामक प्रेमकाव्य। जय देव लक्ष्मणसेन का (बारहवीं शताब्दी के अन्त में) दरबारी कवि था। जिसने राधाकृष्ण की लीलाओं

को अपने काव्य में चित्रित किया है। मन्दिरों में देवदासियों की प्रथा तथा उनके अन्दर अन्य प्रकार के दुराचारों का बढ़ना इसी के फलस्वरूप है और यह सब कुरीतियां हिन्दू धर्म के नाम पर पवित्र मान ली गयी। इस भांति हिन्दू समाज रूढ़ियों, संस्कारों व विधि-विधानों के नीचे दब गया और उसमें गति और विकास का अन्त हो गया।

उपर्युक्त चित्र से ऐसा लगने लगा कि आने वाला भविष्य अंधकारमय होगा और वास्तव में था भी ऐसा ही क्योंकि भविष्य में देश को उसके दुष्परिणाम भोगने पड़े, परन्तु उसका एक प्रकाशमान पहलू भी था। धार्मिक क्षेत्र में बहुत समय पहले से ही महात्माओं के दो वर्ग दक्षिण में सुधार आन्दोलन कर रहे थे। शैव महात्मा नयनार और वैष्णव आलवार कहलाते थे। दोनों बौद्ध धर्म के विरोधी थे और दोनों ने भक्ति का उच्च कोटि का प्रेरक साहित्य निर्माण किया। यह साहित्य उन भक्तों के उस आध्यात्मिक अनुभव विश्वज्योति के सम्मुख हर्षतिरेक के उस अनुभव का वास्तविक विवरण है जबकि उनको ईश्वर के दर्शन हुये। दक्षिण में इस साहित्य का इतना ही आदर है जितना उत्तर में वेदों का।

कुमारिल और शंकर द्वारा सामाजिक परिवर्तन-

आठवीं और नवीं शताब्दी में दो महान व्यक्तियों का अवतार हुआ था, जिन्होंने हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान तथा बौद्ध धर्म का संहार किया। कुमारिल, जो सम्भवतः उत्तर भारत का ब्राह्मण था, बौद्धों का कट्टर विरोधी था, जिन्होंने वेदों की सत्ता को मानने से इंकार कर दिया था। अपनी अद्‌भुत तर्क शक्ति द्वारा उसने वेदों की सत्ता और उसमें बतलाये हुये कर्मकाण्डों का पुनरुद्धार किया। उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य जैमिन की पूर्व-मीमांसा पर टिप्पणी है जिसमें उसने वेदों की व्याख्या और ज्ञान के सिद्धान्तों का विशद अध्ययन किया है। इस प्रकार शंकराचार्य ने हिन्दू धर्म के तत्व ज्ञान का जो भवन निर्माण किया उसकी नींव कुमारिल ने डाली थी। यद्यपि शंकराचार्य ने कुमारिल के ग्रन्थों पर यह टिप्पणी की कि उसने संस्कार विधियों पर अधिक जोर दिया था, फिर भी उसका कार्य अत्यन्त सराहनीय था कि उसने वेदों का पुनरुद्धार करके हिन्दू धर्म की अनुपम सेवा की, शंकराचार्य मलाबार का नाम्बूद्री ब्राम्हण था। उसने बचपन से ही सन्यास ले लिया था। उसने तत्व ज्ञान

पर जो ग्रन्थ लिखे वह संसार में मानव विचार के उत्कर्ष की चरम सीमा समझे गये उसने सबसे प्रथम अद्वैत तथा माया के मौलिक सिद्धान्त का प्रतिदान किया। शंकर के यह सिद्धान्त हिन्दू धर्म चिन्तन के मौलिक स्रोत वाद्रायण व्यास के ब्रह्मसूत्र, दस उपनिशद और गीता, इन तीनों पर आधारित हैं। शंकर ने इन तीनों पर टीका लिखी है। इस प्रकार शंकर ने जिस सिद्धान्त की प्रस्थापना की वह हिन्दू धर्म की दार्शनिक पृष्ठभूमि बन गया। कुमारिल की भांति शंकराचार्य ने भी देश भर में पर्यटन किया और देश के एक छोर से दूसरे छोर तक बौद्धमत के सिद्धान्तों के विरुद्ध प्रचार किया। इस प्रकार लोगों में पुनः वैदिक धर्म के प्रति श्रद्धा पैदा करने का श्रेय कुमारिल और शंकराचार्य को है, यद्यपि जैसा कि हम देख चुके हैं, ब्राह्मणों का यह नवीन मत प्राचीन वैदिक धर्म से भिन्न था। शंकराचार्य ने केवल तत्वज्ञान ही नहीं बतलाया वरन हिन्दुओं को तांत्रिक पूजाओं से उबारकर उपासना और भक्ति का सीधा सादा मार्ग दिखलाया। शंकराचार्य ने अपने उपदेशों को सुरक्षित रखने और उनकी वृद्धि के लिये देश के चारो कोनों में चार पीठों (केन्द्रों) की स्थापना की- पूर्व में पुरी, उत्तर में बद्री, केदार, पश्चिम में द्वारिका और दक्षिण में श्रृंगेरी जो उसकी आध्यात्मिक दिग्विजय के स्मारक थे। उसने अपनी शिक्षा के प्रचार के लिये सन्यासियों का एक संघ भी बनाया। शंकर की आध्यात्मिक विजय को दिग्विजय कहना अधिक उचित है। यह राजाओं की दिग्विजय से कहीं महत्वपूर्ण विजय थी।

उक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल में भारतीय समाज का प्रत्येक पहलू धर्म से इतना अधिक अनुप्राणित था कि धर्म के क्षेत्र में थोड़ा सा भी परिवर्तन आने से समाज में कोई न कोई कम्पन अवश्य हो जाता था। इन्हीं संक्रमणकालीन अवस्थाओं में भारतीय समाज को वैदेशिक धावों को भी झेलना पड़ा जिससे धार्मिक कट्टरतायें और बढ़ी। जैसे-जैसे धार्मिक कट्टरता का शिंकजा कसता चला जा रहा था, सामाजिक परिवेश भी घुटन भरी जिन्दगी जीने के लिये विवश होता जा रहा था। व्यक्ति और समाज को नियंत्रित करने वाली वर्ण, जाति, आश्रम एवं पुरुषार्थ जैसी अनेकानेक व्यवस्थायें धर्म के परिवर्तनकारी स्वरूप के समक्ष बौनी हो जाया करती थीं। इसलिये ये सभी सामाजिक मान्यतायें परिवर्तन के लिये मजबूर भी हो जाती थीं। अतएव यह कहा जा सकता है कि पूर्वकालीन धार्मिक स्थितियों

ने भारतीय सामाजिक परिवर्तन की दिशा को बहुत कुछ प्रभावित किया।

अधीतकालीन विभिन्न धर्मों ने पूर्व मध्यकाल की सामाजिक प्रक्रिया को बहुत हद तक प्रभावित किया। इस युग में राजाओं व सामंतों द्वारा पुरोहितों को अधिकाधिक दान दिये गये जिनके माध्यम से वह मोक्ष एवं सुरक्षा की कामना करते थे। लेकिन धर्म की इस कोठरी के भीतर ऊँच-नीच की भावना अत्यन्त प्रबल थी व आपस में एक दूसरे की दूरियां बहुत बढ़ गयीं थीं। जैसा कि वृहद्धर्मपुराण[351] में स्पष्टतया उल्लिखित है कि बौद्ध शैव एवं शाक्त मंत्रिक परम्पराओं ने वर्णाश्रम धर्म को बहुत अधिक प्रभावित किया और बंगाल तथा उसके आसपास के इलाकों में वर्णाश्रम धर्म की स्थिति नाजुक बना दी। शूद्र, चंडाल, एवं पुक्कवश जैसी अधम जातियों को पूजा की छूट प्रदान करके अधीतकालीन धर्म ने प्राचीनकाल की मान्यताओं को तोड़ दिया। जैसा कि देवी पुराण से स्पष्ट है कि योग्य शूद्र अयोग्य उच्च कुलीन व्यक्ति से अच्छा होता है। इस प्रकार शाक्त तांत्रिक परम्पराओं ने सामाजिक व्यवस्था में जबरदस्त बदलाव किया।

दूसरी तरफ शूद्रों को आर्थिक गतिविधियों से मजबूती से जोड़ दिये जाने के कारण समाज में उनकी हैसियत वैसे भी महत्वपूर्ण हो गयी थी। उस पर धर्म का यह लचीला रुख आग में घी का काम करने वाला हुआ शायद इन्हीं परिस्थितियों से घबड़ाकर पराशर जैसे स्मृतिकारों ने व्यवस्था देते समय एक ओर यदि शूद्रों चांडालों एवं अन्त्यजों को अनेक विशेषाधिकारों से मुक्त करते हैं तो दूसरी ओर उन पर अनेक अव्यावहारिक कठोरताओं का आरोपण भी करते हुये दिखायी पड़ते हैं।[353] शायद ऐसे व्यवस्थाकारों को यह भय था कि अगर सामाजिक परिवर्तन का यह काम जारी रहा तो सारी वैदिक व्यवस्था धूल धूसरित हो जायेगी और भारतीय संस्कृति का मौलिक स्वरूप नष्ट हो जायेगा। इस सम्बन्ध में यह कहना उचित नहीं लगता कि शोषण से मुक्ति संस्कृति के लोप का कारण हो सकती है जो कुछ भी हो इसके पीछे व्यवस्थाकारों की मान्यता ऐसी ही थी।[354] ऊपर से स्पष्टीकरण यह दिया जाता है कि शाक्त-तांत्रिक परम्पराओं एवं इस्लामिक हस्तक्षेप के कारण भारतीय संस्कृति का वास्तविक स्वरूप विलुप्त हो जाने का खतरा विद्यमान हो गया था इसलिये ऐसी

व्यवस्थायें करनी पड़ी। जो कुछ भी हो, इससे यह स्पष्ट तो है ही कि धर्म ने इन शताब्दियों में समाज को परिवर्तन के लिये विवश कर ही दिया था।

पूर्वमध्ययुगीन धर्म द्वारा तत्कालीन संस्कृति में परिवर्तन-

इस प्रकार उपर्युक्त विवरणों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल में धर्म भारतीयों के जीवन और आचरण का नियमन करता रहा। इसी रहस्यमय प्रेरणा के कारण राजा नरेश युद्ध करते और मन्दिर बनवाकर ब्राह्मण-साधुओं को दान देते रहे। धर्म की इस प्रवृत्ति को संतुष्ट करने के लिये स्त्रियां शांतिकाल में सती होती तथा युद्ध के समय जौहर करती थीं। धर्म ने इतना व्यापक स्वरूप धारण कर लिया कि कला, साहित्य, सामाजिक रीति-रिवाज, प्रशासकीय व्यवस्थायें, आर्थिक गतिविधियां आदि सभी धर्म की चेरी बन गयी। धर्म का सार्वजनीन और सर्वयुगीन प्रभाव भारतीयों को संचालित और निर्देशित कर रहा था। यहां तक कि 'मनुस्मृति' और शुक नीति' में वर्णित विधि एवं कानून भी धार्मिक निर्देश के रूप में ही लिये गये।

इसमें संदेह नहीं कि इस काल में हमें धर्म में अनेकता दिखाई देती है। उसमें वाह्य आडम्बर और भ्रष्टाचार भी आने लगा था। धार्मिक अंध परम्पराओं, अंधविश्वास के जाल में देश ऐसा जकड़ गया था कि वह स्वतंत्र विचार, स्वतंत्र कर्म एवं स्वतंत्र विश्वास एक हद तक बहुत कुछ खो चुका था। तत्कालीन धर्मों में तांत्रिक वाममार्ग और उससे सम्बन्धित धार्मिक व्याभिचार ने, जिसे धार्मिक स्तर पर मान्यता मिल गयी थी, देश के जीवन को दूषित कर दिया था। परन्तु इसका प्रभाव किस सीमा तक पड़ा और उसने किस हद तक देश के जीवन की चेतना को भ्रष्ट किया इसका सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

उक्त कमियों के बावजूद धर्म के क्षेत्र में, पूर्वमध्ययुग में राजनीतिक अराजकता और अव्यवस्था के चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके विपरीत देश में धर्म के माध्यम से एक प्रकार की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक एकता कायम हो गयी थी। आर्यावर्त चेतना अर्थात् धार्मिक स्वतंत्रता इस देश में पूर्व मध्ययुग में पूरी तरह स्थापित थी। इसी ने भारतीय मस्तिष्क की चेतना और शक्ति तथा दर्शन के क्षेत्र में उस उच्चता

को इतना अधिक प्रभावशाली तरीके से बनाये रखा कि उनके समसामयिक अरबी विद्वान भारतीय संस्कृति और ज्ञान की गरिमा से अभिभूत हो गये।

-: 0 :-

संदर्भ ग्रन्थ सूची

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. ऋग्वेद : 1-22-18 ।
2. मिश्र, जयशंकर ।
3. द एज ऑफ इंपीरियल, कन्नौज, पृ0 232 ।
4. वही, पृ0 297 ।
5. राधाकृष्णन : द रिकवरी ऑफ फेथ, पृ0 16 ।
6. वही, पृ0 17 ।
7. वही जिल्द 2, पृ0 359 ।
8. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 730 ।
9. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 1, पृ0 211 ।
10. वही, पृ0 129 ।
11. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 73 ।
12. वही।
13. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 2, पृ0 182 ।
14. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 ।
15. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 732 ।
16. गीतगोविन्द, केशवधृत भृगुपति रूप जय जगदीश हरे।
17. द्वयाश्रय महाकाव्य, 15.119, सरस्वती पुराण, 15.5.1621 ।
18. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 181 ।
19. श्रीवास्तव, के0 सी0 भारत की संस्कृति तथा कला. पृ0 797-810 ।
20. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 739 ।
21. महाजन, बी0 डी0, प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली 1962, पृ0 655 ।

22. शर्मा, आर0 एस0, भारतीय सामन्तवाद।

23. महाजन, बी0 डी0, पूर्वो0 पृ0 656. ।

24. शर्मा, आर0 एस0 पूर्वो0 ।

25. सतीशचन्द्र, मध्यकालीन भारत, दिल्ली, 1990 पृ0 431. ।

26. महाजन, बी0 डी0, पूर्वो0 पृ0 656 ।

27 वही।

28. वही।

29. वही।

30. झा एवं श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 394-95 ।

31. वही।

32. वही।

33. बांसखेड़ा ताम्रपात्र परममाहेश्वरी माहेश्वर इव परम भट्टारक महाराजधिराज श्री हर्ष।

34. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 पृ0 395 ।

35. श्रीवास्तव, के0 सी0 पूर्वो0 पृ0 168. ।

36. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 751-55 ।

37. श्रीवास्तव, के0 सी0, पूर्वो0 पृ0 168-69 ।

38. वही।

39. वही।

40. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 ।

41. वायु पुराण, अध्याय 33, लिंग पुराण, अध्याय 24 ।

42. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0, पृ0 396 ।

43. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 2, पृ0 123, श्लोक 29, 351 ।
44. वही, जिल्द 2, पृ0 131 ।
45. वही, जिल्द 25, पृ0 186 ।
46. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 758 ।
47. कोटियाल, हरिशंकर, गुप्तोत्तरकाल, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास, द्वारा उद्धत झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 ।
48. वही।
49. वही, पृ0 759 ।
50. वायुपुराण, अध्याय 11-45 ।
51. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 ।
52. श्रीवास्तव, के0 सी0, पूर्वो0, पृ0 170 ।
53. वही।
54. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 पृ0 7011 ।
55. शंकर दिग्विजय, 15.1.28
56. वही।
57. वही।
58. वही।
59. कर्म पुराण, 16

    कापाल लाकुलं वामभैरव पूर्व पश्चिमम्।

    पांचरात्रं पाशुपतं तत्रान्यानि सहस्त्रशः ।।
60. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 762 ।
61. वही।

62. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये

63. भण्डारकर आर0 जी0 वैष्णव शैव एवं अन्य धार्मिक मत वाराणसी, 1988, में शैव सम्प्रदाय नामक अध्याय।

64. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 पृ0 397 ।

65. वही।

66. वही।

67. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 ।

68. श्रीवास्तव, के0 सी0, पूर्वो0 पृ0 170 ।

69. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 पृ0 703 ।

70. वही।

71. कोटियाल, हरिशंकर, पूर्वो0 द्वारा उद्धत झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 पृ0 397 ।

72. वही, पृ0 398 ।

73. वही।

74. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये।

75. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0, अध्याय 16, पृ0 364-67 ।

76. वही।

77. वही।

78. वही।

79. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये
    भण्डारकर, आर0 जी0 पूर्वो0

80. वही।

81. वही।

82. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 ।

83. वही।

84. वही।

85. वही।

86. कुलाराविर्तत्र अध्याय-1

87. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 ।

88. मिश्र, उर्मिला प्रकाश, पूर्वो0, पृ0 137-38 ।

89. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 367 ।

90. वही।

91. वही।

92. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 पृ0 398 ।

93. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये-
    यादव, बी0 एन0 एस0, पूर्वो0 ।

94. वही।

95. मिश्र, जशंकर, पूर्वो0 पृ0 773 ।

96. वही।

97. शर्मा, बी0 एन0, सोशल लाइफ इन नार्दन इंडिया, पृ0 163 ।

98. देवी भागवत, 5, 98.991 ।

99. मिश्र, जयशंकर, पूर्वो0 ।

100. शर्मा, बी0 एन0 पूर्वो0 पृ0 167 ।

101. द्विवेदी लवकुश, खजुराहो की मूर्तिकला में अश्लीलता की सार्थकता, विकल्प, 198 पृ0 10 ।

102. द्वितीय राजरंगिणी, 1056, 1061 ।

103. आईने अकबरी, 2.365 ।

104. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी, 19, पृ0 193 ।

105. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 1, पृ0 159-

नवदुर्गायतनाय च पूजा संस्कारार्थम्।

107. झा एवं श्रीमाली, पूर्वो0 पृ0 399 ।

108. पिंडनिर्युत्त टीका, पृ0 194 ।

109. मिश्र, उर्मिला प्रकाश, पूर्वो0 पृ0 ।

110. आर0 के0 मुकर्जी : मेन एण्ड थॉट इन एंसियेट इंडिका, पृ0 179 ।

स्मिथ, वी0 : हर्षः रूलर्स ऑफ इंडिया सिरींज।

111 द एज ऑफ इंपीरियल कन्नौज, पृ0 257 ।

112. 2500 इयर्स ऑफ बुद्धिज्म, पृ0 359 ।

113. वही पृ0 355 ।

114. मिश्र, केशव : चंदेल और उनका राजत्व काल, पृ0 202 ।

115. वही।

116. दास गुप्ता, एस0 बी0, इंट्रोडक्शन टू तांत्रिक बुद्धिज्म, पृ0 85-87 ।

117. द एज ऑफ इंपीरियल, पृ0 259-60 ।

118. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ0 248, 91 ।

119. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ0 924-34 तथा उपाध्याय बल्देव, पुराण विमर्श, पृ0 236 ।

120. दे0 भा0 पु0, 1.3.21 ।

121. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ0 248.91 ।

122. वही।

123. वही।

124. वही।

125. तारानाथ, पृ0 93, 94, 97 ।

126. वही।

127. आर0 सी0, डिक्लाइन ऑफ बुद्धिज्म, पृ0 143, 146, 147, ।

128. राजतरंगिणी, 3.12 ।

129. डेविस, राइस, बुद्धिज्म, पृ0 345-46 ।

130. यादव, पूर्वोद्धत, पृ0 3.831 ।

131. कल्किपुराण, द्वितीयाश, अध्याय 3.30 ।

132. वही 3.10 ।

133. वही, 13.39.41 ।

134. भट्टाचार्य, बी0 पूर्वोद्धत, पृ0 389 तथा देखें, फलक संख्या 140, पृ0 270, 189, 190, पृ0 291-92. ।

135. वही, पृ0 286, 389 ।

136. वही, तेरहवां अध्याय, हिन्दू गाड्स इन वज्रयान, पृ0 344 ।

137. अग्निपुराण, 49.9 कन्किपुराण, द्वितीयांश, 3.29 ।

138. दासगुप्ता, एस0 बी0, पूर्वो0 11.13.14 ।

139. चतुर्वेदी, परशुराम : उत्तर भारत की संत परम्परा, पृ0 108 ।

140. वही।

141. द स्ट्रगल फॉर एंपायर, पृ0 4101 ।

142. दासगुप्ता, एस0 वी0 : इट्रोडक्शन टू तांत्रिक बुद्धिज्म, पृ0 83-85 ।

143. द स्ट्रगल फॉर एंपायर, पृ0 412 ।

144. शास्त्री, एन0 के0 हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज्म इन बंगाल, पृ0 163 ।

145. वही।

146. दिनकर, सिंह रामधारी, संस्कृति के चार अध्याय, पृ0 194 ।

147. राहुल सांस्कृत्यायन : दोहा कोश, पृ0 30, 142, 146, 166, ।

148. दास गुप्ता, एस0 बी0, पूर्वो0, पृ0 51 तथा बुद्ध प्रकाश, सम आस्पेक्ट्स पृ0 74 से आगे।

149. वही, पृ0 52 ।

150. वही, पृ0 53 पर उद्धत वेव्रज्ञ तंत्र न मंत्र जापो न तपो न होमोन न च मण्डलने च। स मंत्र जपः स होमः स मण्डलेयं तन मण्डलने च।।

151. वही।

152. वही।

153. दोहाकोश- ज्ञान मोहि अ साल की लोअ।

निअ स्वहाव नियु लक्खई कोअ।।

154 वही, पृ0 57 पर उद्धत ।

155. राहुल सांकृत्यायन : दोहाकोश, भूमिका, पृ0 9-161 ।

156. वही।

157. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय- पृ0 199, हजारी प्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्मसाधना।

158. सरहपाद : दोहाकोश : जइ चंडाल घरे चंडाल घरे भुज्जई, पृ0 26 ।

159. लुईवाद, योगिनी समय चर्या एवं वज्रसाधना मिस्टिक टेल्स ऑफ लामा, तारानाथ, पृ0 11-201 ।

160. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ0 20 ।

161. वही।

162. बुद्धप्रकाश, आस्पेक्ट्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री एंड सिविलाइजेशन पृ0 270 ।

163. द एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ0 268 ।

164. बुद्धप्रकाश, पूर्वो0 पृ0 210-211 ।

165. वही।

166. कान्हप्पा : चर्यागीति कोश, पृ0 33, 64 (संपादन पी0 सी0 बागची शांतिभिक्षु शास्त्री)।

167. भुसुकप्पा : वही, पृ0 159 ।

168. डोबीप्पा : वही, पृ0 47 ।

169. शबरप्पा : चर्यागीत कोश, पृ0 92 ।

170. वही।

171. इद्रभूति: ज्ञान सिद्धि, भाग 1, पृ0 82 ।

भट्टाचार्य, बी0 टू0 वज्रयान वर्क्स, पृ0 39 (गायकवाड़ ओरिएंटल सिरीज)

172. रेनॉन लुई, रिलिजंस ऑफ एंसिएंट इंडिया, पृ0 87 ।

173. अ) आर्कियाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्ट पृ0 166-67 (1929-30) ।

173. ब) केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग-1, पृ0 143 ।

174. शुक्ला : बी0 डी0, भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृ0 318 ।

175. भारतीय विद्या, 1/73 (हिन्दी) ।

176. अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देव प्रतिभायें, पार्श्वनाथ मन्दिर, पृ0 15-16 ।

177. उपाध्याय, वासुदेव 'पूर्व मध्यकालीन भारत, पृ0 343 ।

178. वैद्य सी0 वी0, मध्ययुगीन भारत, भाग-।। पृ0 289 ।

179. द एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ0 289 ।

180. मिश्र, कृष्ण, प्रबोध चंद्रोदयम, तृतीय अंक श्लोक 5-6 ।

181. द एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ0 289 ।

182. शर्मा, मथुरालाल, भारतीय संस्कृति का विकास, पृ0 263-4 ।

183. मिश्र, कृष्ण प्रबोध चंद्रोदयम्, तृतीय अंक, 'ओम नमोऽर्हम्दयः'।

184. मिश्र, केशवचन्द्र, चंदेल और उनका राजत्वकाल, पृ0 202-203 ।

185. शर्मा, मथुरालाल, पूर्वो0, पृ0 264 ।

186. द स्ट्रगल फॉर एम्पायर, पृ0 427 ।

187. वही।

188. एपीग्राफिया कर्नाटिका, भाग पांच, पृ0 124, 183, 190 ।

189. जैन सिद्धान्त भास्कर 9/1 ।

190. शर्मा, मथुरालाल, पूर्वो0 पृ0 266 ।

191. वही।

192. यादव, बी0 एन0 एस0 पृ0 349. ।

193. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 11, पृ0 30-32 ।

194. यादव, बी0 एन0 एस0 पूर्वो0, पृ0 349 ।

195. वही, पृ0 365-66 ।

196. वही, पृ0 367 ।

197. द एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ0 256 ।

198. कूर्म पुराण, अध्याय 16 ।

199. दिनकर, पूर्वो0 पृ0 266 ।

200. अंग बग कलिगेषु सौराष्ट्र भगधेषु च तीर्थ यात्रा बिना गत्वा संस्कार गर्हति।।"

201. द एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ0 256 ।

202. इंडियन एन्टीक्वेरी, भाग- ग्यारह, पृ0 248 ।

203. अलबीरुनी, भाग 1, पृ0 19 ।

204. पांडे, रा0 ब0, प्राचीन भारत, पृ0 372 ।

205. द एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ0 257 ।

206. बागची0 पी0 सी0, बौद्ध धर्म और साहित्य, पृ0 71-79 ।

207. द एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ0 263 ।

208. भारतीय विद्या (हिन्दी-गुजराती) 11-73 ।

209. बाणभट्ट : हर्षचरित, द्वितीय उच्छ्‌वास, पृ0 184 ।

210. द एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ0 257 (1955 संस्करण) ।

211. वही।

212. दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, पृ0 104 डॉ0 दिनकर अंगिरस को अहिंसा का मूल प्रवर्तक मानते हैं। पृ0 105-106 ।

213. गीता, 16-11 ।

214. प्रसाद, ईश्वरी, मेडिएवल इंडिया, भूमिका, पृ0 ।

215. नारद स्मृति, 18/3 ।

216. बल, बुद्धिस्ट रिकार्ड्स ऑफ द वैस्टर्न वर्ल्ड, भाग पांच, पृ0 210-13 ।

217. बल प्रजा रक्षाणार्थ धर्माथं कोष संग्रहः । परत्रेइच सुखदो नृपस्यान्यनस्तु दुखदः ।।'' शुक्रनीतिसार 4-2, 3-5 ।

218. अल्तेकर, ए0 एस0 'प्राचीय भारतीय शासन पद्धति, 5/63 ।

219. बाणभट्ट कादम्बरी, पृ0 335-338 ।

220. एपिग्राफिका, इंडिका, भाग-1, पृ0 197-208-211 ।

221. राजतरंगिणी, अष्टम स्तरंग, पृ0 733 ।

222. गीता, 2/31-32 ।

223. मनस्मृतिः 1/4 ।

224. ''अधर्मः क्षत्रियश्चैव यच्छयथा मरणं भवेत''- शुक्रनीति सारः 47, पृ0 305 ।

225. सरन, पी, 'मध्ययुगीन भारत, पृ0 171 ।

226. निजामी, ए0 के0, 'सम आस्पेक्ट्स ऑफ रिलिजन एंड पालिटिक्स इन इंडिका ड्यूरिंग द थटीन्थ सेंचुरी, पृ0 213 ।

227. वही।

228. चक्रवर्ती, पी0 सी0 'आर्ट ऑफ वार इन एसिएंट इंडिया पृ0 78-82 ।

229. मनुस्मृति, 8/348-99 ।

राजतरंगिणी, 7/1480 ।

230. मजूमदार, बी0 के0, द मिलट्री सिस्टम इन एंसियेंट इंडिया पृ0 19 ।

231. अलबीरुनी, भाग 1, पृ0 104 ।

232. मुंशी, एम0 के0 भूमिका द स्ट्रगल फॉर एम्पायर, पृ0 11, ।

233. द क्लासिकल एज, पृ0 560 ।

234. वही।

235. अग्नि पुराण, अध्याय, 108 ।

236. वैद्य, सी0 वी0, मध्य भारत, भाग-II, पृ0 313 ।

237. राजतरंगिणी, 3/489, 7/240 ।

238. शुक्रनीति .सार 4-52 ।

239. अग्निपुराण 166-48 ।

240. वही।

241. वही। 9-17 ।

242. पतंजलि, महामाष्य, 2-2-34, पृ0 391 ।

243. वही, 2-2-6, पृ0 340 ।

244. 'असंस्कृति मतयो पिजात्यैवं द्विजन्मनो माननीय' - हर्षचरित, पृ0 20 ।

245. तहकीक-ए-मालिल-ए-हिन्द, भाग-1, पृ0 100 ।

246. वही भाग-I, पृ0 102 ।

247. अग्निहोत्री पी0 डी0, 'पतंजलिकालीन भारत' पृ0 150 ।

248. मनुस्मृति, 1-88, याज्ञवल्क्य स्मृति, 5-188 ।

249. पतंजलि, महाभाष्य, 1-2-45, पृ0 538 ।

250. वही, 1-1-47, पृ0 374 ।

251. पतंजलि महाभाष्य, 2-1-17, पृ0 232 ।

252. लक्ष्मीधर : कृत्यकल्पतरु।

253. नारद स्मृति : 9-11 ।

254. अलबीरुनी, भाग-II, पृ0 162 ।

लक्ष्मीधर गृहस्थ कांड, पृ0 297, राजधर्म कांड, पृ0 91-92 ।

255. विज्ञानेश्वर, याज्ञवल्क्य स्मृति, 2-21 ।

256. अलबीरुनी, भाग-II, पृ0 162 ।

257. लक्ष्मीधर, कृत्यकल्पतरु, राजधर्म कांड, पृ0 252 ।

258. अग्निपुराण, 151-2-91 ।

259. पराशर स्मृति, 1-66 ।

260. प्रज्ञानां रक्षणं दानभिज्याध्ययनमेव च।

विषयेऽव सक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ।।- मनुस्मृति, 1-89

261. कृत्यकल्पतरु, राजधर्मकांड, पृ0 175 ।

262. वही।

263. अग्निपुराण, 151/2-91 ।

264. अलबीरुनी, भाग-II, पृ0 136 ।

265. वैद्य, सी0 वी0, 'मध्ययुगीन भारत,' भाग-II, पृ0 318 ।

266. वही।

267. तहकीक-ए-मालिल-ए-हिन्द, भाग-II, पृ0 136 ।

268. अल्तेकर, ए0 एस0, 'द राष्ट्रकूटाज एंड देयर टाइम्स', पृ0 332-336 ।

269. वही भाग-II, पृ0 136 ।

270. एपीग्राफिया इंडिका, भाग- पृ0 581 ।

271. अग्निपुराण, 153/10-12

272. वही।

273. अलबीरुनी, भाग-II, पृ0 136

274. मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य ये पिस्यु: पापयोनय:।

स्त्रियो वैश्यरतथाशूद्रस्ते पियान्ति पारंगतिम् ।।''- गीता , 9.32 ।

275. शास्त्री, एन0 के0 हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडिका, पृ0 430 ।

276. अपरार्क, याज्ञवल्क्य स्मृति भाष्य, पृ0 293 ।

277. अपरार्क, याज्ञवल्क्य स्मृति भाष्य, पृ0 293 ।

278. पराशर स्मृति 7/7-8 ।

279. अग्निपुराण, अध्या 154, विवाह विषयक विधान ।

280. याज्ञवल्क्य स्मृति 4/91-92, मनुस्मृति, 10-12 ।

282. वही, भाग- 9 पृ0 4 ।

283. मनुस्मृति 3-5, अलबीरुनी, भाग-II, पृ0 155 ।

284. वही।

285. नारद स्मृति, 95, आपस्तम्ब सूत्र, 2-5, 12-131 ।

286. पृथ्वीराजरासो।

287. अग्निपुराण, अध्याय 115, आचार वर्णन ।

288. मनुस्मृति 3/56, 9-101, 102 ।

289. अग्निपुराण, अध्याय 157, अलबीरुनी, भाग-II, पृ0 156-57 ।

290. पतंजलि, महाभाष्य 1/1/72, पृ0 448 ।

291. वही, 1-1-43, पृ0 257, 5-2-85, पृ0 40 ।

292. अग्निहोत्री, पी0 डी0, पूर्वो0 पृ0 552 ।

293. अग्निपुराण, देखिये अध्याय 142, 171, 172, से 200 तक ।

294. वही, अध्याय 41-103 ।

295. सरन, पी0, 'मध्ययुगीन भारत,' पृ0 17 ।

296. पाण्डेय, रा0 ब0 'प्राचीन भारत' पृ0 372 ।

297. हर्षचरित् 91, 113 एवं 124 ।

298. राजतरंगिणी, लक्ष्मीधर : कृत्यकल्पतरु-राजधर्मकांड, पृ0 1761 ।

299. वही, 4-190-195 ।

300. वही।

301. मनुस्मृति, 10/86-116 ।

302. अलबीरुनी : भाग-II, पृ0 132 ।

303. एपीग्राफिया इंडिका, भाग-1, पृ0 184-478 ।

304. लक्ष्मीधर : कृत्यकल्पतरु, गृहस्थ कांड, पृ0 214-211 ।

305. राजतरंगिनी, 8-108 ।

306. वही।

307. एपीग्राफिया इंडिका, भाग-।।, पृ0 301 ।

308. राजतरंगिनी, 8-238 ।

309. पाण्डेय, रा0 ब0 'प्राचीन भारत' ।

310. राजतरंगिणी 7-1480, 8-1013, 1071 ।

311. इंडियन एंटीक्वेरी, भाग- XXV, पृ0 205 ।

312. शुक्रनीतिसार, 4-1013 ।

313. लक्ष्मीधर : कृत्यकल्पतरु : गृहस्थकांड, पृ0 191 ।

314. एपीग्राफिया इंडिका, भाग 1, पृ0 154 ।

315. वैद्य सी0 वी0 'मध्ययुगीन भारत, भाग-।।, पृ0 323 ।

316. अलबीरुनी, भाग-।, पृ0 103 ।

317. कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।''

318. वैद्य0 सी0 वी0, पूर्वो0 भाग-।।, पृ0 326 ।

319. वही।

320. अग्निपुराण, 151/2-91 ।

321. अलबीरुनी : भाग-।।, पृ0 1371 ।

322. अल-इद्रीसी : भाग-।, पृ0 76 (अनु0 इलियट एंड डाउसन) वैद्य0 सी0 वी0, पूर्वो0, पृ0 ।

323. वही।

324. द स्ट्रगल फॉर एंपायर, पृ0 475. ।

325. अपरार्क : याज्ञवल्क्य स्मृति भाष्य, पृ0 1196 ।

326. मनुस्मृति : 10-49 ।

327. वही, 10-37 ।

328. अलबीरुनी, भाग-।।, पृ0 102, मनुस्मृति, 10-51, 55 ।

329. गिरनार अभिलेख ।

330. एपीग्राफिया इंडिका, भाग-।।, पृ0 394 ।

331. शर्मा, एम0 एल0 'भारतीय संस्कृति का विकास, पृ0 283 ।

332. वही, पृ0 258 ।

333. उपाध्याय, वासुदेव, पूर्वो0, पृ0 139 ।

334. शर्मा, एम0 एल0 पूर्वो0 पृ0 297 ।

335. मिश्र, केशचन्द्र, 'चंदेल और उनका राजत्वकाल, पृ0 245 ।

336. उपाध्याय, वी0 एस0, 'द जर्नल ऑफ बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, भाग-5, पृ0 227 (1940) ।

337. वही, 230-31 ।

338. द स्ट्रगल फॉर एंपायर, प10 409 ।

339. गुह्य समाज तंत्र, पृ0 120-136 ।

340. उपाध्याय, वी0 एस0, पूर्वो0, पृ0 232-34 ।

341. द स्ट्रगल फॉर एंपायर, पूर्वो0 ।

342. प्रकाश, बुद्ध, 'आस्पेक्ट्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री एंड सिविलाइजेशन पृ0 307 ।

343. वही, पृ0 308 ।

344. मिश्र, कृष्ण, 'प्रबोधचंद्रोद्यम' अंक 3, श्लोक 5-6 ।

345. बील : बुद्धिस्ट रिकॉर्ड्स, भाग-।।, पृ0 274 ।

346. अलबीरुनी : भाग-।।, पृ0 157 ।

347. मिश्र, जयशंकर : 'ग्यारहवीं सदी का भारत,' पृ0 161 ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मौलिक ग्रन्थ -

अर्थवेद : आर0 राय और डब्ल्यू0 डी0 हिवटने बर्लिन 1856. ।

अपरार्क की टीका : । याज्ञवल्क्य स्मृति पर ।

अभिज्ञान शाकुन्तलम् : सम्पा0 शारदा रंजन रे, कलकत्ता 1901 ।

अमरकोश : अमर सिंह ।

अपराजित पृच्छा : भुवनदेव बड़ौदा 1050 ।

अग्निपुराण : कलकत्ता, 1903-4 ।

अत्रि स्मृति :

आपस्तम्ब धर्मसूत्र : हरदत्त की टीका सहित, चौखा सं0 सी0 वाराणसी ।

आश्वलायन गृहसूत्र : नरायण की टीका सहत निर्णय तामर प्रेस बम्बई 1894. ।

उदय सुन्दरी कथा : साडढल पूना 1920 ।

उक्ति व्यक्ति प्रकण : दामोदर पण्डित, बम्बई 1933 ।

ऐतरेय ब्राह्मण : आनन्दाश्रम सं0 सीरीज पूना 1896 ।

ऋग्वेद : तायण भाष्य सहित, सं0 एफ0 मैक्समूलर 1890-92 वैदिक संशोधन मण्डल पूना, 1933. ।

कथासरित्सागर : सोमदेवकृत, अनु0 सी0 एच0 टौनी लंदन, 1924. ।

काव्य विलास :

कादम्बरी : बाणभट्ट, बम्बई 1928. ।

कात्यायन स्मृति :

कामन्दकनीतिसार :

कामसूत्र : वात्स्यायन, वाराणसी, 1929. ।

कुमारपालचरित : हेमचन्द्र, बम्बई 1900. ।

कौटिल्य अर्थशास्त्र : आर0 शामाशास्त्री, मैसूर 1944 ।

कृत्यकल्पतरु : लक्ष्मीधर, बड़ौदा, 1993 ।

कृषि पाराशर : कलकत्ता, 1960 ।

गौतमधर्मसूत्र : ए0 एस0 स्टेंजलर, लंदन 1876, मकर्रिन कृत टीका सहित सम्पा0 एल0 श्री निवासाचार्य, मैसूर, 1917. ।

जैन पुस्तक प्रशस्ति-संग्रह : बम्बई, 1943 ।

तिलक-मंजरी : धनपाल, बम्बई, 1903. ।

त्रिशाष्ठिशालाकापुरुष चरित: :

दशकुमार चरित : दण्डिन, बम्बई 1917. ।

दशावतार चरित : क्षेमेन्द्र ।

दायभाग : जीमूतवाहन ।

दीधनिकाय : लंदन, 1899 ।

देशीनाममाला : हेमचन्द्र, कलकत्ता 1931 ।

नवविलास : रामचन्द्रसूरि, बड़ौदा 1934 ।

नवसाहसांक चरित : पदमगुप्त, बम्बई 1895 ।

नारदस्मृति : ऑक्सफोर्ड 1889 ।

पाराशरस्मृति : वाराणसी 1907 ।

प्रबन्ध चिन्तामणि : मेरुन्तुंग, शान्ति निकेतन, 1933 ।

पृथ्वीराजविजय : ?

बौधायन धर्मसूत्र : लाहौर, 1922 ।

वृहत्संहिता : वाराहमिहिर, वाराणसी, 1895 ।

वृहन्नारदीय पुराण : कलकत्ता, 1891 ।

बृहस्पति स्मृति : बड़ौदा, 1941 ।

मत्स्यपुराण : ?

मनुस्मृति : बम्बई, 1886 ।

मनसार : पी0 के0 आचार्य सम्पादक ऑक्सफोर्ड, 1933 ।

मानसोल्लास : सोमेश्वरदेव, बड़ौदा 1875 ।

मार्कण्डेय पुराण : कलकत्ता, 1862 ।

मयमत : टी0 गणपति शास्त्री, सम्पादक त्रिवेन्द्रम, 1919 ।

महानिर्वाणतंत्र :

महाभारत पांच भागों में : गीताप्रेस, गोरखपुर 1932 ।

मिताक्षरा टीका 'मनुस्मृति पर' : ? — Bhuds

मिलिन्दपह्हो : लंदन, 1928 ।

मंजुश्रीमूलकल्प :

मृच्छकटिक :

याज्ञवल्क्य स्मृति : वाराणसी, 1930 ।

राजतरंगिणी : कल्हण, वेस्टामिंस्टर, 1900 ।

रामचरित : सन्धाकरनन्दी, राजशाही, 1939 ।

लघुविष्णु स्मृति : (सन्ध्याकरनन्दी)

लटकमेलक :

लेखपद्धति : बड़ौदा, 1925 ।

व्यवहार : भट्ट, नीलकंठ, पूना, 1926 ।

वशिष्ठधर्मसूत्र : बम्बई, 1916 ।

विष्णुपुराण :

विष्णुस्मृति : ऑक्सफोर्ड, 1880 ।

विज्ञानेश्वर :

वैजयन्ती :

शुक्रनीतिसार : इलाहाबाद, 1914 ।

श्रृंगारमंजरीकथा :

श्रृंगारहाट :

स्मृतिचन्द्रिका :

सदुक्ति कर्णमृत :

समरांगणसूत्रधार : भोजदेव, बड़ौदा, 1925 ।

सुभाषिरत्न कोष : हार्डर्ड, 1957 ।

हर्षचरित : बाणभट्ट, बम्बई 1937 ।

२. सिक्के अभिलेख एवं विदेशी विवरण

कनिंधम, ए, : क्वायन्स ऑफ मेडीवल इण्डिया फ्राम द सेविन्थ सेन्चुरी डाउन टू द मुहम्मडन कान्वेवेस्ट्स, लंदन 1894. ।

दीक्षित, एम0 जी0 : सेलेक्टेड इन्सिक्रप्शंस फ्राम महाराष्ट्र पूना, 1947 ।

फ्लीट, जे0 एफ0 : इन्सिक्रप्शंस ऑफ द अर्ली गुप्ता किंग्स, लंदन 1888 ।

नील, एस0 : ट्रैवेल्स ऑफ फाह्यान, लंदन 1869 ।

: द लाइफ ऑफ ह्वेसांग, लंदन 1888 ।

वाटर्स, टी0 : ह्वेसांग ट्रैवल्स इन इण्डिया, लंदन, 1907 ।

सचाऊ, एडवर्ड : अलबेरुनीज इण्डिया, लंदन, 1910 ।

सरकार, डी0 सी0 : सेलेक्ट इन्सिक्रशंस वीयरिंग ऑन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड ।

३. कोश एवं विश्वकोष

अमरकोश अनु0 - शर्मा, ए0 डी0 और देसाई एन0 जी0, पूना, 1941. ।

इनसाइक्लोपीडिया विट्रैनिका ।

\# ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी मोनियर विलियम, एम0, ऑक्सफोर्ड, 1899 ।

\# पालि इंग्लिश डिक्शनी, डेविडस, टी0 डब्ल्यू0 आर0, और स्टेड, डब्ल्यू0, लंदन, 1921 ।

\# मैक्डोनेल, ए0 ए0 और कीथ, ए0 बी0, वैदिक इंडेक्स ऑफ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स, जिल्द-2, लंदन 1912 ।

\# शब्दकल्पद्रुम ।

४. सहायक ग्रन्थ सूची

अग्रवाल, वी0 एस0 : हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, 1953 ।

: कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन वाराणसी, 1958 ।

: इण्डिया ऐज नोन टू दि पाणिनि, लखनऊ 1953 ।

अहमद, एस0 एम0 : पणिनिकालीन भारतवर्ष, वाराणसी, 1955 ।

: इण्डो- अरब रिलेशन्स दिल्ली 1978 ।

अल्टेकर, एस0 ए0 : पोजीशन ऑफ वूमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन दिल्ली 1956।

: राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम पूना 1934 ।

: प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, वारायणसी 1968 ।

: दि गुप्ता ऐम्पायर क्वायंस एन वयाना होर्ड न्यूमेसमेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, वाराणसी, 1954 ।

: दि क्वायंस एण्ड क्वाइनेज ऑफ गुप्त एम्पायर न्यूमिसमेटिक सोसाएटी ऑफ इण्डिया, वाराणसी, 1957 ।

अम्बेदकर, बी0 आर0 : हू वेयर द शूद्राज बम्बई 1946 ।

ओझा, ए0 पी0 : प्राचीन भारत में सामाजिक स्तरीकरण, इलाहाबाद 1992 ।

ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द्र : राजपूताना का इतिहास, अजमेर, 1937 ।

ओमप्रकाश : प्राचीन भारत का सामाजिक एवं धार्मिक इतिहास, दिल्ली, 1975 ।

इरविन, जे0 : क्लास स्ट्रगल इन ऐशियन्ट इण्डिया लंदन, 1946 ।

इलियट और डाउसन : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्ट्रोरियन्स

उपाध्याय, रामजी : प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति, इलाहाबाद 1963 ।

उपाध्याय, वासुदेव : प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन पटना, 1961 ।

: दि सोशियो रिलीजस कंडीशन ऑफ नार्थ इण्डिया, नई दिल्ली, 1961. ।

कविराज, गोपीनाथ : भारतीय संस्कृति और साधना विहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, 1963 ।

कमलम, के0 ए0 : स्टडी ऑफ देवदासी सिस्टम इन मैसूर सोशल हेल्थ, जिल्द-10, 1972 ।

काणे, पी0 वी0 : हिस्ट्री ऑफ अर्थशास्त्र, जिल्द-2-3, तथा 5 पूना 1941, 1946, 1953 ।

: धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी समिति, प्रयाग, 1982 ।

कुमार, स्वामी : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन इण्डोनेशियन आर्ट, लंदन, 1950 ।

क्रेमरिश, स्टेला : इण्डियन स्कल्पचर्स, कलकत्ता, 1933 दी आर्ट ऑफ इण्डिया, कलकत्ता ।

कोलबर्न, आर0 : फ्यूडलिज्म इन हिस्ट्री, प्रिस्टेन, 1956 ।

कोसाम्बी, डी0 डी0 : कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन ऑफ ऐशियन्ट इण्डिया बम्बई, 1956 ।

गोपाल, लल्लन जी : अर्ली मेडीवल क्वायंस ऑफ नार्दन इण्डिया, वाराणसी, 1966 ।

: इकॉनामिक लाइफ ऑफ नार्दन, इण्डिया, वाराणसी,1965 ।

गांगुली, ओ0 सी0 एण्ड : इण्डियन क्रास्ट एण्ड इकनामिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इडिया, वाराणसी, 1965 ।

गोस्वामी, ए0 : ओरीसन स्कलपचर्स एण्ड आर्कटेक्चर, 1956 ।

गांगुली, डी0 सी0 : हिस्ट्री ऑफ द परमार डायनेटी ढाका, 1933 ।

गांगुली, डी0 एन0 : स्लेवरी इन द ब्रिटिश डॉमिनियन, कलकत्ता, 1972 ।

धूर्ये, जी0 एस0 : कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, न्यूयार्क, 1950 ।

चकलादार, एस0 सी0 : सोशल लाइफ इन ऐशियन्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1929 ।

चक्रवर्ती, के0 सी0 : ऐशियन्ट इण्डियन कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन, कलकत्ता 1971 ।

चट्टोपाध्याय, बी0 डी0 : ट्रेड एण्ड अर्बन सेन्टर्स इन अर्ली मेडील इण्डिया द इण्डियन हिस्ट्रारिकल रिव्यू, 1974 ।

: ओरिजन ऑफ राजपूत द पोलिटिकल इकानामिक एण्ड सोशल प्रासजेज इन अर्जी मेडिवल राजस्थान इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, 1976 ।

चन्दा, आर0 पी0 : मेडिवल इण्डियन स्कल्पचर्स इन ब्रिटिश म्यूजियम, लंदन, 1955 ।

जयसवाल, के0 पी0 : इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ।

जैन, जगदीश चन्द्र : जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज वाराणसी, 1965.।

झा एवं श्रीमाली : प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली, 1981 ।

तिवारी, गौरीशंकर : उत्तरी भारत में ब्राह्मणों की स्थिति शोध-प्रबन्ध ।

दत्त, एन0 के0 : ओरिजन एण्ड ग्रोथ ऑफ कास्ट इन इण्डिया, कलकत्ता, 1965 ।

द्विवेदी, लवकुश : प्राचीन भारत में दास प्रथा अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध ।

: चाण्डालों की स्थिति पाराशर स्मृति के विशिष्ट संदर्भ में प्रोसीडिंग्स ऑफ द यू0 जी0 सी0 नेशनल सेमीनार ऑन आन अनटचेबिलिटी इन ऐशियन्ट इण्डिया, वाराणसी,1989 ।

: पूर्वमध्यकालीन भारत में दासी प्रोसीडिंग्स ऑफ द यू0 जी0 सी0 नेशनल सेमीनार आन पोजीशन एण्ड स्टेट्स ऑफ वूमेन इन ऐशियन्ट इण्डिया, वाराणसी, 1988. ।

दुबे, सत्यमित्र : मनु की समाज व्यवस्था, कलकत्ता, 1964 ।

दीक्षितार, बी0 आर0, आर0 : द गुप्तापालिटी, म्रदास, 1952 ।

धुर्ये, जी0 एस0 : कॉस्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, न्यूयार्क, 1950 ।

धुरिया, प्रतापचन्द्र : शूद्र और नारी, 1963 ।

नदवीं, एस0 एस0 : अरब और भारत का सम्बन्ध इलाहाबाद, 1930. ।

नेगी, जे0 एस0 : सम लाइट ऑन दि इन्स्टीट्यूशंस ऑफ स्लेवरी लिखनावली ऑफ विद्यापति के0सी0 चट्टोपाध्याय मेमोरियल वाल्यूम, इलाहाबाद, 1975. ।

नियोगी, रोमाा : द हिस्ट्री ऑफ द गाहड़वाल डायनेस्टी, कलकत्ता,1959. ।

प्रधान, एम0 सी0 : द पालिटिकल सिस्टम ऑफ जाट्स इन नार्दर्न इण्डिया, ऑक्सफोर्ड, 1966. ।

पटनायक, उत्स (सम्पा0) : चेन्स ऑफ सवीट्यूड बांडेज, एण्ड स्लेवरी इन इण्डिया, म्रदास, 1985. ।

पाटिल, आर0 बी0 : ऐण्टीक्विटैरियन रिमेन्स इन बिहार, पटना, 1963. ।

पाटिल, शरद : दास, शूद्र स्लेवरी, दिल्ली, 1985.

पाठक, विशुद्धानन्द : उत्तर भारत का राजनैतिक इतिहास, लखनऊ, 1973. ।

पाठक, वी0 एस0 : ऐशियन्ट हिस्ट्रोरियन्स ऑफ इण्डिया, वाराणसी, 1966. ।

पाण्डेय, रामजी : पुराणों में वर्णित गोपिकाओं की स्थिति प्रोसीडिंग्स ऑफ द यू0 जी0 सी0 सेमीनार ऑन 'पोजीशन एण्ड स्टेट्स

ऑफ वूमेन इन ऐशियन्ट इण्डिया, वाराणसी, 1988. ।

पुरी, बी0 एन0 : द हिस्ट्री ऑफ गुर्जर प्रतिहारराज बम्बई, 1957 ।

ब्लास, मार्क : फयूडल सोसायटी, लंदन, 1961 ।

बाशम, ए0 एल0 : स्टडीज इन इण्डिया हिस्ट्री एण्ड कल्चर कलकत्ता, 1964.

: द वण्डर दैट वाज इण्डिया, लंदन, 1954. ।

बनर्जी, जे0 एन0 : डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, कलकत्ता, 1959.।

बनर्जी, आर0 डी0 : ईस्टर्न इण्डियन स्कूल ऑफ मेडील स्कलपचर्स, दिल्ली, 1933. ।

भण्डारकर, डी0 आर0 : फारेन एलिमेन्ट्स इन द हिंन्दू पापुलेशन, जर्नल ऑफ द ऐशियन्ट इण्डियन हिस्ट्री ।

भवालकर, वनमाला : महाभारत में नारी, अभिनव साहित्य प्रकाशन, सागर वि0 स0 2021. ।

मजूमदार, आर0 सी0 : द क्लासिकल ऐज बम्बई, 1954. ।

: द स्ट्रगल फॉर एम्पायर, बम्बई, 1957. ।

: हिस्ट्री ऑफ बंगाल ढाका, 1943. ।

मजूमदार, बी0 पी0 : द सोशियो इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया, कलकत्ता, 1960. ।

मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास पटना, 1974. ।

: ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी, 1968. ।

मिश्र, उर्मिला प्रकाश : प्राचीन भारत में नारी, भोपाल, 1987. ।

भट्टसाली, एन0 के0 : आइकोनोग्रामी ऑफ बुद्धिष्ट एण्ड ब्राह्मानीकल स्कल्पचर्स इन ढाका म्यूजियम कलकत्ता, 1958. ।

मिश्रा, एस0 के0 : द अर्ली रूल्र्स ऑफ खजुराहो, कलकत्ता, 1958. ।

मुकर्जी, आर0 के0 : ऐशियन्ट इण्डियन एजूकेशन, लंदन, 1951. ।

यादव, बी0 एन0 एस0 : सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया इन दि ट्वेल्थ सेंचुरी ए0 डी0, इलाहाबाद, 1973. ।

: द एकाउन्ट्स ऑफ द अर्ली एज ऐण्ड द सोशल ट्रांजीशन फ्राम ऐण्टीक्विटी टू द मिडिल एजजे, 'द इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, 1979. ।

राज, भारती : प्राचीन भारत में सामाजिक गतिशीलता, इलाहाबाद, 1981.

राय, जी0 के0 : फोर्स्ड लेबर इन ऐशियन्ट ऐण्ड अर्ली मेडिवल इण्डिया, द इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, 1976. ।

राय, यू0 एन0 : गुप्त सम्राट और उसका काल इलाहाबाद, 1976. ।

राय, हेमचन्द्र : द डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया, कलकत्ता, 1931.

राय, सिद्धेश्वरी नारायण : पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद, 1968. ।

रेनबेक, पी0 एण्ड डिंगोलिश : गोल्डेन ऐज ऑफ आर्ट, न्यूयार्क, 1955. ।

वैद्य, सी0 वी0 : हिस्ट्री ऑफ मैडीवल हिन्दू इंडिया, पूना, 1924. ।

शर्मा, आर0 एस0 : शूद्रों का प्राचीन इतिहास दिल्ली, 1961. ।

: भारतीय सामन्तवाद, 1972. ।

: पूर्वमध्यकालीन समाज एवं अर्थव्यवस्था पर प्रकाश, दिल्ली, 1992. ।

: प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचना, दिल्ली, 1992. ।

: पूर्वमध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन, दिल्ली, 1975.

सतीशचन्द्र, : मध्यकालीन भारत, दिल्ली, 1990. ।

शर्मा, बी0 एन0 : सोशल लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया दिल्ली, 1966. ।

शर्मा, दशरथ : अर्ली चौहान डायनेस्टीज, दिल्ली, 1959. ।

शास्त्री, आर0 एम0 : द कम्परेटिव हिन्दू, द ओरिजन एण्ड स्टेट्स ऑफ द कायस्थाज मैन इन इण्डिया, 1971. ।

श्रीवास्तव, के0 सी0 : प्राचीन भारत का इतिहास, इलाहाबाद, 1991. ।

: भारत की संस्कृति तथा कला, इलाहाबाद, 1988. ।

सरकार, एम0 सी0 : सम आस्पेक्ट्स ऑफ दि अर्लियेस्ट सोशल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, लंदन 1928. ।

स्मिथ, वी0 ए0 : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऑक्सफोर्ड, 1911.

सिंह, केशव प्रसाद : प्राचीन भारत में साम्पत्तिक उत्तराधिकार और विभाजन सम्बन्धी कानून, अयोध्या, 1988. ।

सिंह, पारसनाथ : हर्षकालीन समाज, वाराणसी, 1979. ।

सेन वी0 सी0 : सम हिस्टारिकल आस्पेक्ट्स ऑफ द बंगाल इन्सक्रिप्शंस कलकत्ता, 1942. ।

सिन्हा, अतुल कुमार : प्राचीन भारतीय वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्यबोध इलाहाबाद, 1981. ।

संतराम, वी0 ए0 : अलबेरुनी का भारत, प्रयाग, 1928. ।

हण्डी, क्यू0 के0 के0 : यशस्तिलक चम्पू ऐण्ड इण्डियन कल्चर, शोलापुर, 1949. ।

हाजरा, आर0 सी0 : स्टडीज इन द उपपुराणाज, कलकत्ता, संस्कृत सिरीज बड़ौदा।

हापकिन्स, ई0 डब्ल्यू0 : म्यूचुअल रिलेशन्स ऑफ दि फॉर कास्ट्स इन मनु लीपजिंग, 1881. ।

जर्नल पोरियाडिकल्स एवं रिपोर्ट्स

अमेरिकन जर्नल ऑफ सोसिओलॉजी।
इकानामिक एण्ड पोलिटिकल बीकली।
इण्डियन इण्टिक्वेरी।
इण्डियन कल्चर।
इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू।
इतिहास।
इपीग्राफिया इण्डिका।
इस्लामिक कल्चर।
एनाल्स ऑफ द भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट।
एनुअल रिपोर्ट्स ऑफ द आक्यलिजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया।
कम्परेटिव स्टडीज इन सोसाइटी एण्ड हिस्ट्री।
जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री।
जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल।
जर्नल ऑफ द बिहार रिसर्च सोसाइटी।
जर्नल ऑफ द इकोनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ द ओरियन्ट।
जर्नल ऑफ द जी0 एन0 झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट।
जर्नल ऑफ द ईश्वरी प्रसाद रिसर्च इन्स्टीट्यूट।
जर्नल ऑफ द यू0 पी0 हिस्टारिकल सोसाइटी।
न्यू इण्डियन ऐण्टिक्वेरी।
भारतीय विद्या।
मैन इन इण्डिया।
यूनिवर्सिटी ऑफ इलाहाबाद स्टडीज पत्रिका।
सोशल वेलफेयर।
सोशल साइन्टिस्ट।
सोशल हेल्थ।
सोसाइटी एण्ड चेंज।

-: 0 :-